

# भारतीय इतिहास की भयंकर भूलें

पी. एन. ओक

भारतिकाारी अन्वेषण

# भारतीय इतिहास की भयंकर भूलें

(Some Blunders of Indian Historical Research  
का हिन्दी अनुवाद)

श्री पुरुषोत्तम नागेश ओक

एम० ए०, एल-एल० बी०

अनुवादक

श्री जगमोहनराव भट्ट

एम० ए० साहित्यरत्न

हिन्दी साहित्य सदन, नई दिल्ली-५

दूरभाष : 23553624



## अनुक्रमणिका

ऐतिहासिक अन्वेषण की प्रेरणा	...	६
१. भारतीय स्मारकों का निर्माण-श्रेय विदेशी मुस्लिमों को दिया गया	...	१८
२. अपकृष्ट अकबर को उत्कृष्ट मानते हैं	...	६८
३. मध्यकालीन तिथिवृत्तों में अनावश्यक विश्वास	...	१३१
४. स्थापत्य का भारतीय-जिहादी सिद्धान्त भ्रम-मात्र है	...	१५५
५. मुगल चित्रकला की भ्रान्ति	...	१७०
६. मध्यकालीन मुस्लिम-दरबारों में संगीतान्तरित की भ्रान्ति	...	१७६
७. मुगल उद्यान-कला की भ्रान्ति	...	१७८
८. विदेशियों की शासनकालावधि में स्वर्ण युगों की भ्रान्ति	...	१८२
९. सिकन्दर की पराजय जो बीर पोरस पर उसकी महान् विजय कहलाती है	...	१६५
१०. आदि-शंकराचार्यजी का काल १२६७ वर्ष कम अनुमानित	...	२११
११. भगवान् बुद्ध के काल में १३०० वर्षों की भूल	...	२२८
१२. भगवान् श्री राम और श्रीकृष्ण के युगों की प्राचीनता कम अनुमानित	...	२४६
१३. तथाकथित 'आर्य जाति'—संज्ञा भारी भूल करने वाले पश्चिमी इतिहासकारों की कल्पना सृष्टि है	...	२६६
१४. वेदों की प्राचीनता अत्यन्त कम आंकी गयी है	...	२७५
१५. 'अल्लाह' मूलरूप में हिन्दू-देवता और 'काबा' हिन्दू मन्दिर था	...	२८३

© प्रकाशकाधीन

मूल्य : 75.00

प्रकाशक : हिन्दी साहित्य सदन

2 बी.डी. चैम्बर्स, 10/54 देश बन्धु गुप्ता रोड,  
करोल बाग, नई दिल्ली-110005

email : indiabooks@rediffmail.com

फोन : 23553624

संस्करण : 2008

मुद्रक : संजीव ऑफसेट प्रिंटर्स, दिल्ली-51



१६. हम भूल गये कि भारतीय क्षत्रियों का शासन बाली से आल्फिन्सलुम तब तक कोरिया से काबा तक था ...	३००
१७. संस्कृत का विश्व-भाषा-रूप विस्मृत ...	३३३
१८. पैगम्बर मोहम्मद का हिन्दू-मूल भुला दिया गया ...	३४२

## आमुख

भारत पर विगत एक हजार वर्ष से अधिक समय तक विदेशियों के निरन्तर शासन ने भारतीय इतिहास-ग्रन्थों में प्रति पवित्र विचारों के रूप में अनेकानेक भयंकर धारणाओं को समाविष्ट कर दिया है। अनेक शताब्दियों तक सरकारी मान्यता तथा संरक्षण में पुष्ट होते रहने के कारण, समय व्यतीत होने के साथ-साथ, इन भ्रम-जनित धारणाओं की आधिकारिकता की मोहर लग चुकी है।

यदि इतिहास से हमारा अर्थ किसी देश के तथ्यात्मक एवं तिथिक्रमागत सही-सही भूतकालिक वर्णन से हो, तो हमें वर्तमान समय में प्रचलित भारतीय इतिहास को काल्पनिक 'अरेबियन नाइट्स' की श्रेणी में रखना होगा।

ऐसे इतिहास का तिरस्कार और पुनर्लेखन होना ही चाहिये। इस पुस्तक में मैंने भारतीय इतिहास-परिशोध की कुछ भयंकर भूलों की ओर इंगित किया है। जो भूलें यहाँ सूची में आ गयी हैं, केवल वे ही अन्तिम रूप में भूलें नहीं हैं। भारतीय और विश्व-इतिहास पर पुनः दृष्टि डालने एवं प्राचीन मान्यताओं का प्रभाव अपने ऊपर न होने देने वाले विद्वानों के लिए अन्वेषण का कितना विशाल क्षेत्र उनकी बाट जोह रहा है, केवल यह दिखलाने के लिए ये तो कुछ उदाहरण मात्र हैं।

मेरे, इससे पूर्व खोजपूर्ण प्रकाशन 'ताजमहल राजपूती महल भा' ने भारतीय इतिहास के चकाचौंध करने वाले और दूरगामी कुविचार का पहले ही भण्डा-फोड़ कर दिया है।

संक्रामक विष की भाँति भारतीय इतिहास-परिशोध की भयंकर भूलों ने अन्य क्षेत्रों में विष-प्रसार किया है। उदाहरण के लिए, वास्तुकला और सिविल इंजीनियरी के छात्रों को बताया जाता है कि वे विश्वास करें कि



भारत तथा पश्चिमी एशिया-स्थित मध्यकालीन स्मारक जिहादी वास्तुकला की वृष्टि है, उद्यमि जागामी पृष्ठों में स्पष्ट प्रदर्शित किया गया है कि तथ्य रूप में भारतीय जिहादी वास्तुकला का सिद्धान्त केवल एक भ्रम-मात्र है। समस्त मध्यकालीन स्मारक मुस्लिम-पूर्वकाल के राजपूती स्मारक हैं जिनका रचना-श्रेय जगत में मुस्लिम शासकों को दे दिया गया है। इसी प्रकार; पश्चिमी एशिया-स्थित स्मारकों के रूपांकनकार और निर्माता भी भारतीय वास्तुकला किशारद और शिल्पकार थे, क्योंकि इन लोगों को आक्रमणकारी लोग कलकार का भय दिखाकर भारतीय सीमाओं से दूर अपनी भूमि पर बसाने लगे थे।

इस तथाकथित भारतीय जिहादी वास्तुकला के सिद्धान्त के अनेक दुर्बल पक्षों में सभी मध्यकालीन स्मारकों में चरमसीमा तक हिन्दू लक्षणों का विद्यमान होना है। इसको नियुक्त किये गये हिन्दू कलाकारों की अभिरुचि का परिणाम कहकर स्पष्टीकरण दिया जाता है। इस तर्क में अनेक त्रुटियाँ हैं। सर्वप्रथम, उस मुस्लिम वर्णों में उनके स्मारकों के बनाने का श्रेय हिन्दू कारीगरों को भी नहीं दिया गया है। उदाहरण के लिए, ताजमहल के मामले में वे इनका रूपांकन-श्रेय किसी बिचित्र ईसा अफ़न्दी को देते हैं।

और वे किसी रूपांकन का श्रेय हिन्दू को दें भी, तो भी मध्यकालीन नृमानता एवं धर्मांधता के उन दिनों में कोई भी मुस्लिम इस बात को सहन नहीं कर सकता था कि हिन्दू कलाकार किसी भी मस्जिद या मकबरे में कारीगरी के लक्षणों को समाविष्ट कर दें। इस प्रकार यह तर्क भी निरर्थक हो जाता है।

अन्य हास्यास्पदक कथन यह है कि मुख्य वास्तु-कलाकार रूपांकन का स्थूल रूप रेखांकित कर दिया करता था और बीच की आवश्यकताएँ-लघु कारीगरों द्वारा उनकी अपनी-अपनी इच्छाओं, अभिरुचियों के अनुसार पूर्ण किये जाने के लिए छोड़ दिया करता था। थोड़ा-सा ही विचार करने पर इस तर्क की निरर्थकता स्पष्ट हो जाती है। जबतक कि सम्पूर्ण सुविचारित रूपांकन प्रारम्भ में ही प्रस्तुत न कर दिया जाए, जबतक जिस सामग्री की तथा दिग्दर्शन मात्रा की आवश्यकता हो, उसके लिए आदेश दिया ही नहीं जा सकता, वह कार्य असम्भव ही हो जाएगा।

यदि उतनी अपनी इच्छानुरूप रूपांकन करने की अनुमति सभी कारीगरों को दे दी जाती, तो वे सभी एक-दूसरे के विरुद्ध कार्य करेंगे और किसी भी परिनिरीक्षक के द्वारा उनका नियन्त्रण करना कठिन हो जाएगा, क्योंकि वे तो सुस्ताते रहते, निठले रहना चाहते, झिझकते फिरते और कार्य को इस आधार पर रोकते रहते कि हमें अपने-अपने कार्य को समय व अवसर मिलता ही नहीं। यह तर्क, कि 'मुस्लिम' स्मारकों पर हिन्दू नमूने इसलिए सुशोभित हैं कि कारीगरों को पूर्ण स्वतन्त्रता दे रखी थी, इस प्रकार सुस्पष्टनः बकवाद सिद्ध होती है।

पुरानी दिल्ली की स्थापना-सम्बन्धी भयंकर धोषणाएँ भी ऐसे ही बेह-इगियों के विशिष्ट उदाहरण हैं जो प्रचलित अपभ्रष्ट भारतीय इतिहास के अंश बन चुके हैं।

हमें बताया जाता है कि पुरानी दिल्ली की स्थापना १५वीं शताब्दी में बादशाह शाहजहाँ द्वारा हुई थी। यदि यह सत्य बात होती, तो गुणवाचक 'पुरानी' संज्ञा न्याय्य कैसे है? इस प्रकार तो यह भारत में ब्रिटिश-शासन से पूर्व नवीनतम दिल्ली ही सिद्ध होती है। इसीलिए, यह तो कालगणना की दृष्टि से लन्दन और न्यूयार्क की श्रेणी में आती है।

तैमूरलंग, जिसने मन् १३९० ई० के किसमस दिनों में दिल्ली पर आक्रमण किया था, स्पष्ट रूप में उल्लेख करता है कि उसने अपने पापकर्म (अर्थात् कल्ले आम) पुरानी दिल्ली में ही किये थे। वह यह भी लिखता है कि काफ़िर लोग अर्थात् उस हिन्दू लोग उसकी सैनिक टुकड़ियों पर प्रत्याक्रमण के लिए जामा मस्जिद में एकत्र हो गये। यह सिद्ध करता है कि पुरानी दिल्ली तथ्य रूप में प्राचीन अतिविशाल महानगरी दिल्ली का प्राचीनतम भाग है।

तैमूरलंग की साक्षी यह भी सिद्ध करती है कि पुरानी दिल्ली का प्रमुख मन्दिर तैमूरलंग के आक्रमण-काल में ही मस्जिद में बदल गया था। यही ऐसा नहीं हुआ तो हिन्दू लोग उस महाभवन में कभी एकत्र ही नहीं हुए होते। यह तथ्य कि वे लोग वहाँ स्वेच्छा से, अधिकारपूर्वक एकत्र हुए, सिद्ध करता है कि जामा मस्जिद नाम से पुकारा जाने वाला भवन जिसका निर्माण-



श्रेय गन्तवी से शाहजहाँ को दिया जाता है, एक हिन्दू मन्दिर ही था जिस समय तैमूरलंग के सैनिक लॉण दिल्ली में तहलका मचा रहे थे।

दिल्ली में एक पुराना किला अर्थात् प्राचीन दुर्ग नामक स्मारक है। यह मुस्लिम-पूर्व काल का तथा उससे भी पूर्व महाभारत-कालीन विश्वास किया जाता है। अतः यदि पुराना किला प्राचीनतम दुर्ग का चोतक है, तो पुरानी दिल्ली लगभग आधुनिक नगरी किस प्रकार हुई। प्रचलित ऐतिहासिक पुस्तकों में समाविष्ट और इनको भ्रष्ट करने वाली ऐसी ही असंख्य मुक्ति-हीन बातें हैं जिन पर पुनर्विचार करने की अत्यन्त आवश्यकता है।

लक्ष्यों को तोड़-परोड़कर और असंगतियों के अतिरिक्त भारतीय इतिहास को बुरी तरह से विकलांग कर दिया है। इसके महत्वपूर्ण अध्यायों में से अनेक अध्याय पूर्ण रूप में लुप्त हो गये हैं। हमारी अपनी स्मृति में ब्रिटिश साम्राज्य की ही भाँति भारतीय साम्राज्य भी पूर्व में जापान, दक्षिण में बाली, पश्चिम में कम-से-कम अरेबिया और उत्तर में बाल्टिक सागर तक, विश्व में दूर-दूर तक फैला हुआ था। इस विशाल साम्राज्य-प्रभुत्व के चिह्न इन पुस्तक के कुछ अन्तिम अध्यायों में दिए गये हैं।

जाना है कि प्रस्तुत प्रकाशन भारतीय इतिहास परिशोध में प्रविष्ट कुछ भ्रष्टकृतियों को सम्मुख लाने में सहायक सिद्ध होगा और अन्वेषण के लिए मार्ग-दर्शन कर सकेगा।

एन-१२८, गेटर कैंटास-१

नई दिल्ली-१४

पुरुषोत्तम ज्ञानेश शोक

## इतिहास में अन्वेषण करने की प्रेरणा मुझे कहाँ से मिली ?

हमारी शिक्षा-संस्थाओं में आज जिस प्रकार भारतीय इतिहास पढ़ाया जा रहा है, हमारे अनुसन्धान संगठनों में आज जिन भ्रमकारी धारणाओं पर इसे देखा जा रहा है, और आज जिस प्रकार इसको सरकारी और विश्वविद्यालयीय माध्यमों से विश्व के समक्ष प्रस्तुत किया जा रहा है, वह समस्त भयावह स्थिति मुझे अत्यन्त दुःख दे रही है।

भारतीय इतिहास में जिन विशाल सीमाओं तक अवधार्य और मन-घड़न्त विवरण गहराई तक पैठ चुके हैं, वह राष्ट्रीय घोर संकट के समान है।

जो अधिक दुःखदायी बात है, वह यह है कि प्रचलित ऐतिहासिक पुस्तकों में समाविष्ट इन तोड़मरोड़ों, भ्रष्ट वर्णनों और विसंगतियों के अतिरिक्त अनेक विलुप्त अध्याय भी हैं। इन विलुप्त अध्यायों का सम्बन्ध विशेष रूप में उस साम्राज्यशाली प्रभुत्व से है जो भारतीय क्षत्रियों को दक्षिण-पूर्व प्रशान्त महासागर में बाली द्वीप से उत्तर में बाल्टिक सागर, तथा कोरिया से अरेबिया और सम्भवतः, मैक्सिको तक प्राप्त था। कम-से-कम, उसी विशाल क्षेत्र में तो वे दिग्बिजयें (सभी दिशाओं को विजय करना) हुई थीं जो हम बहुधा भारतीय वाङ्मय में पाते हैं। हमारे (आधुनिक) इतिहास-ग्रन्थ उन पराक्रमों का कुछ भी उल्लेख नहीं करते।

भारतीय इतिहास-परिशोध कितने प्रमुख स्थलों पर तथ्यात्मक और तिथि-क्रमागत सत्य के मार्ग से भटक गया है उनकी कम-से-कम स्थूल रूप से कुछ अनुभूति तथा यह अनुभूति कि इसके कम-से-कम कुछ महत्वपूर्ण अध्याय तो विलुप्त हैं ही—दोनों ही हमारे विद्वानों, शिक्षण-संस्थानों, अनुसन्धान-संगठनों, विद्याधियों, शिक्षकों और जन-सामान्य के लिए अनिवार्य है।



भारतीय इतिहास-परिक्षोभ की कुछ भयंकर भूलें मुझे मिलीं, उनको प्रस्तुत करने का ही इस समय विचार है। किसी भी प्रकार समझिये, मैं क्यों इतनी भारी चुनौती, ऐसी भूलों की नहीं रखता हूँ। यहाँ जिन थोड़ी-सी भूलों का मैं अभी उल्लेख करना चाहूँगा, वे तो भारतीय इतिहास से सम्बद्ध सभी व्यक्तियों को चौकन्ता करने के लिए पर्याप्त उदाहरण मात्र हैं कि जो कुछ उनकी चौबीसी छप्पे, भारतीय इतिहास में सही-सही बताए जाने की संयत्ता की जाती है, वह भ्रांतियों के कारण विषाक्त है, और अपने विलुप्त अध्यायी के कारण आवश्यक सजीवन्त तत्त्वों से विहीन हो निष्प्राण है।

जब हम जिस-जगत् की पाठ्य-पुस्तकों में व्याकरण, वाक्य-विन्यास या विश्व-वस्तु सम्बन्धी थोड़ी त्रुटियों से उत्तेजित हो जाते हैं, तो हमें पढ़ाए जा रहे और समस्त विश्व की प्रस्तुत किये जा रहे त्रुटिपूर्ण तथा पंगु भारतीय इतिहास को देखकर तो हमें निश्चित रूप से ही आग-बबूला होना चाहिये।

इसलिए हमारे विषय का शीर्षक 'भारतीय इतिहास-परिक्षोभ की कुछ भयंकर भूलें' है, क्योंकि कम-से-कम कुछ उदाहरणों से यह परिलक्षित होगा कि उनका प्रभाव विश्व-इतिहास पर भी अवश्य होगा। भारतीय इतिहास के विनष्ट अध्यायी तथा दोगपण अंशों के पुनर्लेखन से अन्य क्षेत्रों तथा समस्त विश्व के इतिहास से भी उसी मात्रा में संशोधन करने अनिवार्य होंगे।

### भयंकर भूलों की खोज

इससे ऐसा कि अपने शिष्टकाल से ही मुझे ऐतिहासिक स्मारकों का अध्ययन करने में बड़ा मजा आता था। वर्षानुवर्ष व्यतीत होने पर, विशेष रूप से जब मैं दिल्ली, आगरा और फ़तहपुर सीकरी गया और जब मुझे बताया गया, किनाकि अन्य सभी लोगों को बताया जाता है कि लगभग सभी मध्य-कालीन स्मारक इस या उस मुल्तान के बनाये हुए हैं तो मेरे मस्तिष्क में प्रश्नों की ज़रूरती ही पैदा हुई।

मेरे साथ में वह शक कि इसका क्या कारण है कि पाण्डवों से लेकर पृथ्वीराज तक, कम-से-कम २००० वर्ष तक निरन्तर शासन करने वाले हिन्दुओं का अपना कहलाने वाला कोई भी स्मारक नहीं है! यदि उन्होंने कोई स्मारक नहीं बनाया था, तो वे, उनके राजसेवक और अन्य लोग रहते

कहाँ थे? यदि उस काल में, जैसाकि श्रेष्ठी मार-मारकर बर्णन किया जाता है, भारत में दूध-दही और मधु की नदियाँ बहा करती थीं, और प्रत्येक चिमनी में से मोने का धुआँ निकलता था, तो वह अपार धन संप्रहीत कहाँ होता था? और यदि रोम रोमनिवासियों के द्वारा बना है, लन्दन लन्दनवासियों और टोकियो जापानियों द्वारा, तो यह केवल भारत में ही कैसे हो गया कि दिल्ली, आगरा, फ़तहपुर सीकरी, इलाहाबाद, अहमदाबाद तथा मध्यकालीन स्मारकों से भरपूर अनेक अन्य नगरियाँ विदेशियों के अनेक प्रकारों; यथा अफ़ग़ान, तुर्क, ईरानी, मंगोल, अबोसीनियन, कज़क और उज़बेकों द्वारा तथा तथ्य रूप में तो भारतीयों के अतिरिक्त सभी लोगों के द्वारा बनायी-बसायी गयीं? और क्या ये भारतीय, जो निर्माण-कला में इस प्रकार गोबर-गणेश और नौसिखिये समझे गए, वही व्यक्ति नहीं हैं जिन्होंने मदुराई-मन्दिरों, रामेश्वर-सैतु, कोणार्क, अजन्ता, एलोरा तथा चट्टानों काटकर अनेक भव्य प्रासाद, आबू पर्वत पर मन्दिर, रणथम्भौर जैसे दुर्गों और आमेर तथा उदयपुर जैसे राजप्रासाद बनाए? और यदि भारत के महत्वपूर्ण सभी नगरों की स्थापना करने वाले और यहाँ के सभी प्रसिद्ध भव्य स्मारकों का निर्माण करने वाले उपर्युक्त विदेशी महानुभाव ही थे तो यह क्या बात है कि भारतीय वास्तुकला की हिन्दू शैली के लिए उन सभी में समान रुचि थी? और यदि भारतीय-संस्कृति से ही वे इतने सम्मोहित हो आकृष्ट हुए थे, तो इसका क्या कारण है कि वे हिन्दू-नाम से ही इतना अधिक बँट करत थे और अत्यन्त उत्तेजित हो बार-बार लूटना, हत्याएँ करना, व्यभिचार और विध्वंसादि धृष्टि कार्यों में लगे रहते थे? और यदि शताब्दियों तक वे विदेशी शासक और उनके सरदार अपने मकबरे और राजमहल हिन्दू शैली में बनाते रहे, तो क्या उनके सांस्कृतिक एवं धार्मिक अनुवर्ती—आज के मुस्लिम—कोई भी अपना मकबरा, मस्जिद या घर किसी हिन्दू चिह्न से युक्त बनाते हैं? और इसका क्या कारण है कि ये विदेशी लोग, जो विभिन्न राष्ट्रों से सम्बन्ध रखते थे, दास से लेकर शाहजादे तक के विभिन्न स्तरों के थे और विभिन्न जातियों के थे, स्मारक के पश्चात् स्मारक, नगरोपरान्त नगर और मकबरे व मस्जिद—सभी कुछ हिन्दू लक्षणों से युक्त बनाने में उसी उत्साह और एक-सी रुचि का प्रदर्शन करते



रहे ? इसका क्या कारण है कि बिना तदनुकूल राजप्रासादों के, उन लोगों ने केवल मकबरे और मस्जिदें ही बनवाए । यदि उन्होंने अपने पूर्वजों के लिए केवल मकबरे और मस्जिदें ही बनाए तो ये सभी विदेशी शासक व उनके सरदारों कहीं रहते रहे ? कंगेसे से शाहजहाँ तक सभी मुस्लिम घरों में निरन्तर बनने वाले बीचल घरेलू, उत्तराधिकार के पारस्परिक संघर्षों के सम्बन्ध में इसका क्या स्पष्टीकरण है कि पूर्वजों से लेकर अनुजों तक सभी ने अपने उन पूर्वजों के लिए मकबरे बनवाए जिनके रक्त के प्यासे वे सारी उमर रहे थे, और जिनको गुप्त भाव में मूलोत्पादन करने के लिए सदैव जागृत जातुर रहते थे ? और जब प्रत्येक मुस्लिम सम्राट की मृत्यु पर नारा राज्य ही अव्यवस्थित हो जाता था, और विद्रोह तथा पारस्परिक युद्ध प्रारम्भ हो जाया करते थे, तब राजप्रासादीय-स्तर के मकबरे बनाने के लिए उनके पास आवश्यक धन कहां से आता था ? उन भयानक दिनों में कोषागार का पूर्ण नियन्त्रण कौन करता था ? और क्या समस्त उपलब्ध धन की आवश्यकता सेना जहानें, बड़े-बड़े हरेमों की व्यवस्था करने और अपनी स्थिति को सुदृढ़ करने के लिए नहीं पड़ती थी ? इन अति भव्य मकबरों के निर्माण-कार्य का परि-निरीक्षण करने के लिए आवश्यक समय और शान्ति थी ही कहां ? अहमदनगर तथा बिज्जापुरादि के विपाकत वातावरण में तथा निरन्तरता के उन दिनों में वास्तुकला का ज्ञान उपलब्ध ही कहां था ? यह स्वीकार करते हुए कि युद्ध अथवा आक्रान्ता के हृदय में अपने पिता अथवा ससुर के लिए स्वाभाविक प्रेम होगा, क्या यह मानव-समोचिन्ता की दृष्टि से संगत है कि अपने पूर्वज के लिए उसकी मृत्युपरान्त भव्य मकबरे बनाए जाएं, और स्वयं के लिए, अपनी बीवियों, रखैलों और बच्चों के लिए एक भी नहीं ? आज इस बीसवीं शताब्दी में भी, जबकि कठिनायिता, छद्मनिष्ठता और निरंकुशता की दुधाराता में कुछ कमो-कमी हो गयी है, क्या कोई एक भी मुस्लिम या मुस्लिम-बर्ग है जो ऐसे मकबरे व मस्जिदें बनाए जो मन्दिर प्रतीत हों ? तथ्य रूप में, क्या उनमें से सम्भवतः भी अपने पूर्वजों के लिए कोई व्यवशील मकबरा बनाने के लिए तैयार होगा ? और इसका क्या कारण है कि दिल्ली, आगरा और फतहपुर सीकरी में मिलने वाले मध्यकालीन स्मारक आमेर, बीकानेर, जैसलमेर

तथा जोधपुर स्थित उन स्मारकों से बिल्कुल मिलते-जुलते हैं जो मुस्लिम-पूर्व काल के माने जाते हैं ? और यदि ये भव्य भवनोदय मुस्लिम आक्रमणों के समय भारत में नहीं थे, तो वे आक्रमणकारी युद्ध किस हेतु कर रहे थे, और भारतीय क्षत्रिय प्रतिरक्षा किसकी कर रहे थे ? यह एक और असंगति प्रस्तुत करती है—अर्थात् क्या भारतीय क्षत्रियों ने आक्रमणकारी सेनाओं से खुले में घोर युद्ध किया ? यदि ऐसा है तो हम कोट, कछवाहा, नगरकोट और उमरकोट जैसे नामों की व्याख्या कैसे करते हैं, क्योंकि 'कोट' तो दुर्गस्थ नगरी का शीर्षक है । हमें निश्चित रूप से ज्ञात है कि प्राचीन काल में निधन की कुटिया से लेकर राजाओं के राजप्रासादों तक, सभी भवनों में दाँतेदार प्राचीरों से परिवेष्टित दीवारें हुआ करती थीं, जिनमें बड़े-बड़े प्राण एवं खुले पथक्-पथक् भाग हुआ करते थे ।

इस प्रकार के हजारों विचारों ने मेरे मानस में हलचल मचा दी और मुझे अशान्त कर दिया । वे सब मेरे सम्मुख एक पहेली बनकर खड़े हो गये—असंगतियों और परस्पर विरोधी बातों का एक पिढारा सम्मुख था ।

इन प्रश्नों ने मुझे गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर विवश कर दिया ।

तब हो, मैं विश्व के इतिहास में इसके समान उदाहरण ढूँढ़ने लग । मैं खोजने लगा कि क्या किसी अन्य देश में भी ऐसे स्मारक हैं जिनको उनके संपूत देशवासियों ने न बनाकर, उस देश को जीतने वाले बाहरी व्यक्तियों ने बनाया हो ? मेरे मानस में रोम नगरी का चित्र आ गया । रोम का भी उन्नत प्राचीन सभ्यता थी, और उसमें अभी भी प्राचीन भव्य स्मारकादि हैं । मैं स्वयं सोच में पड़ गया कि क्या यह ठीक होगा कि मैं किसी रोमवासी के समक्ष यह विचार प्रस्तुत करूँ कि वे समस्त सुन्दर तथा भव्य भवन उसके पूर्वजों द्वारा न बनाए जाकर उन विदेशी लोगों द्वारा बनाए गये थे जिन्होंने नग्य-समय पर रोम को जीता था और अपने अधीन किया था ? यह बिल्कुल बेहूदा बात होती ।

मैं विचारने लगा, कि तब क्या यह सम्भव है कि आज जो स्मारक जिहादियों द्वारा निर्मित भारतीय शैली के विश्वास किये जाते हैं, वे तब हमारे प्राचीन और मध्यकालीन हिन्दू, राजपूत और क्षत्रियों द्वारा बनाए गये मन्दिर, दुर्ग और राजमहल हैं जो जिहादी आक्रान्ताओं ने जीता लि ।



वे, दिनमें वे रहे थे और जिनको उन्होंने बाद में मकबरों और मस्जिदों में दफन किया था। केवल मात्र कल्पना होने पर भी वह विस्मयकारी विचार था। किन्तु यह अन्वेषणीय अवश्य था। आज से लगभग १२०० वर्ष पूर्व प्रारम्भ होले जाने, भारत पर मुस्लिम आक्रमणों से पूर्व यदि वे स्मारक यहाँ पर थे ही नहीं, तो हम इस बेहूदा निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मुहम्मद कासिम, गडनी और गोरी, बाबर तथा हुमायूँ ने केवल गुफा, देतीले तथा खुली हवाओं से भरपूर मैदानों को अधिकार में लाने के लिए विकट युद्ध लड़े थे।

एक रहस्यमय गुफा को सुलझाने के लिए मेरे सतत प्रयत्नों की अवधि में मुझे एक छोटी-सी बटना का स्मरण हो आया, जो मैं कुछ समय पूर्व ही पढ़ चुका था। कहा जाता है कि ग्रेट ब्रिटेन के राजा जेम्स ने एक बार अपने दरबारियों से पूछा कि क्या कारण है कि लंबालव भरे हुए कटोरे में से पानी बाहर नहीं गिरता, यदि मैं उसमें एक मछली डाल दूँ तो भी नहीं? प्रश्न को ठीक-ठीक मानते हुए, हक्के-बक्के दरबारियों ने विभिन्न उत्तर प्रस्तुत किये, जिनमें सर्वाधिक युक्तिहीन यह उत्तर मालूम पड़ा कि जल को छूते ही मछली इतना पानी पी लेती है कि उसके लिए कटोरे में पर्याप्त स्थान बन जाता है स्पष्ट है कि यह उत्तर भी बेहूदा ही है। फिर, क्या मैं कहा गया है कि जेम्स सुस्काराया और बोला कि तुम तो मन्दबुद्धि ही ठहरे क्योंकि जल स्वयं में ही गमल था, और पानी तो बाहर छलकता ही था। भारतीय नव्यकालीन स्मारकों के सम्बन्ध में भी यही बात चरितार्थ होती है। भारतीय नव्यकालीन स्मारकों के प्रति दृष्टिपात करने, उनका अध्ययन अथवा अन्वेषण करने में मूल धारणा यह रखना कि ये सब जिहादियों द्वारा निर्मित हैं, यही तो सत्ता है। यही तो कारण है कि इस धारणावश असंख्य असंगतियों और परस्पर विरोधी बातों, जैसी मैं पहिले ही ऊपर बता चुका हूँ, सम्मुख प्रस्तुत हो जाती हैं।

अपनी जोड़ की दारी रखने में उस लघु-कथा से हृदय में साहस बटोर, मैं उस समय स्तब्ध रह गया जब मुझे मालूम हुआ कि स्मारकों के सम्बन्ध में अन्वेषणीय अथवा परवर्ती तिथि-वृत्तों में भी अत्यन्त अनवस्थित तथा आंगिक सन्दर्भ है। परस्पर-विरोधी बातों तथा असंगतियों का पूर्ण समावेश है।

इसके अतिरिक्त, किसी कागज या अभिलेख का ऐसा एक भी टुकड़ा उपलब्ध नहीं है जो यह प्रदर्शित करता हो कि एक भी मकबरा, किला या मस्जिद बनाने का आदेश किसी जिहादी सरदार या शासक ने दिया हो। भूखण्ड के अधिग्रहण अथवा भवन प्रारम्भ करने के सम्बन्ध में कोई भी क्वांकन, चित्रांकन, कोई पत्र-व्यवहार या आदेश, भेजी गयी सामग्री के लिए देयक और अपनी सेवाओं के बदले में पावतियाँ कहीं भी उपलब्ध नहीं हैं।

यथार्थतः, इतिहासवेत्ताओं और अन्वेषणकर्ताओं को बुरी तरह जोसा दिया गया है। उनके लिखे सभी इतिहास और ग्रन्थ केवल सुनी-सुनायी बातों पर ही आधारित हैं। चूँकि कोई भी भवन स्पष्ट रूप में शताब्दियों से मकबरे या मस्जिद के रूप में उपयोग में आता रहा है, इसलिए उन लोगों ने धारणा बना ली कि यह भवन मूल रूप में ही इस प्रकार के बनाने के लिए आज्ञापित था। यही तो वह भयंकर भूल है जिसने हमारे सभी पुरातत्त्वीय अभिलेखों, ऐतिहासिक-स्थलों के नाम-पट्टों, पाठशालाओं और विद्यालयों में प्रदुक्त होने वाली ऐतिहासिक पाठ्य-पुस्तकों तथा अन्वेषण-संस्थानों में आत्मतुष्टि और सहज रूप में ही सन्दर्भ के लिए आधार बनायी गयी विद्वत्तापूर्ण पुस्तकों को विकृत कर दिया है।

यह गम्भीर भूल राष्ट्र को बहुत भहंगी पड़ी है। भारत पर एक हजार वर्ष से अधिक समय तक विदेशियों का शासन रहने के कारण इन भयंकर भूल-भरी धारणाओं, और विदेशी चाटुकार दरबारियों अथवा अपनी यश-गाथाओं का वर्णन करते हुए स्वयं शासकों द्वारा लिखे गये स्मृति ग्रन्थों और तिथि-वृत्तों ने शनैः-शनैः समय व्यतीत होने के साथ-साथ आधिकारिकता और शुचिता की छाप ग्रहण कर ली है। उस घोर असत्यता का भारी बोझ अब इतना अधिक, सघन व गहन हो चुका है कि इस भयंकर भूल को अनुभव करने वाले भी इसको निर्मूल करने में नैराश्य से दुःखी हो जाते हैं। अतः वे स्वयं को इसी में सन्तुष्ट कर लेते हैं कि अब तो जो पढ़ाया जा रहा है, ठीक ही है, चलते रहने दो। सब ही कर लेना चाहिए। वे सोचते हैं कि अब तो इस बात के विरुद्ध शोर-जराबे का समय निकल चुका है। इस प्रकार हम एक दूषित चक्र में फँस जाते हैं। हम अपने विद्यार्थियों को झूठा इतिहास पढ़ाते हैं जो इसी प्रकार लिखा गया है, और परस्पर विरोधी तथा बेहूदा



बातें होते हुए भी इस इतिहास की अवहेलना करने का साहस इतिहास का कोश की विद्वान् तर्हों करता क्योंकि यही तो वह इतिहास है जो उनको बसाया गया है।

ऐतिहासिक स्थलों की स्वयं यात्रा कर तथा इतिहास-ग्रन्थों पर दृष्टि-पात करते हुए अपने अन्वेषण के द्वारा मैं ऐसा साक्ष्य एकत्र करने में सफल हो गया हूँ जो सिद्ध करता है कि कश्मीर में निजात और बालिमार से लेकर बीजापुर की 'दुरधावी दीर्घा' तक, भारत के प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण मध्य-कालीन स्मारक इस्लाम-पूर्व-काल की राजपूती संरचनाएँ हैं। इसीसे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सभी वर्तमान मध्य-कालीन सड़कें, पुल, नहरें, भवन, सराय-धर्मशालाएँ, मकबरे, मस्जिद, देवालय और किले मुस्लिम आक्रान्ताओं द्वारा तो केवल अधिग्रहीत और उपयोग में लाये गए थे, और उनके द्वारा बनाए तो कभी नहीं गये।

मैं इतिहासवेत्ताओं को इस बात से सावधान करना चाहता हूँ कि जब एक गतन्त्र रूप से सिद्ध करने वाला और स्पष्ट अन्य प्रमाण न मिल जाय, तब तक स्मारकों पर लगे, खुदे हुए विवरणों को स्मारकों के मूल से सम्बद्ध मानने का प्रयत्न न करें। विन्सेट स्मिथ ने अपनी पुस्तक 'अकबर—महान् दूत' में ठीक ही लिखा है कि अधिग्रहीत स्मारकों पर उसकी इच्छानुसार खुदाई करने के लिए अकबर ने अपने पास एक पूरी फौज ही रखी हुई थी। फतहपुर सीकरी के स्मारकों पर उत्कीर्ण सामग्री इसी प्रकार की खुदाई है। अतः हमें हम जानते हैं कि घुमक्कड़ लोग जिस भी स्मारक के दर्शनार्थ जाते हैं वही-वही अपने नाम दीवारों पर लिख आते हैं। यह मानव का सर्व-साधारण निम्न-वृत्ति है। इसी प्रकार चुराये हुए बर्तनों पर अपना अधिकार प्रमाणित करने के लिए या केवल आत्मतुष्टि के लिए नाम खुदवा लेने से भी हम लोग चिन्तित नहीं हैं। यह बात अनेक मामलों में भारत पर विजय प्राप्त करने वाले विदेशी विजयताओं ने की है। अनेक बार निर्धन विजेता ने पूर्वकालिक स्मारक को अपनी दृष्टि के अनुसार ही लिखवाने-खुदवाने के लिए पाटी के

सन् १८८२ में प्रकाशित होने वाले इस तथे संस्करण में लगभग ३० अधिक विवरण दिया गया है।

रूप में ही प्रयुक्त किया है। इस प्रकार के मामलों में परवर्ती इतिहासकारों ने पूर्वकालिक स्मारकों और परवर्ती उत्कीर्ण सामग्री को अन्योन्य आश्रित तथा सम्बन्धित दिखाकर भावी पीढ़ी को यह विश्वास दिलाकर बख्शष्ट किया है कि यह तो उत्कीर्णकर्ता ही था जिसने इस स्मारक को बनवाया।

इस प्रकार की निराधार विश्वासोन्धता ने ही इतिहासवेत्ताओं की दृष्टि से यह तथ्य ओझल कर दिया है कि ग्वालियर स्थित मोहम्मद शौस का तथा-कथित मकबरा, फतहपुर सीकरी स्थित सलीम चिस्ती और दिल्ली में हजरत निजामुद्दीन की दरगाहें जो अत्यन्त परिश्रम से बनाए हुए मन्दिर प्रतीत होते हैं, वास्तव में मन्दिर ही हैं। यही तो वह प्रवृत्ति है जिसने इतिहास-कारों को विश्वास दिला दिया है कि मुस्लिम आक्रमणकारी इतने बहुविध निर्माता थे कि उन लोगों ने न केवल घृण्य-शासकों के लिए ही, अपितु सफ़दरजंग जैसे सरदारों एवं भिक्षु, जमादार, कुम्हारों, धार्यों और हिजड़ों के भी राजप्रासादीय स्तर के भव्य स्मारक बनवाए।

—पुरुषोत्तम नागेश श्रोक



भयंकर भूल : कर्मांक—१

## भारतीय स्मारकों का निर्माण-श्रेय विदेशी मुस्लिमों को दिया गया

भारतीय इतिहास-परिज्ञांध में जिस भयंकर भूल का मैंने सर्वप्रथम चन्दाफोड़ किया है, वह माध्यकालीन स्मारकों के मूल के सम्बन्ध में है।

अनुसू-अनुसू स्मारकों का एक-एक कर अध्ययन करने के पूर्व हम अधिकांश व्यक्तिगणों ने कहना चाहते हैं कि हम ऐसे स्मारकों की एक लम्बी सूची प्रस्तुत कर सकते हैं जिनको इतिहासवेत्ताओं ने स्वीकार कर लिया है कि यद्यपि आज के छद्मरूप में मुस्लिम स्मारक द्रष्टव्य हैं तथापि मूल-रूप में वे पूर्वकालिक हिन्दू-भवन ही हैं। यह प्रथम-दर्शनाधारित विषय उनका विद्वत्तापूर्ण ध्यान अन्य सभी माध्यकालीन स्मारकों के सम्बन्ध में हमारे चिन्तास की ओर खींच सकता है।

पुना-स्थित पूर्वकालिक पुण्येश्वर और नारायणेश्वर मन्दिर आज शेख सल्ला दग्गाह—छोटी और बड़ी के नाम से पुकारे जाते हैं। महामहोपाध्याय रानी कामन पण्डित ने, जो स्वयं सुप्रसिद्ध इतिहासकार हैं तथा पुना विश्व-विद्यालय के प्रत्यूष उपकुलपति हैं, पुना में दिसम्बर '६३ में हुए भारतीय इतिहास परिषद् के रक्त जयन्ती अधिवेशन के अवसर पर स्वागत-समिति के अध्यक्षीय भाषण में इस तथ्य का उल्लेख किया था।

मध्यकाल में छार नामक स्थान पर तथाकथित कमालमौला मस्जिद की अब निश्चित कुछ वर्षों में, विमनस हो, पुरातन 'सरस्वती-कण्ठाभरण' प्रकाशित किया जायेगा है। इस भण्डार में प्रस्तर-कलकों पर उत्कीर्ण कर्मांक स्मारक वर्णित रखे जाते हैं। यह तथ्य तब प्रकट हुआ जब छद्मरूप

भारतीय इतिहास की भयंकर भूलें

१६

में ऊपर किया हुआ पलस्तर, रहस्य का भण्डाफोड़ करता हुआ अचानक एक दिन नीचे गिर गया।

गुजरात में सिद्धपुर नामक स्थान पर सुप्रसिद्ध लिंग-महालय अर्थात् शिवमन्दिर अभी भी मस्जिद के रूप में उपयोग में आ रहा है।

वाराणसी में काशी विश्वनाथ मन्दिर अभी मस्जिद के रूप में उपयोग में आ रहा है।

सुप्रसिद्ध सोमनाथ मन्दिर भी, ब्रिटिश शासन से मुक्ति-पूर्व, भारत में मस्जिद ही समझा जाता था और तथ्यरूप में मस्जिद के रूप में ही व्यवहार में आ रहा था।

देश-विभाजन के दंगों के दिनों में ही तो यह मालूम पड़ा था कि पुरानी दिल्ली के दरीवा-कला नामक स्थान पर एक तथाकथित मस्जिद के तलघर में हिन्दू-देवमूर्तियों का विपुल भण्डार दबा पड़ा है।

अजमेर-स्थित 'अढ़ाई-दिन का झोपड़ा' अब सर्व-सम्मत रूप में विश्व-राज विशालदेव के शिक्षण-स्थल का अंश स्वीकार कर लिया गया है।

दिल्ली-स्थित तथाकथित कुतुबमीनार अब व्यापक रूप में पूर्वकाल का हिन्दू-स्तम्भ स्वीकार किया जाता है। कहा जाता है कि मुस्लिम लीग के जनक और अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के संस्थापक सर सैयद अहमद खान ने स्वीकार किया था कि, "कुतुबमीनार और पार्श्वस्थित मन्दिर का निर्माण-श्रेय हिन्दूकाल को देने वाली वर्तमान परम्परा ठीक मालूम देती है।"

ये तो केवल मात्र कुछ उदाहरण ही हैं, किन्तु यदि समस्त भारत में विद्यमान उन स्मारकों की एक वृहद् सूची बनाई जाय जो आज भी सर्व-मान्य रूप में हिन्दू-स्मारक ही हैं चाहे वे छद्मरूप में मुस्लिम प्रतीत होते हैं, तो मैं निश्चय से कह सकता हूँ कि इनकी संख्या हजारों तक पहुँच जायेगी।

इन उदाहरणों ने मेरे सन्देशों को बल प्रदान किया, और मैंने मुस्लिमों से सम्बद्ध अन्य स्मारकों का सूक्ष्मता से तथ्य-निरूपण करना प्रारम्भ कर दिया। और आश्चर्य की बात तो यह है कि मुझे जात हो गया कि किसी भी मुक्त मानस को उन स्मारकों के हिन्दू-मूलक सिद्ध करने के लिए वे स्मारक स्वयं ही पर्याप्त साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं। प्रथम-दर्शनाधारित मामला



बना चुकने के दृष्टांत आइये हम सारे भारत के कुछ प्रमुख सुप्रसिद्ध स्मारकों का विवेचन इस दृष्टि से करें कि उनके हिन्दू-मूल होने में और उनकी मुस्लिम-रचनाएँ समझने में सुस्पष्ट असंगतियों के हमको क्या प्रमाण मिलते हैं।

आइये, हम सर्वप्रथम कश्मीर पर दृष्टि डालें। केवल कुछ शताब्दी पूर्व ही कश्मीर-उपत्यका संस्कृत-मन्त्रों से गुंजरित हुआ करती थी। धूलि-धूसरित हिन्दू-भक्तों के ध्वंसावशेष अभी भी कश्मीर में मार्तण्ड तथा अन्य स्थानों पर देखे जा सकते हैं। कश्मीर की राजधानी का नाम 'धीनगर' अभी भी बिल्कुल संस्कृत है। धाटी में प्रवाहित होने वाली नदी का नाम, 'जेहलम', भी पानी अर्ध-शोक संस्कृत शब्द 'जलम्' से व्युत्पन्न है। धीनगर की एक पहाड़ी पर स्थित महान् संस्कृत दार्शनिक शंकराचार्यजी का मन्दिर एक सुप्रसिद्ध भू-चिह्न है।

### वेरिनाग

धीनगर पहुँचने से लगभग २० मील पहिले एक विषयगमन पर मोटर चालने में १०-१२ मील पर हम वेरिनाग जा पहुँचते हैं। यहीं पर जेहलम नदी का उद्गम है, जो मैदानी और समतल भूमि के धरातल से बिल्कुल स्पष्ट शीतलरूप करने के रूप में फूटती है। 'जल-सर्प' के चोटक 'वारिनाग' संस्कृत-शब्द का कुछ अपभ्रंस-रूप ही तो वेरिनाग है। नागपूजा के लिए हिन्दू लोग विख्यात हैं। लोकप्रिय हिन्दू जनश्रुति के अनुसार हमारी मातृभूमि का सबल दृष्टीमाता का अवलम्ब ही जेयनाग है। परम्परा के अनुरूप ही वेरिनाग का एक मन्दिर समीपस्थ वृक्ष के नीचे झुरमुट में अभी भी बना हुआ है। नदी-निर्गम एक लघु बर्तन जलकुण्ड में समाविष्ट है। जलकुण्ड के चहुँ ओर एक ८ से १० फीट ऊँची स्तम्भपीठ है जिसमें मंहराबदार तोरण है। इन नवम शताब्दी के मध्य में प्राचीन प्रस्तर की देव-प्रतिमाएँ हैं जो सिर पर पगड़ी धारण करने वाले और अपने तलवाट पर सुगन्धित चन्दन का लेप करने वाले होकर दृष्टिगोचर अभी भी पूजी जाती हैं। चारों ओर, पास से ही, विस्तृत स्तम्भपीठ के अवशेष देखे जा सकते हैं जो इस बात के स्पष्ट रूप में द्योतक हैं कि यहाँ पर निर्मित कोई भवन अवश्य ही गिरा दिया गया

है। किसी भी निष्पक्ष प्रेक्षक को यह विश्वास दिलाने के लिए ये ध्वंसावशेष पर्याप्त हैं कि इसी स्थल पर सुगोभित प्राचीन वारिनाग-मन्दिर मुस्लिम विजेताओं द्वारा नष्ट कर दिया गया था। यदि इस क्षेत्र की खुदाई की जाय, तो निश्चित है कि और भी देव-प्रतिमाएँ तथा अन्य साक्ष्य उपलब्ध होंगे। इस अत्यन्त प्रबल प्रमाण की विद्यमानता के होते हुए भी तुलनात्मक रूप में नवीन, लाल पत्थर के एक फलक को वहाँ लगा दिया गया है जो आधुनिक उर्दू भाषा में घोषणा कर रहा है कि इस निर्जर को अपने अंचल में समा लेने वाला निर्माण-कार्य अकबर या जहाँगीर की प्रेरणा पर किया गया था।

यह दावा परि-परीक्षण पर सही सिद्ध नहीं हो सकता। जैसा प्राचीन निर्माण-कार्य यह है, उससे हिन्दुस्तान के किसी शक्तिशाली सम्राट् को तो क्या, किसी साधारण गृहस्थ को भी कोई यश नहीं मिलेगा! नदियों के स्रोतों को जल-कुण्डों को बाँधकर-रखना हिन्दुओं के लिए तो पुण्य का कार्य निस्सन्देहात्मक रूप में है, तथापि यह मुस्लिम परम्परा का अंग कभी नहीं रहा। यदि इसका निर्माता कोई मुस्लिम बादशाह सचमुच ही होता, तो यह स्थल मस्जिद होता, न कि हिन्दू-देवताओं और हिन्दू-पण्डितों के परस्पर भेट करने का आश्रय-स्थल। प्राचीन हिन्दू-देव-प्रतिमाएँ और वारिनाग का पुनरुद्धारित मन्दिर कभी वहाँ अस्तित्व में आ ही नहीं सकते थे। और भी, वारिनाग का नाम तो न जाने कब का गर्जनकारी अरबी भाषा में बदल दिया गया होता। ये समस्त विचार प्रदर्शित करते हैं कि इस स्थान पर किसी भी प्रकार का निर्माण-कार्य करने के स्थान पर अकबर और जहाँगीर ने तो यहाँ स्थित प्राचीन वारिनाग मन्दिर ध्वस्त किया जिसकी मूक साक्षी विद्यमान स्तम्भपीठ अभी भी दे रही है।

### ध्वंसकर्ता, न कि निर्माता

निसर्गतः यह एक और आनुषंगिक सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है। सिद्धान्त यह है कि जब भी कभी, सभी साक्ष्यों से हिन्दू-मूलक प्रतीत होने वाले किसी भी स्मारक के साथ मुस्लिम शासक का नाम जुड़ा हो, तो उस शासक को उस स्मारक का निर्माता समझने के स्थान पर उसका विजेता और ध्वंसकर्ता ही समझा जाना चाहिये।



### लिखित बनाम तथ्यात्मक साक्ष्य

हमारा अस्तिष्क एक बात के बारे में भी स्पष्ट होना चाहिये। मैं जिस प्रकार के साक्ष्य प्रस्तुत कर रहा हूँ, हठी इतिहासकार उसका तिरस्कार यह कहकर करना चाहेंगे कि मैं तो केवल कपोल-कल्पनाएँ और तर्क-वितर्क कर रहा हूँ। वे तो तथ्यांकित लिखित साक्ष्य को लिये कोलाहल मचाते रहते हैं। मैं उनमें कहना चाहता हूँ कि उनको स्वयं पता नहीं है कि वे क्या कह रहे हैं। मैं उनमें कहना चाहता हूँ कि उनको स्वयं पता नहीं है कि उन्होंने विविध बात कह रहे हैं। प्रथम तो वे स्वयं इस बात के अपराधी हैं कि उन्होंने केवल सुनी-सुनायी बातों के आधार पर ही, बिना किसी लिखित प्रमाण, दश अम-भुगतान पत्रक, मुद्रित-लेख और दैनंदिन-व्यय के लेखाओं के जमाव में भी विभिन्न मध्यकालीन स्मारकों का निर्माण-यश विभिन्न मुस्लिम सुलतानों और बादशाहों को दे दिया है। कई बार उनको मुस्लिम मानकों के स्मृति-ग्रन्थों तथा मध्यकालीन मुस्लिम लेखकों के तिथिक्रम-वृत्तों में घुंत्ता में समाविष्ट अंशों की नगण्य सहायता भी मिली है। ऐसे मुस्लिम लेखक बहूधा बादशाह द्वारा ही नियुक्त किये जाते थे। जिस प्रकार मुझे मालूम है उसी प्रकार हमारे समकालीन इतिहासवेत्ताओं को भी भली प्रकार ज्ञात है कि इन स्मृति-ग्रन्थों और तिथि-वृत्तों के अनेक मूल पाठ उपलब्ध हैं जो परस्पर विरोधी हैं, और उनमें भी किसी-किसी स्मारक का मानकी-सा सन्दर्भ-मात्र दिया गया है। इतिहासवेत्ताओं को यह भी मालूम है कि वे विविध और स्मृतिघन्य कपोल-कल्पनाओं, अर्ध-मृत्यु, घोर वशीकृत, दिव्य स्वप्नों और पाखण्डपूर्ण चापलूसी से भरे दावों के कारण भ्रमरत हैं।

आधुनिक जीवन में जब हमारे सम्मुख संदिग्ध लिखित प्रमाण और उनके विरोधी तथ्यात्मक साक्ष्य की समस्या उपस्थित होती है, तब सदैव हमें यह बात का ही सहत्व होता है। मार्चनिक स्थान पर पड़े हुए एक मृतक-विषय का उदाहरण लो। जब के साथ ही एक कागज पर उद्धृत वाक्य में स्पष्ट मालूम होता है कि मृत व्यक्ति ने आत्महत्या की है। यह कागज एक प्रकार से लिखित प्रमाण ही है। किन्तु क्या हमारे 'इतिहासवेत्ता' इसी पर निर्भर रहें और भ्रष्ट के कारण का पता लगाना अस्वीकार कर देंगे, चाहें उस विषय की पीठ में छुरा ही भोंक रखना हो? इस प्रकार के मामले में

में ऐसा तथ्यांकित लिखित प्रमाण निष्कृष्ट वस्तु समझकर फेंक दिया जायगा, और उस मृत्यु की पड़ताल हत्या का-मामला समझकर ही की जायगी। यही सिद्धान्त मध्यकालीन स्मारकों पर भी लागू होता है, जो विद्वान् ही मृतक विषय को भाँति पढ़े हैं और जिनके पूर्व-वृत्त संदिग्ध हैं। अतः परम्परा से बंधे हुए इतिहासवेत्ताओं को तथ्यांकित लिखित प्रमाण की अन्धश्रद्धा का सिद्धान्त नहीं अपनाना चाहिये। और जिस प्रकार का साक्ष्य मैं दे रहा हूँ उससे उत्तेजित हो, स्पष्ट न होना चाहिये। उपर्युक्त स्पष्टीकरण उनको विश्वास दिला सकता है कि मेरे द्वारा दिया गया साक्ष्य किसी भी न्यायालय में निर्णायक निष्कर्ष के लिए उन लोगों द्वारा दिये गये निष्कृष्ट और मनगढ़न्त हर्के उल्लेखों के मुकाबले में सबल सिद्ध होगा। उन लोगों द्वारा दिये गये तर्क पिछली सारी शताब्दियों से चले आने पर भी निस्सार सिद्ध हुए हैं।

### निशात और शालिमार

मेरे सिद्धान्त के लिए पोषक कुछ मूल विचारों की मीमांसा कर चुकने के पश्चात् मैं अब फिर कश्मीर के कुछ अन्य प्रमुख स्मारकों का वर्णन करूँगा। कश्मीर में निशात और शालिमार नाम से पुकारे जाने वाले दो मनोरम प्रकृति दृश्य-निर्माण उद्यान हैं। इतिहास ने भूल से उनका निर्माण-श्रेय मुसलों को दिया है। निशात और शालिमार, (शालिमार्ग का अत्यल्प अपभ्रंश) दोनों ही, संस्कृत शब्द हैं। निशात का अर्थ है 'पूर्ण सुव्यवस्थित'। इस प्रकार, यह केवल उद्यानों के लिए ही व्यवहार में लाया जा सकता है। यह कश्मीर में प्रचलित विद्यमान हिन्दू-शीर्षनाम भी है जो बहु-प्रतिभाशील एवं सुसम्पन्न परिवार का द्योतक है। शालिमार्ग का अर्थ "शाल-(धान) क्षेत्र में से अथवा ऊँचे-ऊँचे शालवृक्षों के मध्य से निकाला हुआ पर्वतीय मार्ग है।"

उद्यानों में सभी स्थानों पर निष्पक्षतापूर्वक स्तम्भपीठ का नमूना देखा जा सकता है जो इस बात का आभास देता है कि उद्यान किले-बन्दी में थे और ध्वस्त राजप्रासादों के अंश थे। उनके प्रवेशद्वार, प्राचीरों और कुछ फलकों पर दुर्ग की दीवारों के कुछ भाग अभी भी उभड़े हुए वहाँ विद्यमान











घुरीय-मार्ग—चाँदनी चौक मार्ग जो लाल-किले की उस भवन से जोड़ता है जो आज फ़तहपुरी मस्जिद कहलाता है किन्तु जो दिल्ली के हिन्दू-शासकों के कुल-देवता का मन्दिर था—के चारों ओर बसी है। इस प्रकार, शाहजहाँ से ४०० वर्ष पूर्व भी, लाल-किले और अपने प्रमुख बाजार चाँदनी चौक सहित पुरानी दिल्ली निश्चित रूप में ही अस्तित्व में थी।

किले के पिछले भाग में प्रवाहित यमुना-तट राजघाट पुकारा जाता है। यह संस्कृत शब्द है। यह अभी तक प्रचलित न रहता यदि राजाओं की अनेक पीढ़ियों ने शाहजहाँ और उसके अनुवर्ती मुस्लिमों से पूर्व लाल-किले में आवास न रखा होता। मुगलवंश के पाँचवें बादशाह शाहजहाँ के पश्चात् किसी भी राजा ने लाल-किले से देश में शासन नहीं किया। यदि शाहजहाँ ने किला बनाया होता, तो पिछली ओर यमुना का तट राजघाट न कहलाकर बादशाह घाट के नाम से पुकारा गया होता।

किले के एक द्वार पर बाहर की ओर एक हाथी की मूर्ति चित्रित है। इस्लाम किसी भी प्रकार का मूर्तिकरण कठोरतापूर्वक मना करता है, जबकि राजपूत सम्राट राजों के प्रति अपने प्रेम के लिए मुबिख्यात हैं।

किले की मेहराबों के दोनों ओर प्रस्तर-पुष्पक लक्षण हैं जो सभी मध्य-कालीन हिन्दू भवनों पर दृष्टव्य हैं।

प्रवहमान जल-प्रवाहिकाएँ, जिनमें से यमुना का जल सम्पूर्ण किले में कलकल-निनाद करता रहता था, फिर राजपूत-निर्माण की पुष्टि करते हैं क्योंकि गंगानाली परम्परा वाले मुस्लिमों ने प्रवहमान जल-प्रवाहिकाओं की कभी कल्पना भी न की होगी।

आवक-बादो दगंक-मण्डप एवं दीवाने-ख़ास में केशर-कुण्ड फिर हिन्दू लक्ष्यवर्ती है। राजपूत क्षत्रिय शासक केशर-जल में स्नान करते थे। साथ के कमरे के पार्श्व पर हिन्दुओं में पूज्य कमल पुष्प बना है।

दीवाने-ख़ास और दीवाने-आम में एक भी गुम्बद या मीनार नहीं है, जिस पर मुस्लिम सदैव बल देने रहे। दीवाने-आम की मंगमरमरी ख़ास पीठ में, जिस पर बादशाह बैठता करता था, मन्दिर के प्रकार की छत है जिसके निज्जवाबाम प्रकार के दो सिरे विर्यक रूप में जुड़े हुए हैं। दीवाने-ख़ास में अम्बर (पुराना जयपुर) के भीतर के राजोचित भाग से अत्यधिक विस्मय-

कारी समानता है। अम्बर (आमेर) राजपूतों द्वारा मुस्लिम-पूर्व काल में बनाया गया था।

‘स्मृति-ग्रन्थों’ एवं तिथिवृत्तों के उल्लेखानुसार प्रत्येक मुगल शासक का १००० स्त्रियों का हरम होता था। वे सब, स्वयं शासक और उनके अनेक बाल-वच्चे किसी भी प्रकार कल्पना किए जाने पर दीवाने-ख़ास से संलग्न दो-तीन कमरों में नमा ही नहीं सकते थे।

दीवाने-ख़ास के निकट मंगमरमर के जंगले पर राजा की न्याय-तुला का चित्र अंकित है। अपनी प्रजा के ६६ प्रतिशत भाग को नीच व्यक्ति समझने वाले मुगल शासक अपने राजमहल में न्याय के उस चिह्न को अंकित करने की कभी कल्पना भी नहीं कर सकते थे। किन्तु बाह्यार्थों द्वारा उप-देशित राजपूत शासक अवश्य ही न्याय-तुला के चित्र से प्रेरणा लेकर न्याय-प्रदान करना अपना एक प्रमुख कर्तव्य समझा करते थे।

दीवाने-ख़ास और दीवाने-आम में मण्डप शैली की अलंकृत हिन्दू कला-कृति है। इसके अतिरिक्त, दीवाने-ख़ास सन् १५४ ई० के आस-पास निर्मित अम्बर (आमेर—पुराना जयपुर) के भीतरी महल से अत्यधिक मिलता-जुलता है।

दीवाने-ख़ास की एक दीवार पर खुदी हुई फ़ारसी की पंक्तियों में लिखा है कि यह स्थान ‘पृथ्वी पर स्वर्ग’ है। इस प्रकार डी डींग केवल ख़ाली अधिग्रहण करनेवाला ही हाँक सकता था। यदि शाहजहाँ इस भवन का मूल निर्माता रहा होता, तो वह कभी भी इस प्रकार अतिशयोक्तिपूर्ण शब्दावली में वर्णन न करता। मूल निर्माता तो प्रायः रचना के सम्बन्ध में प्रबोचणीय होता है। और भी बढ़कर बात यह है कि भवन के दोषों के सम्बन्ध में निर्माता इतना सजग होता है कि वह कभी भी ऐसे निर्माण को ‘पृथ्वी पर स्वर्ग’ कहने की कल्पना कर ही नहीं सकता।

मानसशास्त्र का एक अन्य महत्वपूर्ण सिद्धान्त भी इस मामले में लागू होता है। मनुष्य अपने भवन को प्रायः ओपड़ी या कुटिया कहता है, स्वर्ग नहीं। यह भी ध्यान रखने की बात है कि चाहे किसी मनुष्य की पत्नी कितनी भी सुन्दर, रूपवती क्यों न हो, वह व्यक्ति चौराहे पर खड़े होकर या महान की सर्वोच्च छत पर चढ़कर उसके सौन्दर्य के सम्बन्ध में कभी भी







इतिहास के सभी विद्यार्थी भली-भाँति जानते हैं कि मुस्लिम उत्तराधिकार-ग्रहण करने के लिए भातघातक और पितृघातक रक्तपात सदैव हुआ है। उन प्रकार की परिस्थिति में क्या यह कल्पना भी की जा सकती है कि अपने पूर्ववर्ती के गृह का आजीवन प्यासा रहने वाला अनुवर्ती अपने घृण्य पूर्ववर्ती की मृत्यु के पश्चात् भव्य मकबरा बनवाएगा ? और क्या ऐसा भी संभव हो सकता था कि जो आदमी आजीवन अपने और अपने बाल-बच्चों के लिए कोई महल न बनाए, वही आदमी अपने पूर्ववर्ती के लिए भव्य महल बनाए और इसी क्रमानुसार उसको भी अपनी मृत्यु के पश्चात् एक भव्य मकबरा अपने अनुवर्ती द्वारा मकबरे के रूप में प्रयोग करने के लिए मिल जाये ? क्या उनके मध्य मकबरा-निर्माण का कोई समझौता हो गया था !! अपने मृतक पूर्वज के लिए भव्य मकबरा बनाने की सोचने से पूर्व सिंहासनाब्द बादशाह अपने और अपने बाल-बच्चों के लिए संकड़ों महल बनवाएगा। इन दोनों विचारों से इतिहास के किसी भी विद्यार्थी को समझ में आ जाना चाहिये कि संयोज्य महलों के अभाव में भी इतने सारे मकबरे इसीलिए बनसकते हैं क्योंकि मुस्लिम बादशाहों ने न तो मकबरे ही बनवाए और न ही ग़वामहब।

अन्य देशी मुस्लिम सरदारों और शासनांकुश परिवारों को हिन्दुओं की जीवित इमारतों का बाहुल्य उपलब्ध हो गया जो जीवित रहते समय शासन के रूप में और उनकी मृत्युपरान्त मकबरे के रूप में काम में आया। इससे स्पष्ट होता है कि अलाउद्दीन खिलजी और इल्तुतमिश के पिछों को तथाकथित कुतुबमीनार भवन-संकुल के किसी बाहरी भाग में चुपचाप दबा दिया गया है। पुरातन हिन्दू-भूभागों को, जिनमें विजित राममहल, मन्दिर और भवन सम्मिलित थे, निर्वाह रूप में जीवित और मृतकों के लिए उपयोग में लाया गया। यही कारण है कि हम ये सब मकबरे आदि अलंकृत मन्दिरों की संरचनाओं और विज्ञान क्षेत्रीय भव्य भवनों के रूप में पाते हैं। इसी के साथ एक अन्य ऐतिहासिक-मूल ग्रन्थ होता है जिसे भारतीय मध्यकालीन इतिहास के अध्ययन के लिए कुञ्जी का कार्य करना चाहिए। वह मूल यह है कि आज जिस बस्तु को हम किसी मुस्लिम शासक या सरदार का मकबरा विश्वास करते हैं, वह लगभग प्रत्येक मामले में उसका आवासीय स्थान

अथवा कम-से-कम उसकी मृत्यु के समय का तो आवासीय स्थान रहा ही था। इस प्रकार, किसी भी व्यक्ति का मकबरा उसकी मृत्यु के तुरन्त-पूर्व ही उसका घर बन चुका था।

### तथाकथित कुतुबमीनार

कुतुबमीनार के सम्बन्ध में भी पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध हैं जिनसे सिद्ध होता है कि कुतुबमीनार एक ऐसा हिन्दू-स्तम्भ है जो कुतुबुद्दीन से सैंकड़ों वर्ष पूर्व भी विद्यमान था, और इसलिए, इस स्तम्भ का निर्माण-श्रेय कुतुबुद्दीन को देना गलत है।

कुतुबमीनार के पार्श्व में बसी हुई नगरी महरीली कहलाती है। यह संस्कृत शब्द 'मिहिरावली' है। यह उस नगरी का द्योतक है जहाँ सम्राट विक्रमादित्य के दरबार का विश्वविख्यात ज्योतिषी मिहिर अपने सहायकों गणितज्ञों और तकनीक-विशेषज्ञों के साथ रहा करता था। वे इस तथाकथित कुतुबमीनार का उपयोग नक्षत्र-विद्याध्ययन के लिए वेध-स्तम्भ के रूप में किया करते थे। इस स्तम्भ के चारों ओर हिन्दू-राशिमण्डल के २७ तारकपुञ्जों के मण्डल बने हुए थे।

कुतुबुद्दीन एक ऐसा उत्कीर्ण अंश छोड़ गया है जिसके अनुसार उसने इन २७ मण्डलों को ध्वस्त किया। किन्तु उसने ऐसा कहीं नहीं कहा कि उसने किसी स्तम्भ का निर्माण भी किया था।

इस तथाकथित कुतुबमीनार से विस्थान हुए पत्थरों की एक ओर हिन्दू देवमूर्तियाँ और दूसरी ओर अरबी के अक्षर खुदे हुए हैं। उन पत्थरों को अब संग्रहालय में ले जाया गया है। यह स्पष्ट रूप में दर्शाता है कि मुस्लिम आक्रमणकारी लोग हिन्दू भवनों की प्रस्तर-सज्जा को हटाकर उसके ऊपर अंकित चित्रादि को भीतर की ओर मोड़कर, बाहर की ओर दिखने वाले अंश पर अरबी भाषा के अक्षरों की खुदाई कर दिया करते थे।

अनेक लम्बों और दीवारों पर संस्कृत शब्दावली अभी भी परिलक्षित की जा सकती है। यद्यपि विद्रूप हो चुकी है तथापि भित्ति-शृंग में अभी भी अनेक देवमूर्तियाँ शोभायमान हैं।

यह स्तम्भ चहुँ ओर की गई निर्माण-संरचनाओं का एक अंश निश्चित



रूप में ही है। ऐसी बात नहीं है कि पूर्वकालिक हिन्दू-भवनों के बीच में पर्याप्त खुला स्थान इसलिए था कि कुतुबुद्दीन आए और एक स्तम्भ बनाए। इसकी दर्शनीय अवलोकन हिन्दू जैसी सिद्ध करती है कि यह एक हिन्दू-स्तम्भ है। मस्जिद की सीमारो का धरातल सपाट होता है। जो लोग यह तर्क देते हैं कि इस स्तम्भ की रचना तो मुस्लिम निवासियों को प्रार्थना के लिए हुताग्ने के उद्देश्य में आकाश देने के लिए हुई थी, उन लोगों ने कदाचित् ऊपर जाकर नीचे खड़े व्यक्तियों को पुकारने का भी प्रयत्न किया हो, ऐसा नगला नहीं। यदि उन्होंने ऐसा किया होता, तो उनको स्वयं ही ज्ञात हो जाता कि उस ऊंचाई से कोई भी व्यक्ति, जो पृथ्वी पर खड़ा हो, वह शब्द सुन ही नहीं सकता। पूर्वकालिक हिन्दू-भवनों को मुस्लिम-निर्माण-कृति उहराने के लिए ऐसे बेहूदा दावे किये जा रहे हैं।

एक अन्य महत्वपूर्ण विचारणीय बात यह है कि स्तम्भ का प्रवेश-द्वार उत्तर की ओर है न कि पश्चिम की ओर जैसा कि इस्लामी मान्यता और अभ्यासानुसार आवश्यक रहा है।

प्रवेश-द्वार के दोनों ओर ही प्रस्तुत पुष्प-चिह्न हैं; ये भी सिद्ध करते हैं कि यह हिन्दू-भवन है। मध्यकालीन भवनों की हिन्दू-निर्माण संरचना में अस्तर-पुष्पों की विद्यमानता एक अत्यन्त महत्वपूर्ण लक्षण है। अपनी बनाई हुई इमारतों में मुस्लिम लोग ऐसे पुष्प कभी नहीं रखते।

स्तम्भ के ऊपर कानिस के ठीक नीचे के भाग में तमूनों पर तोड़-फोड़, अकस्मात् समाप्त करने अथवा असंगत पंक्तियों को असंबद्ध रूप में मिला देने के स्पष्ट चिह्न हैं। अरबी-शब्दावली क्षतिग्रस्त अधोमुखी कमल की पंक्तियों के अन्तर्धीनित है। कट्टर मुस्लिम और विद्वान् सर सैयद अहमद खान ने स्वीकार किया है कि यह स्तम्भ हिन्दू-भवन है।

सर्वप्रथम तजाकधिन कुवत-उन्-उन्नाम का मेहराब-युक्त प्रवेश-द्वार गुबगाह के मस्जिदों के अत्यन्त मेहराबों से युक्त द्वारों से किसी भी प्रकार भिन्न नहीं है। इस भवन के स्तम्भ के ऊपर कानिस के ठीक नीचे के भाग में तमूनों में जो मोड़-फोड़ के चिह्न स्पष्ट हैं जो सिद्ध करते हैं कि पूर्वकालीन मस्जिदों की मूर्धन्या के उपयोग में लाने के लिए मस्जिदों का रूप देने में

पत्थरों को इधर-उधर करने में मुस्लिम शासकों की बड़ी हादिक शक्ति मिलती थी।

स्तम्भ का घेरा ठीक २७ मोड़ों, चापों और त्रिकोणों का है। ये एक के बाद दूसरा, दूसरे के बाद तीसरा, तीसरे के बाद पहला—इस क्रम से है। यह प्रकट करता है कि इस क्षेत्र में २७ के अंक का विशेष महत्त्व तथा उसकी प्रधानता रही है। पहिले ही वर्णित २७ तारकपुंजों के मण्डपों के साथ इस पर विचारोपरान्त कोई सन्देह शेष नहीं रह जाता कि यह स्तम्भ भी नक्षत्रीय वेधस्तम्भ ही था।

'कुतुबमीनार' अरबी शब्द नक्षत्रीय (वेध-शास्त्र) स्तम्भ का द्योतक है। मुल्तान कुतुबुद्दीन से इसको सम्बद्ध करने और दरबारी पत्राचार में इसको नामोल्लेख की यही कहानी है। समय व्यतीत होते-होते कुतुब स्तम्भ के साथ कुतुबुद्दीन का नाम अनायास ही संलग्न हो गया, जिसने यह भ्रम उत्पन्न कर दिया कि कुतुबुद्दीन ने कुतुबमीनार बनवायी।

स्तम्भ की संरचना में शिलाखण्डों को दृढ़ता से एक स्थल पर रखने के लिए लौह-पट्टियाँ प्रयुक्त की गयी हैं। आगरा-दुर्ग की प्रस्तर-प्राचीरों में भी इसी प्रकार की लौह-पट्टियाँ प्रयुक्त हुई हैं। अपनी पुस्तक "ताजमहल राज-पूती राजप्रासाद था" में मैंने किले के मूल के सम्बन्ध में विषद विवरण प्रस्तुत किया है और यह सिद्ध किया है कि यह मुस्लिम-पूर्व काल में भी विद्यमान था। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि बड़े-बड़े भवनों में विशाल शिला-खण्डों को सुदृढ़तापूर्वक एकत्र रखने के लिए हिन्दू लौह-पट्टियाँ उपयोग में लाना हिन्दू-प्राकार था। उस प्राकार का दिल्ली की तय्याकशित कुतुबमीनार में उपयोग होना इस स्तम्भ को मुस्लिम-पूर्व काल का सिद्ध करने वाला एक अन्य प्रमाण है।

### निजामुद्दीन दरगाह

जिसे आज फकीर निजामुद्दीन की दरगाह समझा जाता है, यह वास्तव में एक पुराना मन्दिर है, जो मुस्लिम आक्रमणों में क्षतिग्रस्त हो जाने के बाद हज़रत निजामुद्दीन की दरगाह बन गया, क्योंकि उस फकीर को उसकी मृत्यु के पश्चात् वहीं दफना दिया गया था।



इस दरगाह के चारों ओर अगणित मात्रा में अन्य मण्डप, प्राचीर, कब्र, दुर्ग की दीवार के उभरे हुए भाग, स्तम्भ, स्तम्भपीठें अभी भी देखी जा सकती हैं। ये वस्तुएँ सिद्ध करती हैं कि यह किसी समय समृद्ध नगरी थी जो पराजित हुई और विजित हुई। ऐसे तहस-नहस किये गये क्षेत्रों में मुस्लिम फकीर जा बसते थे। बाद में उनको वहाँ गाड़ दिया जाता था, जहाँ वे रहते रहेंगे। इस प्रकार मुस्लिम फकीरों को दफनाने के स्थान मूल-कब्रिस्तान नहीं हैं, अपितु वे तो पूर्वकालीन राजपूत भवन हैं जो बाद में मुस्लिमों द्वारा बर्बाद हुआ लिये गये।

### हुमायूँ का मकबरा

नयी दिल्ली में तथाकथित 'हुमायूँ का मकबरा' ऊपर वर्णित विशाल नगरी का अंग था। यह उस नगरी का केन्द्रीय राजप्रासाद था। आजकल भी यह उस भाग का अंग है जिसे नयी दिल्ली स्थित जयपुर-राजसम्पत्ति कहा जाता है। आज अरब-की-सराव नाम से पुकारा जाने वाला भाग तथाकथित हुमायूँ के मकबरे के चहुँ ओर विशाल सुरक्षात्मक संरचना थी। हुमायूँ वहीं रहा करता था। पुराने क़िले स्थित तथाकथित शेर-मण्डल की मोहियों में जब वह गिर पड़ा, तो उसे इसी स्थान पर लाया गया जो केवल आज मौल दूरी पर ही था। अपनी मृत्यु तक वह इसी राजप्रासाद में पड़ा रहा। जैसा उन दिनों का नित्यप्रति का अभ्यास था, उसे उसी राजप्रासाद में दफना दिया गया, जिसमें वह रहता रहा।

आज जिसे हुमायूँ का मकबरा विश्वास किया जाता है, वह तथ्य रूप से एक अति विशाल, भव्य, बहु-मंजिला ऐश्वर्य-युक्त राजप्रासाद था जिसमें अनेक दुर्ग, बहुत-से प्रवेशद्वार, इनकी ओर जाने वाले मेहराबों में अलंकृत भागों की पश्तियाँ, उप-भवन, अतिथि-गृह, रक्षक-गृह और इस राजप्रासाद के चहुँ ओर दलद्वार प्राचीरों से परिवेष्टित विशाल दीवारों के समूह थे। अनेक पश्चिमी विद्वानों ने स्पष्ट बताया है कि हुमायूँ के मकबरे और आगरा के राजमहल में स्थापत्य-कला की समानता अत्यधिक मात्रा में है। "ताज-महल राजपूतों राजप्रासाद था" नामक अपनी पुस्तक में मैं सिद्ध कर चुका हूँ कि राजमहल मूल मुस्लिम मकबरा होने के स्थान पर पूर्वकालिक राजपूती

राजप्रासाद है। इसी प्रकार, आज हुमायूँ का मकबरा विश्वास किया जाने वाला स्थान भी पूर्वकालिक राजप्रासाद है।

### किलोकरी

वह क्षेत्र, जिसमें निजामुद्दीन की दरगाह और हुमायूँ का मकबरा स्थित है, किलोकरी कहलाता है। यह शब्द उस स्थान का श्रोतक है जिसकी कील (अर्थात् केन्द्रीय लौह-स्तम्भ) उखाड़ दी गयी है। स्पष्टतः इसका सन्दर्भ उस दिन से है जिस दिन परम्परागत लौह-स्तम्भ, जो पुरातन-पद्धति के अनुसार हिन्दू-नगरियों के केन्द्र भाग में स्थापित किया जाता था, मुस्लिम आक्रमक सेनाओं द्वारा नगरी के पद-दलित हो जाने पर उखाड़ फेंका गया।

हुमायूँ का लड़का अकबर अभी १४ वर्ष का भी नहीं हो पाया था कि उसका पिता मर गया। उसके स्वयं के संरक्षक बहराम खान और कट्टर दुश्मन हेमू सहित अनेक शक्तिशाली शत्रुओं की अत्यधिक प्रबल शक्ति से अकबर का पाला पड़ गया। अपने सम्पूर्ण जीवन-काल में अकबर को भारतीय तरेजों से अनवरत युद्ध लड़ने पड़े थे। स्वयं अपने सरदारों और सम्बन्धियों द्वारा किये गये विद्रोहों के विरुद्ध अकबर को सारे जीवन जूझना पड़ा था। विन्सेंट स्मिथ ने अपनी 'अकबर दी ग्रेट मुगल' नामक पुस्तक में लिखा है कि अकबर को सदैव इस या उस विद्रोह का सामना करना पड़ा था। अतः यह सोचना बेहद गी है कि अनवरत युद्धों की विद्यमानता में भी अपने पिता की स्मृति में अकबर एक अति भव्य स्मारक बना सकता था।

कुछ तिथिवृत्तकारों ने अप्रामाणिक रूप में दावा किया है कि हुमायूँ की शिशुहीन विधवा, अकबर की धाय-माँ ने अपने पति की स्मृति में इस स्मारक को बनवाया। इस दावे का सूक्ष्म विवेचन करना आवश्यक है। मृत बादशाह की निःसंतान विधवा, स्वयं अशिक्षित और कुर्ब के अभेद्य दुर्ग में स्वयं को बन्दी बनाकर रहने वाली, ५००० महिलाओं की विशाल संख्या में से एक, स्वयं घोर वित्तीय संकटावस्था में रहा करती थी। इन प्रकार की महिलाएँ तो स्वयं को भाग्यशाली समझती थीं यदि उनको प्रतिदिन दोनों समय का भोजन, शान्ति और सुरक्षापूर्वक रहने के लिए किसी मकान का कोना और प्रतिदिन सिर के बालों में डालने के लिए चुस्त भर तेन मिल



जाता था उन संघर्षमय दिनों में इन क्षुद्र आवश्यकताओं की पूर्ति होना भी अत्यन्त कठिन कार्य था। अकबर के पास भी धन-दौलत की इतनी कमी थी कि जब एक बार अकबर ने अपने कोषाध्यक्ष से केवल मात्र १८ रुपये ही माँगे थे, तब वह यह अल्प राशि भी उसे न दे सका था। यह विचार करना तो उपहास की पराकाष्ठा है कि अकबर या उसकी धाय-माँ ने हुमायूँ के मृतक-पिंड के लिए राजप्रासादानुरूप मकबरा बनवाया था।

### सफ़दरजंग-मकबरा

ऐसा विचार किया जाता है कि अवध के नवाब के प्रधान मन्त्री की मूर्ति में यह मकबरा बनाया गया है। यह दावा भी सूक्ष्म परीक्षण करने पर निरस्त सिद्ध होता है।

प्रथम बात यह है कि इतिहासकारों में इस मकबरे के सम्बन्ध में काल-जन मतभेद हैं; कोई कहता है कि यह सन् १७५३ में बना, और कोई कहता है कि इसका निर्माण सन् १७५४ में हुआ। यह तीव्र मतभेद इस तथ्य के कारण है कि दोनों ही जगें गलत आधार पर स्थित हैं। वास्तव में वह भवन सफ़दरजंग की मृत्यु से अनेक शताब्दियों-पूर्व भी विद्यमान था। नाब हो, यह भवन ऐसा नहीं है जिसका निर्माण एक वर्ष में हो सका हो।

भवन के प्रवेश-द्वार के ठीक ऊपर संकुचित अलंकृत छज्जा-युक्त एक सुन्दर राजपुत-शैली की खिड़की है। इस भाँति की खिड़कियाँ राजस्थान के महलों और राजप्रासादों में सैकड़ों की संख्या में देखी जा सकती हैं। भवन का बर्गीय शाकार पूर्णरूप में राजपुती नमूना है। यह इमारत एक सुरक्षा-शाकीर में घिरी हुई है, जिसके किनारों पर बुर्ज हैं और बीच-बीच में पहरे की मंजारे हैं। ये सभी संयोज्य वस्तुएँ मिद्ध करती हैं कि यह एक ऐसा भवन था जो आशान के लिए प्रयुक्त होता था।

विचारणीय दूसरी बात यह है कि मृत्यु से पूर्व ही सफ़दरजंग को अत्यन्त अपमानित किया गया था और फिर नौकरी से बर्खास्त कर दिया गया था। बेरोजगार सरदार के लिए कौन भव्य मकबरा बनाएगा? जब कि वह अवध का प्रधान मन्त्री था तो सभी स्थानों में से केवल दिल्ली का भव्य मकबरा ही उसकी यादगार के लिए क्यों बच रहा है? यदि उसके

मृतपिंड के विश्रामस्थल के रूप में इतना भव्य स्थान मिल सका, तो जीवन-काल में उसका अपना राजमहल तो न जाने कितना ऐश्वर्यपूर्ण रहा होगा! कहाँ है वह राजमहल? कोई दिखा नहीं सकता।

स्वाभाविक रूप में यह कल्पना करनी पड़ती है कि सफ़दरजंग के पुत्र या उत्तराधिकारी ने मृतक के लिए यह भव्य मकबरा बनाया होगा। यदि ऐसा है, तो वह परबर्ती अत्यन्त समृद्ध व्यक्ति रहा होगा। मृतक के लिए एक अत्यन्त भव्य मकबरा बनवाने की स्थिति में होने के लिए तो दिल्ली में ही उसके दसियों विशाल राजमहल होने ही चाहिये। किन्तु हमें तो सफ़दरजंग का या उसके पुत्र का कोई भी महल कहाँ भी दिखाया नहीं जाता। फिर, यह क्या बात है कि जीवित रहने पर जिसको रहने के लिए एक भी राजमहल उपलब्ध नहीं था, उसी को मृत्यु के पश्चात्, मानो जादू से, एक भव्य राजप्रासाद मिल गया। अतः यह विचारना गलत है कि सफ़दरजंग का मकबरा मूल-स्मारक है। युक्तियुक्त स्पष्टीकरण यह है कि वर्तमान इमारत सफ़दरजंग द्वारा विजित सम्पत्ति का एक अंश मात्र थी। अवध से बर्खास्त होने के पश्चात् अपनी मृत्यु के समय वह इसी इमारत में रह रहा था, और अपनी मृत्यु के बाद उसे इसी स्थान पर दफ़ना दिया गया जहाँ उसके प्राण निकले। इसीलिए हमें इन भव्य मकबरों के कोई रेखा-चित्र-प्रारूप, निर्माणा-देश, देयक और व्यय-पत्रक, लेखा आदि नहीं मिलते हैं। न ही उनका मूल स्पष्ट रूप में उपलब्ध हो पाता है। इन स्मारकों के किसी भी पक्ष की जांच-पड़ताल करने पर संदेह, परस्पर-विरोधी बातें और असंगतियाँ सम्मुख उपस्थित हो मार्ग अवकट कर देती हैं।

### तथाकथित शेर-मण्डल

पुराने किले के अन्दर जो 'शेर-मण्डल' कहलाता है वह कुछ छोटे कमरों सहित एक छोटा बृत्ताकार स्तम्भ है। इसका 'मण्डल' शब्द स्वयं ही इस बात का द्योतक है कि यह राजपूतों की रचना थी। विजय-प्राप्ति के पश्चात् शेरशाह ने इसमें मनमाने परिवर्तन कर दिए। किन्तु चूँकि केवल उसका नाम इसके माथे सम्बद्ध है, इसीसे पथभ्रष्ट हो, भयंकर भूल करने वाले पश्चिमी विद्वानों ने इस छोटे एवं निजंन, तराशे हुए स्तम्भ का निर्माण-यश



जेरशाह को दे दिया। भारतीय इतिहासकार अभी तक इसी भ्रमजाल से मुक्त नहीं हो पाए हैं। 'जेर-मण्डल' के मामले में तो 'जेर' की तुलना में 'मण्डल' शब्द को अधिक महत्व दिया जाना चाहिए क्योंकि यह इतनी तुच्छ संरचना है कि इसके लिए कोई शासक आत्मस्तुति कर ही नहीं सकता। दूसरी बात यह है कि मध्यकालीन धर्मान्ध मुस्लिम शासक अपनी ही रचनाओं के लिए संस्कृत नाम कभी भी नहीं चुन सकते थे। तीसरी ध्यान देने योग्य बात यह है कि स्वयं 'मण्डल' शब्द इसके गोल आकार को बताने वाला है, जो इस बात का द्योतक है कि इसका रेखा-चित्रण एवं निर्माण करने वाले व्यक्ति संस्कृत की परम्परा में पले थे और यह किसी पूर्वकालिक राजप्रामाद का ही परिवर्तित स्तम्भ है।

### तुगलकाबाद

दिल्ली में कटेदार प्राचीरों से घिरी हुई तुगलकाबाद नामक एक विशाल बस्ती है। इसके अन्दर अग्नि से जले हुए और विनष्ट आवासीय खण्ड भू-गर्भीय मार्ग, स्तम्भ और छज्जे भू-तुण्डित हुए अभी भी देखे जा सकते हैं। तुगलकों ने विजित उपनगरी को अपना मुख्यालय बना लिया। मताब्दियों से उनके नामों से जुड़ा रहने के कारण, भ्रमणकर्ता लोग भ्रम-वश विश्वास करते हैं और पुरातत्त्व-विभाग के नाम-पट्ट भी पथ-भ्रष्ट करते हुए घोषित करते हैं कि इस उपनगरी की स्थापना तुगलकों द्वारा हुई थी। यह अनुपृति तो सदैव होती ही चाहिए कि विजेता लोग मकानों का निर्माण करने और अपना पसीना बहाने के लिए नहीं, अपितु वे तो उपलब्ध धन-शक्ति और भवनों का स्वामी बनकर उसका मनमाना शोषण करने के लिए आते हैं। और भी बात यह है कि विश्वसकर्ता निर्माता नहीं होते। सड़क तार एक किनेवन्दी के क्षेत्र में गियामुहीन तुगलक का मकबरा है। यह एक चित्रित स्तूपकार संरचना है। इसकी चोटी की ओर कोई भी व्यक्ति अभी भी जड़ अन्धवृत्त स्तम्भों वृत्त गवालों को देख सकता है जो सिद्ध करते हैं कि यह मकबरा मकबरे के रूप में बदल दिया गया था। मूल रूप में मकबरा तो यह बना ही नहीं था। किसी समय यह विशाल तुगलकाबाद उपनगरी का एक भाग था, यद्यपि आज यह एक परिवर्तित स्मारक के रूप में खड़ा

है। यह मकबरा भी ऊँची कटेदार प्राचीर से घिरा हुआ है। इसके अन्दर कुछ दर्शक-मण्डप तथा भू-गर्भीय मार्ग हैं, जिनसे वही निष्कर्ष निकलना है कि मकबरा तो बाद की कल्पना का परिणाम है।

### फिरोजशाह कोटला

दिल्ली-द्वार के सम्मुख कीड़ा-प्रांगण के निकट एक प्राचीन किनेवन्दी में एक बस्ती है जिसे फिरोजशाह कोटला कहा जाता है। इसके नाममात्र में ही, भूल से यह मान लिया गया कि अपने महल के रूप में इसका निर्माण फिरोजशाह तुगलक ने किया था। किन्तु इसकी ऊपरी मंजिल में एक अशोक-स्तम्भ दृढ़तापूर्वक गड़ा हुआ है। अपने क्रूर स्वभाव के लिए फिरोजशाह पहिले ही कुख्यात था। वह 'हिन्दू' नाम की किसी भी बात को सहन नहीं कर सकता था। इतिहास में उल्लेख है कि मूर्तिपूजा के अपराधियों को वह जीवित जला दिया करता था। यह विश्वास करना नितान्त तर्कहीन है कि इस प्रकार का शासक स्वयं अपनी ही इच्छा से, अपने ही राजमहल में हिन्दू धर्मोपदेशों से उत्कीर्ण एक अशोक-स्तम्भ गड़बा लेगा। इसकी छाया में फिरोजशाह की कभी नींद आ ही नहीं सकती थी। तथ्य यह है कि स्तम्भ का कटा हुआ शीर्ष भाग दर्शाता है कि अपने धर्मान्ध रोष में फिरोजशाह ने इस स्तम्भ को उखाड़ फेंकने का यत्न अवश्य किया होगा। किन्तु स्पष्ट है कि इससे समस्त महल ही नष्ट हो गया होता और इस महल की छत के निचले भाग में एक बहुत बड़ा छेद बना ही रहता। हताश हो, उसे इसी ऊँचा सिरकिए काफिर-स्तम्भ सहित महल में रहना पड़ा जो उसे अस्थिरता, विद्रोह और अनवरत संघर्ष के दिनों में एक उपयुक्त स्थान प्रतीत हुआ।

उसके शासन का एक अतिरंजित वर्णन शम्से-शीराज-अफ्रीफ नामक, स्वयं नियुक्त, एक चादुकार तिथि-वृत्तकार ने लिखा है। वह स्वीकार करता है कि उसका पितामह फिरोजशाह का समकालीन था। अफवाहें फैलाने वालों के नित्याभ्यास की ही भाँति वह भी कल्पित और अतिरंजित वर्णनों के लिए जिन आधिकारिक स्रोतों का उल्लेख करता है उनमें "मेरे पिता ने मुझे बताया" अथवा "सुविज्ञ इतिहासज्ञों के आधार पर मैं कहता हूँ..." आदि अनेक वाक्य भरे पड़े हैं। उस तिथिवृत्त में वह कल्पना करते हुए



वर्णन करता है कि किस प्रकार दिल्ली से अति दूरस्थ स्थान पर प्राप्त इन दो अशोक-स्तम्भों को उखाड़कर और सैकड़ों गाड़ियों और हजारों मजदूरों को नियुक्त कर इन सबको दिल्ली तक डोने का कठोर परिश्रम फिरोजशाह ने किया। दिल्ली में अपने महल में एक काफिर-स्तम्भ को गड़वाने का क्या प्रयोजन था, यह तो केवल खुदा को ही मालूम है। स्पष्टतः यह वर्णन इस तथ्य को झूठलाने का एक षट्पट है कि फिरोजशाह को अपने निवासस्थान के लिए वह भवन चुनना पड़ा जिसमें अशोक-स्तम्भ गड़ा हुआ था। अतः यह स्पष्ट है कि या तो स्वयं महाराजा अशोक ने मूलरूप में यह महल बनवाया जो आज छपरा में कोमलकान्त पहावलों में फिरोजशाह कोटला कहलाता है, अथवा अशोक के ऊपर स्वाभिमान अनुभव करने वाला कोई परवर्ती अतिव्यक्त उस स्तम्भ को उखाड़वाकर दिल्ली ले आया और उसने अपने महल में उस स्तम्भ को स्थापित करवा लिया। बाद में जब फिरोजशाह ने दिल्ली में शासन किया तब उसने उसी महल को, उन संघर्षमय दिनों में कदाचित् सभी स्थानों से बढ़िया आकार का प्राप्त कर, अपना निवासस्थान बना लिया। उसके तिथिवृत्तकार जर्फीफ ने, इस तथ्य का कोई स्पष्टीकरण न शक्य कि फिरोजशाह ने एक बनातु अधिगृहीत भवन में निवास किया, उस क्रम की सृष्टि कर दी कि यह तो फिरोजशाह ही था जो उस स्तम्भ को दूर ले आया और जिसने उसको अपने महल में गड़वाया था।

### राजपूत प्रशस्तियों की साहित्यिक चोरी की गयी

मेरी उपलब्धियाँ इस निष्कर्ष की भी इंगित करती हैं कि पूर्वकालिक राजपूतों अभिलेखों को नष्ट करते समय, अनेक बार मुस्लिम शासक पूर्व-कालीन राजपूतों की वंशावली को अपने शासनकाल से जोड़ लिया करते थे। इस प्रकार यह सम्भव है कि अशोक-स्तम्भ को किस प्रकार अपने राजशासन में लगाया गया—किन्हीं पूर्ववर्ती राजपूत शासक द्वारा उद्धृत कर्ण महल और इसमें कोषानार सहित फिरोजशाह के समय में उसको लाने में का पड़ा हो। इस वर्णन की साहित्यिक चोरी की गयी, और उसको फिरोजशाह की स्था की उपलब्धियों में जोड़ दिया गया। जैसा कि स्वर्गीय सर एच. एम. डैनियल ने बल देकर कहा है, इसी प्रकार जहाँगीर ने भी

अपने शासनकाल को चार चाँद लगाने के लिए, असंगपाल के शासन के वर्णनों को चुराकर, न्याय-घण्टिका का प्रसंग अपने नाव जोड़ लिया। इसमें मुस्लिम-काल के इतिहास का अध्ययन करते समय सदैव सतर्क में रखने योग्य एक तथा मूल-सिद्धान्त हमें प्राप्त हो गया है। वह सिद्धान्त यह है कि अपने अलोकप्रिय तथा क्रूर शासन को सुप्रिय सिद्ध करने के लिए पूर्व-कालिक राजपूत-गौरव गाथाओं में से सुनहरी पृष्ठों को अपने वर्णनों में संलग्न कर लेना तो मुस्लिम शासकों का नित्य का स्वभाव बन चुका था।

### लोधी मकबरे

इतिहासकारों और वास्तुकलाविदों की दृष्टि से ओझल हो जाने वाली भयंकर विसंगतियों का एक उदाहरण दिल्ली के लोधी मकबरे है। ऐसा प्रतीत होता है कि किसी ने भी कभी यह प्रश्न पूछने की चिन्ता नहीं की कि मृत शासकों के भव्य मकबरे आज क्यों कर उपलब्ध हैं, जबकि उन्हीं के अनुरूप, शासनकर्ता लोधी शासकों के ऐश्वर्यशाली और विशाल राजमहल कहीं भी नहीं मिलते? यदि इतिहासकारों और वास्तुकलाविदों ने कभी यह प्रश्न स्वयं की अन्तरात्मा से किया होता, तो उनको इस प्रश्न का पूर्ण समाधान प्राप्त हो गया होता। सही हल यह है कि तथाकथित मकबरे पुराने राजपूतों भवन हैं जिनको बाद में मृतक-स्थानों (मकबरों आदि) में बदल दिया गया।

### रोशन आरा मकबरा

दूसरा उदाहरण दिल्ली में रोशन आरा मकबरे का है। स्थूल रूप से दृष्टिपात करने पर ही विश्वास हो जायगा कि यह एक राजपूती संरचना है जिने अपनी मृत बहन को दफनाने के लिए औरंगजेब ने बलात् छीन लिया इसके कलात्मक रूप में खुदे हुए स्तम्भ तथा किसी भी प्रकार की गुम्बदों अथवा मीनारों से विहीन विशाल खुले मण्डप सभी प्रकार आँखें खोलने वाले हैं। इस सम्बन्ध में औरंगजेब का विशिष्ट चरित्र भी ध्यान रखना चाहिए। वह अति कुपण और निर्मम रूप में पाषाण-हृदय व्यक्ति था। उसने अपने पिता को कारावास में रखा, राजसिंहासन जबदस्ती हथिया लिया और



निष्ठुरतापूर्वक अपने भाइयों को मार डाला। हिन्दुओं के प्रति उसका व्यवहार सर्वाधिक निष्ठुरतापूर्ण था। ऐसा बादशाह अपनी पुत्री के लिए हिन्दू-रचना-शैली का मकबरा कभी नहीं बनवा सकता, और इसीलिए, रोशन आरा मकबरा एक राजपूती मण्डप है जो मकबरे में बदल दिया गया है।

### निजामुद्दीन

दिल्ली में निजामुद्दीन का मकबरा कहलाने वाली इमारत एक अपहृत हिन्दू मन्दिर है। इसपर पंचरत्न के पांच गुंबज हैं। हिन्दुओं में गाँव के पंच, पंचामृत, पंचगव्य आदि वानप्रचार से पांच का महत्त्व जाना जा सकता है। इमारत गेरुए रंग के पत्थर की बनी है जो हिन्दू ध्वज का रंग है। अन्दर एक विशाल बावड़ी है। उसके तने में वे हिन्दू मूर्तियाँ पड़ी मिलेंगी जो इस्लामी हमलावरों ने मन्दिर से उखाड़कर उसमें फिक्का दी। पीढ़ियों से उस इमारत से सनसन् फकीर, मुल्ता, मुजावर आदि तबाकथित मुसलमानों को यह समझ लेना चाहिए कि उनके दादे परदादे उसी मन्दिर के पुजारी आदि हिन्दू कर्मचारी रहे हैं जिसे वे आज निजामुद्दीन की कब्र समझ रहे हैं। यदि जीवित निजामुद्दीन का कोई महल नहीं था तो निजामुद्दीन के मृत शरीर के लिए महल कौन बनाएगा?

उस स्थान के साथ ही जो एक बड़ा कब्रिस्तान बना है वह इस कारण बना है कि उस परिसर में, बड़े-बड़े हिन्दू देवस्थानों पर जब हमला हुआ तो हमलावर मुसलमान बड़ी संख्या में हिन्दू सेना ने मार दिए। उन्हीं मृत आश्रामकों को बड़ी संख्या में वह रण-मैदान इस्लामी कब्रिस्तान बन गया। अमीर खुररो आदि मुसलमान वहाँ जिन इमारतों में दफनाए गये हैं वे सारे हिन्दू मन्दिर थे। इस्लामी हमलों से तहस-नहस हुआ वह प्रांगण अभी भी उसी अवस्था में है। चौमठ लग्ना आदि हिन्दू नाम अब भी वहाँ की इमारतों से संलग्न हैं।

बड़े शास्त्र के शार बही, सामने जो इमारतें अन्दर रहीम खानखाना और हुमायूँ के मकबरे कहलाती हैं, वह एक अति प्राचीन लक्ष्मी-मन्दिर का परिसर था। वही के जिस पौरकोट को अरब को सराय कहा जाता है वह इस लक्ष्मी मन्दिर की विशाल धर्मशाला है। उस पर अरब-आक्रमकों का कब्जा हो

जाने से वह हिन्दू धर्मशाला के बजाय इस्लामी (अरब) सराय कहलाने लगी।

इन इमारतों के शिखर की चारदीवारी पर सर्वत्र ★ ऐसा हिन्दू देवी का चिह्न (जो श्रीचक्र या शक्तिचक्र कहलाता है) विद्यमान है। हुमायूँ का मकबरा कहलाने वाली इमारत में एक विशाल तहखाना है जो लगभग सवा सौ वर्षों से बन्द पड़ा है। अन्दर चमगादड़ों का झुण्ड रहता है। उनकी विष्टा गिर-गिरकर भूमि पर डेढ़-दो फीट मोटा खाद का स्तर इकट्ठा हुआ पड़ा है। उस तहखाने के मध्य कक्ष में बने भगवान् विष्णु के पवित्र चरण युगल घरे पड़े हैं जिनकी कई वर्षों से सफाई या पूजा नहीं हुई है। उन विष्णुपद चिह्नों का फोटो G. LeBon नाम के फ्रेंच लेखक ने लगभग सवा सौ वर्ष पूर्व The world of Ancient India नाम की पुस्तक में दी है। उस पुस्तक का आंग्ल संस्करण Tudor Publishing House, New York ने सन् १९७४ में प्रकाशित किया। पुरातत्त्व विभाग का कर्तव्य है कि वह उस तहखाने को साफ कर पुनः विष्णुपदचिह्नों का दर्शन अन्य जनों के लिए सुगम कराए। यदि वह इमारत सचमुच हुमायूँ के लिए बनती तो वह गेरुए रंग की क्यों बनती? उसके तीन कोट क्यों होते? कब्र पर हुमायूँ का नाम क्यों नहीं है? उसके माथे पर चारों तरफ देवी के चिह्न क्यों होते? प्रवेशद्वार पर कमल क्यों होते? इस इमारत के सैकड़ों कमरों में ऐरे-गैरे मुसलमानों की अनगिनत कब्रें क्यों होती? इस प्रकार ऐतिहासिक स्थान देखते समय सर्वांगीण विचार करना यदि प्रेक्षक सीधे तो वे स्थल-दर्शकों (licensed guides) की मनगढ़न्त बातों से धोखा नहीं खाएँगे।

### आगरा-स्थित स्मारक

#### ताजमहल

इस प्रचलित धारणा के पक्ष में, कि ताजमहल शाहजहाँ ने बनवाया था, हमें केवल तीन कारण मिलते हैं। उनमें भी कुछ विशिष्ट सन्देह विद्यमान हैं—

(१) हम मानते हैं कि ताज के केन्द्रीय कक्ष में दो मृतकों की



(३) प्रबलित वर्गमें—कि साहूजही ने ताजमहल बनवाया—के पक्ष में सीकरी बाल बट्ट है कि मुल्ता अब्दुल हमीद साहूरी जैसे कुछ तिथि-वृत्तकारों ने अपने ग्रन्थों में ताज-निर्माण का उल्लेख किया है। इस विषय में हमारी जानकारी अल्प है। मुल्ता अब्दुल हमीद जैसे तिथि-वृत्तकार जब ऐसे व्यक्तियों के जो कर शर्मात्त व्यक्तियों की सेवा में रहते हुए उनकी साहजही और उनकी मनोरंजन करने हुए अपनी आजीविकोपार्जन करने

(२) स्वयं ताजमहल नाम नरेणोचित आवास अथवा आवासों में सर्वोत्तम का द्योतक है। कल्पना की किसी भी विधा से सोचो, किसी भी कब्रिस्तान का पदनाम राजप्रासाद तब तक नहीं दिया जा सकता था, जब तक कि वह राजप्रासाद स्वयं ही कब्रिस्तान में न बदल दिया गया हो।



(३) यदि शाहजहाँ ताज की मूल-कल्पना करने वाला रहा होता, तो उसे मुल्ला अब्दुल हमीद की तिथिवृत्त में इसका उल्लेख करना न भूलने के लिए विशेष अनुदेश देने की आवश्यकता न पड़ती, क्योंकि शासना-रुढ़ि मन्त्राट की सर्वोत्तम भव्य और श्रेष्ठ उपलब्धि के रूप में ताज का उल्लेख करना बेतनभोगी दरबारी वृत्तकार की दृष्टि से कभी औसल हुआ ही नहीं होता। उसे पुनः स्मरण कराने की आवश्यकता ही न थी।

(४) मुल्ला अब्दुल हमीद द्वारा लिखित तिथिवृत्त में रूप-रेखांकनकार के नाम का अभाव एवं ताज की अत्यल्प कम लागत जैसी अनेक घोर विसं-यतियाँ हैं, जिनपर परवर्ती इतिहासकारों ने व्यंग्यात्मक टिप्पण दिये हैं।

(५) लागत के अन्य विवरण भी ५० लाख रुपये से लेकर ६ करोड़ १७ लाख रुपये तक जाते हैं।

(६) शाहजहाँ का शासनकाल किसी भी भाँति स्वर्णकाल न था क्योंकि यह तो अनवरत असमाप्ति युद्धों, विद्रोहों, संक्रामक रोगों और अकालों से पूरित हो कलंकित हुआ था।

(७) शाहजहाँ के अत्याचारी, अहंकारी, कृपण और स्व-केन्द्रित स्वभाव के कारण यह सम्भव प्रतीत नहीं होता कि उसने किसी मृत-पिंड की भावनाओं का आदर करने मात्र के लिए किसी भव्य स्मारक पर असंख्य धन व्यय किया हो।

(८) वह ऐसे किसी भव्य स्मारक की किसी भी प्रकार कल्पना तक नहीं कर सकता था, यह इस तथ्य से स्पष्ट है कि मनघड़न्त वर्णनों तक में उल्लेख है कि उसने लोगों को केवलमात्र भोजन देकर, बिना नकद धन का भुगतान किये ही, दबर्दस्ती काम पर लगाकर उनसे पूरा-पूरा काम लिया। अन्य वर्णन में कहा गया है कि उसने सम्पूर्ण लागत के एक बहुत बड़े अंश का राजाओं और महाराजाओं द्वारा भुगतान कराया, अतः एक महल को सज्जारे में डटाने के लिए आवश्यक घटा-बढ़ी करने का कार्य भी या तो उसने नाममात्र का भोजन भर देकर और श्रमिकों का पूरा-पूरा पसीना मिथान कर दिया अथवा अपने अधीनस्थ शासकों पर वसूलियाँ थोपकर किया।

(९) यदि किसी स्तूप के लिए ताज जैसा भव्य स्मारक बनाया जाता

है, तो उसमें उस मृतका को दफनाने की एक विशेष तिथि भी तो निश्चित होगी, और इसका उल्लेख अभिलेखों में अवश्य ही हुआ होगा। किन्तु इतना ही नहीं, कि दफनाने की तिथि का कोई उल्लेख नहीं है, अपितु जिस अवधि में वह ताज में दफनाई गई होगी, वह काज भी मुमताज की मृत्यु के उपरान्त ६ मास से ६ वर्ष तक का भिन्न-भिन्न कहा जाता है।

(१०) शाहजहाँ २१ वर्ष का था जब मुमताज से उसका विवाह हुआ। यह प्रदर्शित करता है कि वह उसकी बहुत-सी पत्नियों में से एक थी, क्योंकि शाहजहाँ के काल में लड़कों और विशेषकर शाहजहाँ के विवाह उनके किशोरावस्था में पदार्पण करने से पूर्व ही हो जाया करते थे। बहुत-सी पत्नियों में तथा कम-से-कम ५००० में से एक होने के कारण ऐसा कोई विशेष कारण नहीं था कि उसे किसी स्वर्गिक अनुपम स्मारक में सदैव स्मरण किया जाय।

(११) जन्म से भी एक साधारण-जन्मा होने के कारण वह किसी भव्य भवन के योग्य नहीं थी।

(१२) इतिहास ऐसा कोई उल्लेख नहीं करता है कि अपने जीवन-काल में मुमताज और शाहजहाँ में कोई विशेष अथवा असामान्य प्रेमाचार था। इसके विपरीत, जहाँगीर और नूरजहाँ के प्रेमाचरण का वर्णन तो मिलता है। यह दर्शाता है कि उनके प्रेम की बाद की कथा केवल यह सत्यापित करने के लिए गढ़ी गयी है कि मुमताज के मृतपिंड के लिए ही शाहजहाँ ने ताजमहल की रचना की थी।

(१३) शाहजहाँ कला का संरक्षक न था। यदि वह ऐसा होता, तो वह उन लोगों के हाथ काट देने वाला क्रूर हृदय कभी न रखता, जिन्होंने उसकी पत्नी के लिए भव्य स्मारक निर्माण करने में अपना खून-पसीना एक कर दिया था। एक कलाकार, विशेष रूप से वह जो अपनी पत्नी की मृत्यु से शोकाकुल हो, कभी भी प्रतिभावान शिल्पियों के हाथ कटवा देने की मदोन्मत्तता में नहीं पड़ता। किन्तु हाथ कटवा देने की कथा स्पष्टतः ही सत्य है, क्योंकि एक प्राचीन और सम्मानित राजप्रासाद को एक मृतकपिंड दफनाने का स्थान बनाने के लिए रूपान्तरित करने के पापमय कार्य को बलात् केवल थोड़े-से भोजन के बदले में पूरा रगड़-रगड़ कर काम लेने की



मनोबलि के विरुद्ध कोषित हो उन भूमिकों ने बसावत कर दी थी और इसीलिए उनके हाथ दण्डस्वरूप काट डाले गये।

(१४) ताज से किले तक का भूगर्भस्व संकटकालीन द्वार केवल राज-प्रासाद में हो हो सकता था। मृतकपिड को किसी सुरक्षात्मक-मार्ग और वह भी भू-गर्भस्व मार्ग की कोई आवश्यकता नहीं।

(१५) पिछवाड़े में घातियों के उतरने के घाटों का अस्तित्व राज-प्रासाद का संकेतक है।

(१६) केन्द्रीय समरमर-संरचना में भी लगभग २५ कमरों वाला राजप्रासादोपयुक्त स्थान है जो किसी भी प्रकार मूलरूप में मकबरा नहीं हो सकता था।

(१७) समस्त ताज-सकुल में कुल मिलाकर लगभग ३०० या इससे अधिक कमरे थे, जो इसके द्वारों तलचरों, ऊपरी मंजिलों और इसके अनेक स्तम्भों में थे।

(१८) एक छोर पर तथाकथित मस्जिद और दूसरी ओर बिना नाम का भाग, जिसे तिरर्थक रूप में 'जवाब' कह दिया जाता है, अतिथि-मण्डप रक्तगृह और प्रतीक्षा-कक्षों के रूप में राजप्रासाद के अंग थे।

(१९) ताज-परिधि में मुखद-मण्डप शान्त निश्चल कब्र का अंश कभी न होकर सदा ही राजप्रासाद के आवश्यक अवयव रहे थे।

(२०) 'कलश' और 'बसई' (स्तम्भ) शब्द संस्कृत भाषा के हैं। उनका प्रवेश किसी मूल मकबरे में तबतक हो पाना सम्भव नहीं जबतक कि वे उस परिधि में सम्बद्ध न रहे हों जिसको मकबरे के रूप में परिवर्तित करने के लिए ले लिया गया।

(२१) सजावटी नमूने न केवल पूर्ण रूप में भारतीय पादपजात के हैं, अपितु कमजोर होने वाले हिन्दू लक्षणों से युक्त हैं जिनके कारण, इस्लाम-विश्वासानुसार, 'कार्कश' विनिष्टताएँ नीचे दफनायी हुई आत्माओं को कभी भी सुख-धन की सोस भी न लेने देंगी।

(२२) दीपों, मेहराब, दीवारगिरी और गोलाकार प्रासाद-शृंग पूर्ण रूप में हिन्दू शैली में हैं, जैसे समस्त राजपूताना में विपुल मात्रा में देखे जा सकते हैं।

(२३) ताज के प्रत्येक अन्य संदेहात्मक पक्ष की ही भाँति इसकी निर्माणवधि भी भिन्न-भिन्न १०, १३, १७ या २२ वर्ष कही जाती है, जो फिर सिद्ध करती है कि परम्परागत विवरण केवल कल्पना मात्र है। स्पष्टतः, उपर्युक्त कालावधियाँ सभी प्रकार सत्य हैं क्योंकि परिवर्तन १० वर्ष के भीतर ही पूर्ण हो गये थे। कुछ अन्य, जिनके बारे में बाद में विचार आया, भिन्न समय पर समाप्त हुए थे। ये भिन्न-भिन्न वर्णन इस विश्वास की ही बल प्रदान करते हैं कि ताज मूल रूप में राजप्रासाद था।

(२४) टेवरनियर की यह साक्षी भी, कि उसने ताज-निर्माण-कार्य का प्रारम्भ व समापन देखा था, परम्परागत धारणा वालों का पक्ष निर्बल करते हुए हमारा पक्ष पुष्ट करती है क्योंकि टेवरनियर भारत में केवल सन् १६४१ में अर्थात् मुमताज की मृत्यु के ११ वर्ष बाद ही आया था। यदि उसके कथन पर विश्वास करना है, तो अर्थ यह है कि ताज का प्रारम्भ मुमताज की मृत्यु के ११ वर्ष बाद भी नहीं हुआ था। परम्परागत मान्यता को निरस्त करने में उसका कथन हमें सभी प्रकार सहायक है। हमारी धारणा सदैव यही रही है कि जयसिंह का पैतृक राजप्रासाद उससे ले लिया गया था, और मुमताज की मृत्यु के कुछ समय पश्चात् उसको उसमें दफना दिया गया था। चूँकि टेवरनियर के भारत में आने से पूर्व ११ वर्ष तक वह उसमें पहिले ही दफनायी हुई पड़ी थी, वह भवन का मुमताज के मकबरे के रूप में उल्लेख करता है। और जब सन् १६४१ से १६६८ तक वह भारत में रहा, उस समय एक मंचान बना लिया गया था और कुरान के पाठ खोदे जा रहे थे, तो उसने लिखा था, "मेरी भारत में उपस्थिति की अवधि में ही ताज-निर्माण-कार्य प्रारम्भ हुआ व पूर्ण हुआ।" इसलिए, हम टेवरनियर की साक्षी को पूर्णरूप में स्वीकार करते हैं, और अपनी साक्षियों में इसको एक अत्यन्त सम्मान का पद देते हैं।

(२५) स्पष्टतः ये प्रतिवेदन भी सत्य ही हैं कि शाहजहाँ ने राजाओं-महाराजाओं पर बड़ी-बड़ी बसूलियाँ लगायी, और यह तथाकथित निर्माण-कार्य १०, १२, १३, १७, और २२ वर्ष तक भी चलता ही रहा। हम इन विवरणों को पूर्ण रूप में स्वीकार करते हैं। हमारी मान्यताओं के अनुसार क्या में वे बिल्कुल सही बैठते हैं। चूँकि शाहजहाँ इतना कुपण था कि अपने



पान की एक दमड़ी भी खर्च न करता, और इतना ही धूर्त था कि स्थानीय जनता पर कर लगाने एवं उनको पीड़ा पहुँचाने का कोई भी अवसर हाथ से न जाने देता, इसलिए उसने अपनी पत्नी की मृत्यु से भी राजनीतिक और आर्थिक लाभ उठाया। एक ओर तो उसने राजाओं और महाराजाओं को विवश किया कि वे अपने ही सगे-सम्बन्धियों के राजप्रासाद को मकबरे में बदलने के लिए आवश्यक परिवर्तनों का ध्येय-भार वहन करें, और दूसरी ओर केवल थोड़े से भोजन मात्र पर ही मजदूरों से रात-दिन काम लिया। यही कारण है कि यह कार्य अत्यन्त मंथर गति से इतनी लम्बी अवधि तक चलता ही रहा।

(२६) रूप-रेखांकनकारों का भिन्न-भिन्न प्रकार से उल्लेख किया जाता है—पश्चिमी विद्वानों ने उनको यूरोपीय, मुस्लिम विद्वानों ने इनको मुस्लिम और इम्पीरियल पुस्तकालय-स्थित पाण्डुलिपि ने उन सभी को हिन्दू नामक बताया है। परम्परागत ताजकथा की असत्यता बताने के लिए और कितने श्रेष्ठ प्रमाण की आवश्यकता है!

(२७) इस तथ्य के अतिरिक्त कि इम्पीरियल पुस्तकालय स्थित पाण्डुलिपि में सभी हिन्दू नामों की सूची दी गई है, एक और उल्लेखनीय बात है जो ताज के रूप-रेखांकनकार यूरोपीय अथवा मुस्लिम होने सम्बन्धी दावे को पूरी तरह झुठला देती है। यह ध्यान रखने की बात है कि पश्चिमी विद्वानों ने भी दो वर्ग हैं। एक वर्ग ताज के नमूने का श्रेय इटली के जीरो-निमो बीरोनिओ को देता है। दूसरा वर्ग इसका श्रेय एक फ्रांसीसी आस्टिन डि बीरड्योक्स को देता है। विद्वानों के मुस्लिम-वर्ग में भ्रम भी इतनी घोर साया में है। वे भी दो वर्गों में विभक्त हैं। एक वर्ग का कहना है कि ईसा अजन्दी एक तुर्क था, दूसरा वर्ग समान रूप से बल देकर कहता है कि वह एक फारसी व्यक्ति था। असली बात यह है कि चूंकि ईसा अजन्दी, लेखक के काम से प्रभावित सामान्य नायों में से चुन लिया गया एक काल्पनिक नाम ही है, इसलिए उसकी राष्ट्रीयता भी अनिश्चित रह गयी है।

(२८) ताज का प्रवेश-द्वार दक्षिणाभिमुख है, न कि उत्तराभिमुख है ना कि प्रत्येक मूल मस्जिद में होना चाहिये। जैसा किसी राजमहल में चाहिये, उसी के अनुरूप ताज में एक विशाल स्वागत-चतुरांगण है।

(२९) किसी भी प्रकार व्ययशील न होकर, ताजमहल तो शाहजहाँ को सुविख्यात कथानक की सोने का अण्डा देने वाली मुर्गी सिद्ध हुआ। परम्परागत वर्णनों में उल्लेख है कि ताज में मणियाँ जड़े हुए संगमरमर के झरोखे, सोने के खम्भे और चाँदी के द्वार थे। शाहजहाँ के अपने अथवा उसकी पत्नी के महल में भी परियों की कथानुरूप स्वावर सम्पत्ति न थी, जबकि वे दोनों जीवित भी थे। यह सोचना बिल्कुल बेहूदा है कि मुमताज की मृत्यु के तुरन्त बाद ही आसमान से छपर फाड़कर वह समस्त मूल्यवान और भव्य स्वावर सम्पत्ति शाहजहाँ के घर में आ पड़ी। किन्तु उक्त स्वावर वस्तुओं के विवरण पूर्ण रूप में सत्य ही हैं। हम उनको इसी रूप में स्वीकार करते हैं। वे हमारे इस विचार का समर्थन करते हैं, कि शाहजहाँ चूंकि कृपण एवं धूर्त था ही, उसने अपनी पत्नी की मृत्यु से भी अनुचित लाभ उठाया। उसने उस शोकपूर्ण अवसर को भी, जयसिंह को उसके पैतृक राज-प्रासाद से बाहर निकाल देने के लिए, काम में लिया। मुमताज को अपहृत, खिन्न राजमहल में गाड़ा गया जिसकी सभी बहुमूल्य सामग्री बाद में चुपके-चुपके शाहजहाँ के कोषागार में जमा होती रही। और ये वस्तुएँ केवल ऊपर वर्णित सामग्री ही न थी जो वहाँ से हटाई गई थी, अपितु राजपुत्री मयूर-सिंहासन भी था जो उन जाज्वल्यमान वस्तुओं के बीच में सुशोभित होता था। क्योंकि, चाँदी के द्वार और सोने के स्तम्भों तथा रत्न-जड़ित संगमरमर की दीवारों के संकुल प्रासाद में मयूर-सिंहासन के अतिरिक्त और रखा ही क्या जा सकता था? अतः वह मयूर-सिंहासन, जो ईरान ले जाया गया था, मुगल कुलगत वस्तु न होकर अत्यन्त प्राचीन एवं भारतीय क्षत्रिय राजसिंहासन था जिसका निर्माण-काल ईसा पश्चात् चौथी शताब्दी के अनंगपाल अथवा विक्रम संवत् के आदिस्वामी विक्रमादित्य के काल अर्थात् ईसा से ५७ वर्ष पूर्व तक जा सकता है।

(३०) जहाँ आज ताज स्थित है, वह स्थान जयसिंहपुरा और खवास-पुरा नामक दो अतिव्यस्त बस्तियों का था। उन बस्तियों का मुख्य आकर्षण केन्द्र ताज राजप्रासाद ही था। संस्कृत में 'पुर' शब्द व्यस्त नगरी का स्रोतक है—केवल एक खुला भूखण्ड नहीं।

(३१) सर्वमान्य तथ्य, कि शाहजहाँ ने जयसिंह से ताज-सम्पत्ति ले



नी भी, इस विषय में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण बात है। यह विश्वास कि शाहजहाँ ने एक खाली भूतबूट ले लिया था, कोई बना बनाया राजप्रासाद नहीं, इसी धारणाकण जमा हुआ है कि उसने मकबरा बनवाया। इसके लिए अन्य कोई प्रमाण नहीं है। वह धारणा भी निराधार है।

(३२) ताज राजप्रासाद की बाह्य परिधीय लाल पत्थरों की प्राचीरों में अनेक अन्य पूरक भवन भी हैं। वे दरबारियों और राजप्रासाद से सम्बद्ध अन्य लोगों के लिए बने हुए थे।

(३३) ताज में एक भव्य उद्यान था। एक श्मशान-भूमि सुस्वादु फलों एवं सुगन्धमय पुष्प-बूटों की श्रेणी नहीं बचाती क्योंकि श्मशान-भूमि के फल-फूलों के उद्यान के फलों और फूलों का आस्वादन करने का विचार जन्मन विप्लवकारी है। अतः, उद्यान तो केवल मात्र विशुद्ध राजप्रासाद का ही एक आवश्यक पाण्डे हो सकता था—अन्यथा कुछ नहीं। इससे भी बढ़कर बात यह है कि वहाँ वे बूट थे जिनके नाम संस्कृत भाषा के थे, और उनमें भी केतकी, जई, जूही, चम्पा, मौलवी, हरभृंगार और बेल जैसे अति पावन पौधे थे।

(३४) यह लिखा हुआ मिलता है कि बाबर अपने उद्यानीय-राज-प्रासाद में मरा था। आगरा में ताज के अतिरिक्त और कोई ऐसा भव्य भवन नहीं है जिसके अविभाज्य एवं अपरिहार्य विशेषण के रूप में उद्यान इतना महत्वपूर्ण बन चुका हो। शाहजहाँ से चार पीढ़ी पूर्व बाबर जिस उद्यानीय-राजप्रासाद में मरा, वह ताज के अतिरिक्त और कोई दूसरा नहीं था।

(३५) अपनी आगमों की प्रारम्भिक यात्राओं पर अकबर खवासपुरा और जयसिंहपुरा में ठहरा करता था। यह स्पष्ट प्रदर्शित करता है कि वह ताज से ठहरता था। भवन की भव्यता की विद्यमानता के होते हुए भी वह बड़ा व्यापक रूप में न रह पाया क्योंकि इसकी सुरक्षा-संरचनाएँ निरन्तर आक्रमणों के कारण तहस-नहस कर दी गयी थीं। और स्वयं अपने ही पुत्र ने लगाकर अन्य सभी लोगों द्वारा धुंलित अकबर किसी गैर-मोर्षाबन्दी के स्थान का राजमहल में रहने की हिम्मत न कर सका।

(३६) बमियर का कहना है कि ताज के सबसे नीचे के कमरे वहाँ में

केवल एक बार ही खुलते थे, और किसी भी गैर-मुस्लिम को उनके भीतर जाने की अनुमति नहीं मिलती थी। यह ताज की भू-तत्वीय मंजिदों के सम्बन्ध में रखी गयी अत्यन्त व्यक्तिगत रहस्यमयता को प्रकट करता है। यह अत्यन्त खेद की बात है कि हमारी सरकार और हमारे विद्वान् ताज की भू-तत्वीय मंजिदों को खोलने, मनवा साफ करने, विद्युत-व्यवस्था करने, सीढ़ियों और कमरों में भरे कूड़े-कचरे को हटाने और इतिहास के अध्ये-ताओं तथा सामान्य नाधारण जनों को इन स्थानों का निर्वाध भ्रमण करने की अनुमति के लिए कोई जागरूकता प्रदर्शित नहीं करते। इस पर लगाये जाने वाले प्रवेश-शुल्क से सरकार को भी पर्याप्त आय होगी, और अन्वेषकों, सामान्य यात्रियों, इंजीनियरों तथा वास्तुकलाविदों को भी इस भव्य तथा कल्पनातीत रचना की भू-तत्वीय अलौकिकता के दर्शनमात्र से ज्ञान-संबन्धन की प्राप्ति होगी। इस प्रकार, यहाँ अन्वेषण की अत्यन्त श्रेष्ठ सामग्री उपलब्ध है। किसी को क्या मालूम कि नीचे ही कहीं अज्ञात विपुल कोष भी दबा पड़ा हो! इस प्रकार सरकार और सामान्य जनता दोनों का हित होता यदि इस ताज के तलघर सभी दर्शनार्थियों के लिए खोल दिये जाएँ।

(३७) 'तारीखे-ताजमहल' दस्तावेज जाली सिद्ध हो गया है।

(३८) ताज के प्रवेश-द्वार विपुल, भारी, कीलदार दरवाजों के हैं।

(३९) ताज के एक ओर एक स्टाई अभी भी विद्यमान है जो सिद्ध करती है कि यह नौ मकबरे में रूप-परिवर्तित होने से पूर्व एक राजप्रासाद ही था।

इस प्रकार के असंख्य संकेत हमारी अपनी धारणा के पक्ष में दिये जा सकते हैं। किन्तु मुझे विश्वास है कि जो कुछ हम ऊपर कह चुके हैं वह यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि शाहजहाँ द्वारा ताज बनवाने की परम्परा-गत तथा इतिहास के बड़े-से-बड़े घोटालों में से एक है। ताज-विभ्रम का सूची-मेदन स्वतः ही मध्यकालीन इतिहास की पिचका देता है। यहाँ हमारे लिए उस महान् इतिहासकार सर एच० एम० डलियट के वे शब्द स्मरण दिलाने श्रेयस्कर होंगे जो उसने मध्यकालीन तिथि-वृत्तों के अपने अष्ट-खण्डीय अध्ययन के आमुष्क में अत्यन्त संगत और स्पष्ट रूप में उल्लिखित किये हैं, कि "भारत में मुस्लिम कालखण्ड का इतिहास अत्यन्त रोचक और



जाम-बुझकर किया गया धोखा है।" दुर्भाग्य से यह कपटजाल इतना दुर्भेद्य है कि बेचारे सर एच० एम० इतिपद भी, यह जानते हुए कि यह एक धोखा है, ताज के कुछ पक्षों पर विश्वास करने के कारण ठगी में आ ही गये। यह कपटजाल इतना पुष्कल रहा कि फ्रयुंसन, विन्सेंट स्मिथ और अन्य इतिहासकार जैसे पश्चिमी और पूर्वी विद्वानों की अनेक पीढ़ियाँ भी इससे ठगी जाती रही हैं। मैं जाना करता हूँ कि भारतीय पाठशालाओं, विद्यालयों और अन्वेषण-संस्थानों में भारतीय इतिहास के नाम से पड़ाये जा रहे कल्पना-रहित कर्णों में अपना मन फँसाए रखने के स्थान पर भारतीय इतिहास के विद्वान्, विद्यार्थी और शिक्षक अब तो कम-से-कम एक स्थान पर बैठेंगे और विचार करेंगे। जब अत्यन्त प्रिय तथा दुस्प्रयुक्त भारतीय-जिहादी वास्तुकला की बरखाबली के आत्मश्लाघा-युक्त सुन्दर पुष्प सशक्त ताजमहल को ही इतिहास के मुगल-युग से अन्वेषण के एक ही धक्के से धकेल दिया है, तब यह सामान्य रूप से मुगल या मुस्लिम कब्रिस्तान समझे जाने वाले अन्य कम महत्त्व के मकबरे को तो स्वतः ही उस दावे से मुक्त करना बेता है, जो आज अनेक मुस्लिमों, बादशाहों, नपुसकों, फौजदारों, कुम्हारों और भिक्षुओं के नाम पर तप्त-भट्ट किये गये, बलात् अधिगृहीत और दबे पड़े हैं और भारत में मुस्लिम शासन के खाने से जब ये समस्त भवन हटा लिये जाते हैं, तब उनका समस्त इतिहास लड़खड़ाता हुआ केवल बूचड़खाना दीख पड़ता है।

ताजमहल के मूल पर डाला गया तथा प्रकाश इस मोहक विषय में पूरी खोज-बोत के लिए आवश्यकता का अंकुर इतिहास और विश्वविद्यालयों के शिक्षकों, प्राध्यापकों, विद्वानों और अध्यापकों के हृदयों में जमा सकने में समर्थ है। साथ ही हमें दृढ़ संकल्प करना चाहिये कि आज जो क्रूर उपहास हमारे इतिहास में किया जा रहा है, वह दूर करेंगे। विवेकपूर्ण जूठों के दुश्मन के नीचे बहि-बहि कर रहीं भारतीय इतिहास-पुष्पात्मा का गौध नकटमोचन करेंगे। क्या हमारे इतिहासवेत्ता समय की पुकार का सुनेंगे अपना क्या हमारी जनता सत्य को सुनने के अपने अधिकार के लिए संघर्ष करेगी? भारत में मुस्लिम कालखण्ड के इतिहास के नाम से आज जो पराधीन-वलाया जा रहा है, वह उसी प्रकार की सामग्री का २६ प्रतिशत है जिस सामग्री में "अरोबिगन नाइट्स" का निर्माण हुआ है।

तथाकथित भारतीय-जिहादी वास्तुकला के विश्वविद्यालयों का पुर्ण पुराना यह तर्क कि ताज उसी गैली का जीता-जागता नमूना है अब उपयुक्त नहीं जाँचता क्योंकि ताज स्वयं एक राजपूती राजप्रासाद है जिसे मुस्लिम मकबरे का रूप दे दिया गया है।

इस उपलब्धि का पक्ष-समर्थन करते हुए, कि ताजमहल १७वीं शताब्दी का मुस्लिम मकबरा होना तो दूर, यह तो चिरकाल से प्राचीन हिन्दू राज-प्रासाद है, ४०५६, मोनरो स्ट्रीट नार्थीस्ट, माइनोपोलिस, माइनेसोटा, यू०-एस० ए० स्थित दि अमेरिकन सोसाइटी फॉर स्कैण्डिनेवियन एण्ड ईस्टर्न स्टडीज़ के अध्यक्ष डा० प्लेगमायर ने लेखक को अपने ६ दिसम्बर, सन् १९६५ के पत्र में लिखा था "इस बेहूदा धारणा को, कि जाहजहाँ ने ताजमहल बनवाया, हम लोग भी बहुत समय से घृणा के भाव से देखते रहे हैं। आपकी विद्वत्तापूर्ण खोजों ने हमारी अपनी मान्यताओं को सम्बल प्रदान किया है। भारतीय इतिहास के एक अत्यन्त विक्षुब्धकारी अध्याय को उस प्रकार नवीन और स्फूर्तिदायी रूप में स्पष्टतापूर्वक प्रस्तुत करने के लिए आप सराहना के पात्र हैं। (ताज की मेरी यात्रा पर) मुझे महान् आश्चर्य हुआ था कि कुछ ऊपरी मुगलिया बातों के होते हुए भी, यह भवन मुस्लिम संरचना नहीं थी। उदाहरण के रूप में ताज के चारों मीनार मुझे हिन्दू-स्थापत्य-कला के उन चित्रों का स्मरण दिलाते थे जो मैंने उन दिनों 'राजपुताना' नाम से पुकारे जाने वाले प्रदेश में देखे थे। साथ ही, अष्टकोणीय शंकर मूल रूप में निश्चित ही हिन्दू रूप था।"

### मयूर सिंहासन

प्राचीन हिन्दुओं का मयूर सिंहासन, जिसे लुटेरा नादिरशाह मुक्त रूप से ईरान ले गया था, अब अस्तित्व में नहीं है। मूर्तिभंजन से सम्बद्ध इस्लामी-आक्रोश में यह सिंहासन टुकड़े-टुकड़े कर दिया गया था, और इसकी स्तंभों की धाली तथा रत्न छीन लिए गये अथवा लोगों को बाँट दिये गये थे। यदि ठीक प्रकार से जाँच की जाय, तो पश्चिमी एशिया में बादशाहों और सरदारों के घरों से इस प्राचीन सिंहासन के अवशेष कदाचित् अभी भी मिल जाएँ। ईरान की यात्रा से आने वाले सज्जन यह भाव मन में जमाकर आते हैं कि



वहाँ के साही खजाने में सुरक्षित वस्तुओं में से तख्ते-ताऊस (जिसका शाब्दिक अर्थ मयूर-सिंहासन है) वही सिंहासन है जो नादिरशाह ने बलात् अपने कब्जे में कर लिया था और जिसको उसने ईरान भेज दिया था। किन्तु वर्तमान तख्ते-ताऊस एक विशाल पर्यंक जैसा है जिसमें मोर का कोई भी चित्र नहीं है। इसका 'ताऊस' नाम किसी पक्षी के अनुकरण पर न होकर एक पूर्वकालिक ईरानी शासक की 'ताऊस' नामक प्रेयसी के नाम पर पड़ा है, जो उस महिला से उस सिंहासन पर प्रेम-विहार किया करता था।

घटनावश ही, मयूर सिंहासन उसी जमसिंह परिवार से सम्बन्ध रखता था जिसने ताऊ पर अन्त में स्वामित्व किया। पशु-भूतियों सहित सिंहासन बनाने का आदेश देना तो मुस्लिम बादशाहों के लिए अत्यन्त धर्म-विरोधी कार्य था। शाहजहाँ कालीन शासन के अनधिकृत अभिलेखों में सिंहासन और ताऊ, दोनों ही एक ही समय में प्रविष्ट हुए हैं। (ताजमहल नाम से पुकारा जाने वाला) भव्य राजप्रासाद जावज्जमान रत्नजडित सिंहासन के लिए बिल्कुल उपयुक्त प्रकार की व्यवस्था थी।

### आगरा की तथाकथित जामा मस्जिद

आगरा के भीड़-भाड़-पूर्ण नगर के मध्य में एक बड़ा दुर्ग है जिसकी ऊँची, पत्थर की दीवारें हैं। अब यह मुख्य (जामा) मस्जिद कहलाती है। किन्तु इसकी पत्थर की दीवारों की ऊँचाई-स्वयं तथा इसके विशाल तलधर जैसे अन्य लक्षण स्पष्ट संकेत करते हैं कि यह किसी पूर्वकालिक राजपूत का किला अथवा उसके कुलदेवता का मन्दिर ही हो सकता था। मध्यकालीन युग में प्रायः समस्त भारत के ही प्रमुख हिन्दू-देवालय बलात् छीन लिए गये थे, और मुख्य मुस्लिम मस्जिदों अर्थात् जामा मस्जिदों में बदल दिये गये थे। इनपर उन्नीत फलक, जो घोषित करता है कि इसका निर्माणदेश जलनारा से दिया था, एक अश्रिप्तांश प्रतीत होता है।

### फतहपुर सीकरी

आगरा से लगभग २० मील की दूरी पर एक पहाड़ी की चोटी पर निम्न लाल पत्थर का एक भव्य और विशाल राजप्रासाद-संकुल स्थान

'फतहपुर सीकरी' के नाम से पुकारा जाता है। प्रचलित भारतीय इतिहास ग्रन्थ और भ्रमणाधियों का साहित्य बहुविधि घोषित करते हैं कि यह शाहजहाँ नगरी, सन् १५५६ से सन् १६०५ तक भारत के एक विशाल भाग पर शासन करने वाले, मुगल वंश के तृतीय बादशाह अकबर ने बसायी थी।

चूँकि भारत भर में सर्वत्र फैले हुए प्रचलित सभी मध्यकालीन स्मारक, यद्यपि वे सभी मुस्लिम-पूर्व काल के उद्गम हैं, उस या उस मुस्लिम शासक के माथे भूल से जोड़ दिये गये हैं, इसलिए यह कोई आश्चर्य नहीं है कि फतहपुर सीकरी की शाही नगरी का भी वही भाग्य रहा। किन्तु यह मित्र करने के लिए अपार साध्य उपलब्ध हैं कि अपने प्रचलित लाल पत्थरों के स्मारकों सहित फतहपुर सीकरी एक राजपूती नगरी थी जो अकबर से शताब्दियों पूर्वकाल में निमित्त हुई थी। यद्यपि यह विषय एक पृथक् पुस्तक के लिए ही उपयुक्त होगा तथापि उपलब्ध साध्य की विपुल मात्रा के आधार पर उस साध्य का एक स्थूल विवेचन ही सामान्य पाठक और एक अन्वेषक, दोनों को ही समान रूप में उस बात का आधार प्रस्तुत कर देगा कि उसे अपने मानस से यह परम्परागत धारणा बाहर निकाल फेंकनी चाहिए कि फतहपुर सीकरी अकबर अथवा इस दृष्टि से किसी भी अन्य मुस्लिम बादशाह ने निमित्त की थी। हमारे साध्य के प्रमुख प्रमाण निम्न प्रकार एकत्र किए जा सकते हैं—

(१) अकबर ने पूर्व शासन करने वाले शासकों से सम्बद्ध अनेक मुस्लिम तिथिबन्नों में इस नगरी के सम्बन्ध में 'फथपुर', 'सीकरी' और 'फथपुर सीकरी' के नाम में भी अनेक बार उल्लेख हुआ है।

(२) न्यायाधीश जे० एम० गैलट द्वारा लिखित और भारतीय विद्या-भवन, बम्बई द्वारा प्रकाशित "अकबर" शीर्षक ऐतिहासिक पुस्तक के ८२वें पृष्ठ के सम्मुख एक फलक दिया गया है जिनके चित्र का शीर्षक है "हमारे की टुकड़ियाँ फथपुर में प्रवेश कर रही हैं।" यहाँ स्मरणीय यह है कि हमारे अकबर का पिता था। यह चित्र इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि फथपुर (सीकरी) अकबर ने पूर्व विद्यमान थी।

(३) बाबर के स्मृति-ग्रन्थों में उल्लेख है कि पहाड़ी से दीख पड़ने वाली फतहपुर सीकरी के चारों ओर ही, भारत में मुगलवंश संस्थापक



बाबर और राणा सांगा के मध्य निर्णायक युद्ध लड़ा गया था। राणा सांगा को नगरी की सहारसीवारी से बाहर आना पड़ा था क्योंकि घेरा डालने वाली सत्र-सेना देहातों को रौंद रही थी, निर्दोष नागरिकों को कत्ल कर रही थी, और नगरी के प्रमुख जल-भंडार अनूप झील को विषमय बना रही थी। चूंकि राणा सांगा युद्ध लड़ने के लिए नगरी के बाहर आये थे, इसीलिए बाबर ने कहा है कि युद्ध पहाड़ी के निकट ही लड़ा गया था।

(४) बेशक राणा सांगा कदाचित् तर्क करने लगे कि वह लड़ाई तो कुछ ही मील दूर कनवाहा में लड़ी गयी थी, किन्तु यह पूर्ण सत्य नहीं है। कनवाहा की लड़ाई तो बाबर की फौजों और राणा सांगा की सेना की एक टुकड़ी का प्रारम्भिक संघर्ष भर थी। अन्तिम निर्णायक युद्ध तो कुछ दिनों के पश्चात् फतहपुर सीकरी के चहुँ ओर लड़ा गया था जिसमें स्वयं राणा सांगा ने अपनी सेना का नेतृत्व किया था।

(५) सम्पूर्ण नगरी और समतल मैदान के सैकड़ों एकड़ को परिवेष्टित करने वाली विनाल प्राचीर अभी भी गोलामारी के चिह्नों से युक्त है। ईकरी में टरारी बाने छेद बाबर की सैन्य-टुकड़ियों द्वारा राणा की सुरक्षा-वर्तियों पर बन्दूकों के आक्रमण के प्रमाण हैं।

(६) 'अकबर इस प्रकार ध्वस्त हुई नगरी में रहा था'—इसका प्रमाण ब्रिटिश सम्राट् के उस प्रतिनिधि द्वारा मिलता है जो अकबर की मृत्यु के पश्चात् जहाँगीर के सिंहासनारुढ़ होने के बाद उसके पास आया था। उन प्रतिनिधि ने लिखा है कि नगरी ध्वस्त हो चुकी थी। यह भी मान लिया जाय कि इस नगरी का निर्माण अकबर द्वारा हुआ था, तो भी जब इन इसके सभी मुख्य स्मारकों को अक्षत पाते हैं जैसे कल ही बने हों, तो यह समझ में नहीं आता कि यह नगरी जो सन् १५५३ में पूर्ण हुई विश्वास की जाती है, किस प्रकार केवल २३ वर्ष में ही ध्वस्त हो गयी। जब वह अंग्रेज जहाँगीर के पास आया। वाक्य का यह अर्थ स्पष्ट करता है कि अकबर अपने विजयद्वारा कुछ दशक-पूर्व ही ध्वस्त की गयी राजपूती नगरी में ही रहता रहा था।

(७) एक अन्य अंग्रेज—राल्फ फिच—फतहपुर सीकरी सन् १५८३ में सितम्बर मास में आया था। अपनी यात्रा के जो टिप्पण वह छोड़ गया

है, उनमें उसने आगरा और फतहपुर सीकरी की परस्पर तुलना की है, जो इस बात का द्योतक है कि वह दोनों नगरों को ही प्राचीन मानता था। जैसा कि मुस्लिम लिखितों में झूठा दावा किया गया है, यदि फतहपुर सीकरी सन् १५५३ ई० के आसपास बनी बिल्कुल नयी नगरी रही होती तो उसने वैसा ही कहा होता और उन दोनों नगरों की तुलना न की होती। वह यह भी कहता है कि व्यापारी अपनी बहुमूल्य सामग्री बेचने के लिए फतहपुर सीकरी में जमा हुआ करते थे। यह टिप्पण भी इस बात का द्योतक है कि यह व्यापार-संगम एक प्राचीन प्रथा थी। यदि फतहपुर सीकरी एक नयी नगरी ही होती, तो फिच ने इसकी तुलना प्राचीन आगरा से कभी न की होती—कम-से-कम फतहपुर सीकरी का नयी नगरी के रूप में विशेष नामोल्लेख तो अवश्य ही किया होता।

(८) फतहपुर सीकरी के बाहर (अब शुष्क पड़ी) विनाल झील का सम्बन्ध (अनूप) नाम भी सिद्ध करता है कि यह मुस्लिम-पूर्व काल में राजपूतों द्वारा बनायी गयी थी।

(९) यह तथ्य भी, कि अनूप झील सन् १५५३ में फूटकर वह निकली और अन्त में विषण्ण होकर अकबर को वह नगरी सदैव के लिए छोड़ देनी पड़ी, विचार प्रस्तुत करता है कि अनेक दशाब्दियों से यह झील देखभाल और मरम्मतदि से उपेक्षित रही प्रतीत होती है (जबसे बाबर ने इसे रौंदा और फतहपुर सीकरी को अपने अधीन किया था)। यदि फतहपुर सीकरी के जल-भंडार के रूप में यह नयी-नयी ही बनी थी, तो इसके फूटकर वह निकलने की बात न होती।

(१०) फतहपुर सीकरी के निर्माण-प्रारम्भ का समय परम्परागत मुस्लिम लिखित इसा पश्चात् १५६४, १५६८, १५७० और १५७१ बताते हैं। ये विभिन्न वर्णन स्वयं ही असत्यता को सिद्ध करते हैं।

(११) वे उल्लेख करते हैं कि नगरी सन् १५५३ के आसपास पूर्ण हो गयी थी। यदि ऐसा हुआ, तो उसने इसे सन् १५८५ तक छोड़ क्यों दिया? वास्तविक कारण यह था कि झील के सन् १५५३ के उफान ने अकबर के लिए प्राचीन राजपूती राजप्रासाद में रहना असम्भव कर दिया। यदि अकबर ने ही इस नगरी और झील, दोनों का निर्माण सन् १५५३ के आस-



पास पूर्ण कराया होता तो प्रथम बात यह है कि सन् १५८३ ई० में ही झील रुट न गई होती और दूसरी बात यह है कि अकबर ने इस नये निर्मित राज-प्रासाद-सकुल को त्याग देने के स्थान पर इस झील की मरम्मत करायी होती। किन्तु अकबर को यह त्यागनी ही पड़ी क्योंकि उसे झील की मरम्मत कराने का कुछ भी ज्ञान न था।

(१२) जहाँ पर हाथीपोल (गज-द्वार) झील में खुलता है, वहीं पर एक छोटा स्तम्भ है जिसमें एक चक्रदार सीढ़ी भी है। स्तम्भ में बीसवीं प्रस्तरदीप है। यह एक परम्परागत हिन्दू दीप-स्तम्भ है जो मन्दिरों और राजप्रासादों के सामने होता था। इन टोकी पर मिट्टी के दीपक रखे जाते थे। जलमग्न-जगमग दीप पड़ने के कारण यह दीप-स्तम्भ "हिरण्यमय (स्वर्णमय)" कहलाता था। वही संस्कृत शब्द अब विदग्धतापूर्वक "हिरन-मोक्षर" में बदल दिया गया है जिसमें वह जाली अकबर-कथा में ठीक बैठ जाये, और स्तम्भ अकबर के प्रिय हिरण के मरण-स्थान के रूप में माना जाता है। क्या अकबर के हिरण ने मरने के समय अपनी अन्तिम इच्छा प्रकट की थी कि उसको एक चक्रदार सीढ़ी-युक्त हिन्दू-दीप-स्तम्भ के रूप में स्मारक में स्थान दिया जाय ?

(१३) हाथीपोल दरवाजे के निकट दो बड़े हाथियों की विशालकाय मूर्तियाँ अपने राजपूती मूल की शान्ति-जवाक् साक्षियाँ हैं। प्रस्तर गज-मूर्तियों के शीर्ष लोढ़ डाने गये हैं। उनकी सूँडों की प्रवेशद्वार पर मेहराब बना करती थी जैसा कि आज भी राजपूती रियासत की राजधानी कोटा के राजमहल में है। इसी प्रकार के गज-द्वार चित्तौड़ में और आगरा व दिल्ली के लाज-महल में हैं। इस्लाम तो सभी मूर्तियों से विद्वता है। और भी बात यह है कि गज तो हिन्दू धार्मिक आम्ना और इतिहास में सर्वत्र श्रेष्ठता और ईश्वरी शक्ति, बल और यश का प्रतीक रहा है। यह त्रिजिह्वा लिये हुए भारतीय पशु भी है। यह सिद्ध करता है कि फतेहपुर सीकरी का हाथीपोल दरवाजा तो बनाना दूर, अकबर ने उन हाथियों के शीर्ष कटवा दिये थे और उनकी जगह मेहराबदार सूँडे मुड़वा दी थी।

(१४) इसी प्रकार की मूर्ति-भञ्जकता फतेहपुर सीकरी के अन्दर के

अनेक भवनों में परिलक्षित की जा सकती है जहाँ दीवारों पर बने सद्गुरु जी चित्रों को तराश दिया गया है।

(१५) अण्णों के लिए अश्वशाला और गजों के लिए गजशाला सहित परस्पर गुंफित अलंकृत हिन्दू कलाकृति और लक्षणों-युक्त यह सम्पूर्ण नगरी ही परम्परागत राजपूती शैली में है।

(१६) इसके नाम और समुच्चयों की संज्ञा भी लगभग पूर्ण रूप में हिन्दू ही है; यथा पंचमहल, जोधाबाई का महल, तानसेन महल, बीरबल महल आदि। यह प्रदर्शित करता है कि विदेशी मुस्लिम सरदार अपनी धार्मिक मान्यताओं के कारण उन अलंकृत भवनों को उपयोग में न ला सके।

(१७) तथाकथित सलीम चिश्ती का मकबरा अलंकृत रूप में अन्दर खुदाई किया हुआ संगमरमर का हिन्दू मन्दिर है। इसके भीतर पूरी तरह बेल-बूटों से युक्त एक संगमरमर का स्तम्भ है जिसको मूलरूप में सत्य ही मकबरे में कोई स्थान उपलब्ध न होता।

(१८) भारतवर्ष में कहीं भी किसी मुस्लिम फकीर के मकबरे का अस्तित्व स्वयं ही प्रमाण है कि वह स्थान पर एक प्राचीन भारतीय नगरी है, क्योंकि मध्यकालीन मुस्लिम फकीर ध्वस्त स्मारकों में ही अपने निवास की व्यवस्था कर लिया करते थे। दिल्ली में निजामुद्दीन और बखिपार काकी के मकबरे और अजमेर में मोइनुद्दीन चिश्ती की दरगाहों का सर्वेक्षण कर इस तथ्य को सत्यापित किया जा सकता है।

(१९) तथाकथित बुलन्द दरवाजे और शाही दरवाजे के पार्श्वस्थ विशाल चतुष्कोण में सलीम चिश्ती की कब्र के साथ-साथ बीसियों और भी कब्रें हैं। इसके बिल्कुल ही निकट शाही राजमहल है। यदि अकबर ने यह नगरी बसायी होती, तो क्या वह उस भव्य, विशाल, पट्टीदार चतुष्कोण को कब्रिस्तान में बदल देने की अनुमति दे सकता था ? क्या कभी कोई बादशाह अपने सिराहने ही किसी भयौत्पादक कब्रिस्तान को पसन्द करेगा ? स्पष्टतः वे कब्रें उन मुस्लिम शोड़ाओं की हैं जो बाबर के समय में नगरी को ध्वस्त करने के कार्य में वहाँ लेत रहे थे अथवा उन फकीरों की हैं जो बाद में उन खण्डहरों में आ बसे थे। यह भी सन्देहात्मक है कि शेर सलीम चिश्ती



सबसे बड़ा एकनामा हुआ है भी या नहीं, क्योंकि उसकी कब्र अन्य सभी खिकोणात्मक मृदाश्रयों से बिल्कुल भिन्न प्रतीत होती है।

(२०) उसी बड़े चतुष्कोण का एक बरामदा भी मस्जिद नाम से पुकारा जाता है। यह भी सिद्ध करता है कि मस्जिद—कब्रिस्तान—शाही पुकारा जाता है। यह भी सिद्ध करता है कि मस्जिद—कब्रिस्तान—शाही चतुष्कोणमय ऊँचे भवन द्वारों से युक्त यह गोलभाल जान-बूझकर किया हुआ, बनात अधीन किये हुए राजपूत नगर का एक साथ किया हुआ उप-योगी रूप है। ई० उल्लू० निम्न तथा अन्य पश्चिमी इतिहासकारों ने लिखा है कि इस तथाकथित मस्जिद में इसकी गूढ़ कलाकृति में अनेक हिन्दू चिह्न प्राप्त हैं। परिधि का एक सूक्ष्म विवेचन प्रदर्शित करता है कि विशाल चतुष्कोण बाबर द्वारा नगरी अधीन किये जाने से पूर्व राजपूत राजवंश की पावसाता तथा भोजनालय कक्ष था।

(२१) पंचमहल के सम्मुख विशाल चतुष्कोण में पटरीदार लाल पत्थर के फलों पर चौपड़ खेल की रेखाएँ बनी हुई हैं। चौपड़ खेल अनादि काल से प्रचलित हिन्दू-भूतक है। मध्यकालीन युग में यह सर्वप्रिय मनोरंजन का साधन था। मुस्लिम घरानों में चौपड़ कभी नहीं खेला जाती। यह चिह्न भी सिद्ध करता है कि यह नगरी राजपूतों द्वारा बनायी-बसायी गयी थी।

(२२) 'सीकरी' शब्द संस्कृत का मूल है। संस्कृत में 'सिकता' का अर्थ गेहूँ है। रेतोले राजस्थानों खण्ड में इसी के कारण एक प्रमुख स्थान 'सीकर' नाम से पुकारा जाता है। सीकर का अत्यल्प स्त्रीवाचक शब्द 'सीकरी' है। सीकर से आये हुए व्यक्तियों के लिए 'सीकरी' नामक नगरी बसाना बिल्कुल सामान्य बात है। यह इस तथ्य का संकेतक है कि फतहपुर सीकरी के मूल सम्स्थापक सीकर के किसी राजपूत परिवार के व्यक्ति रहे होंगे। 'पुर' प्रत्यय भी संस्कृत में बस्तों का सूचक है। 'फतह' उपसर्ग विजित नगरी का सूचक है। अतः मूल्यम-उपसर्ग 'फतह' स्वयं ही इस बात का प्रमाण है कि फतहपुर सीकरी एक पूर्वकालीन राजपूत नगरी है जो आक्रमण-कारी विदेशियों द्वारा विजित हुई।

(२३) पंचमहल के सम्मुख चतुष्कोण में विशाल अजगर जैसे उत्तर्जित लाल पत्थर की मेहराब से अलंकृत एक ऊँचा पत्थर का चबूतरा

है। यह उच्चासन राजपूतों आसन में राजकीय हिन्दू ज्योतिषी के बैठने के लिए बना था। उस मेहराब पर गजेन्द्रमोक्ष जैसे हिन्दू-धार्मिक उपाख्यान उत्कीर्ण है।

(२४) चतुष्कोण की दूसरी दिशा में ज्योतिषी के उच्चासन के सामने ही पत्थर की जल-घड़ी है जो सभी हिन्दू-श्रविय और ब्राह्मण घरों में समय का ज्ञान करने के लिए प्रयुक्त होती रही है।

(२५) अकबर के शासन-काल के अभिलेखों में कागज का एक टुकड़ा भी ऐसा नहीं है जो सिद्ध करता हो कि फतहपुर सीकरी नगरी बसाने की आज्ञा दी गयी हो, रूप-रेखांकन हुआ हो, सामग्री के लिए आदेश दिये हों, श्रमिकों को मजदूरी दी हो अथवा दैनिक लेखा रखा गया हो। यदि अकबर ने वास्तव में इतनी बड़ी नगरी-निर्माण का आदेश दिया होता, तो अभिलेखों के अम्बार अथवा कुछ फटे-पुराने टुकड़े मुगलों के उन अभिलेखों में मिलते ही जो ब्रिटिश लोगों ने अपने कब्जे में ले लिये।

(२६) अकबर के दरबार में तत्कालीन ईसाई पादरियों ने लिखा है कि किसी भी पत्थर-फोड़े के तराशने का स्वर कानों में नहीं पड़ा और न ही किसी सामग्री का भण्डार कहीं दीख पड़ा था। अतः इसका अर्थ है कि यदि नगरी अकबर द्वारा बसायी भी गयी थी, तो यह रातों-रात मानो जादू से बन गयी होगी, जिसमें दूर-दूर से, विशेष आकार के उपयुक्त लम्बाई-चौड़ाई के पत्थर चुपचाप गड़े-गढ़ाए लगा दिये गये। एक पूर्ण नगरी, सम्पूर्ण सामग्री का चिह्नमात्र भी बाहर दीखे बिना ही, रातों-रात तैयार हो जाए, यह तो भावुकता का, कल्पना-वृत्ति का दिवालियापन है, केवल बेवकूफी है। स्पष्ट बात यह है, कि अकबर के खुशामदी दरबारियों की प्रबन्ध बातों में आ जाने के कारण ही इन ईसाई पादरियों ने—जो उन दरबारियों की भाषा शायद ही समझ पाए हों—अपनी मध्यकालीन साधारण-वृत्ति और जादू में विश्वास करने के कारण—निश्छल रूप में यह टिप्पण कर दिया है। किन्तु भारतीय इतिहास को झूठा बनाने के मध्यकालीन खेल को देख लेने के कारण यह टिप्पण अब हमारे लिए अत्यधिक महत्त्व का सिद्ध हो रहा है।

(२७) अकबर द्वारा फतहपुर सीकरी का निर्माण प्रारम्भ किए जाने वाली मनमोहन तिथियों से भी पहिले, इतिहास में यह उल्लेख मिलता है कि



अकबर अपनी पत्नियों को प्रजनन-प्रसूती के लिए फ़तहपुर सीकरी भेज दिया करता था। यह स्पष्ट रूप में दर्शाता है कि अकबर के शासन के प्रारम्भिक काल में भी फ़तहपुर सीकरी में नरेशोचित भवन थे, जो शाही बंसलों के प्रजनन-प्रसूती के लिए परम उपयुक्त थे। इस अति स्पष्ट बात के होते हुए भी, कि अकबर का शासन-काल प्रारम्भ होने के समय भी फ़तहपुर सीकरी राजशासदीय-सकुल विद्यमान था, झूठे अभिलेखों में यह सक्कारी से ठस दिया गया है कि अकबर की पत्नियाँ सलीम चिश्ती की गुफाओं में जाह्ज़ादों को जन्म दिया करती थीं। यह कहना ही बिल्कुल झूठ है कि सलीम चिश्ती गुफा में रहा करता था। जैसे सभी मुस्लिम फ़कीर रहा करते थे, उसी प्रकार वह भी राजशासदीय ध्वंसावशेषों में निवास करता था। दूसरी बात यह भी हृदय में अनुभव करने की है कि अकबर की पत्नियाँ कोई ज़ेरनियाँ तो थीं नहीं जो गुफाओं में शावक-समूहों को जन्म देती। तीसरी बात यह है कि यह कहना कि अकबर अपनी पत्नियों को सलीम चिश्ती के पास प्रजनन के लिए भेजता था, स्वयं में ही अत्यन्त विचित्र है, क्योंकि कुछ भी हो, यह निश्चित है कि सलीम चिश्ती कोई प्रमाणित निर्याम्यासी दाई तो था नहीं !

(२८) प्रचलित झूठे वर्णनों के अनुसार फ़तहपुर सीकरी, सन् १५७० में १५८३ के मध्य बन ही रही थी, और कमाल यह है कि ठीक इसी अवधि में वह अकबर की राजधानी भी रही। बन रही नगरी में अकबर किस प्रकार रह सकता था ?

(२९) इतिहास उल्लेख करता है कि अकबर ने इस नगरी को सन् १५८१ में सदैव के लिए छोड़ दिया था, और केवल सन् १६०१ में एक बार जलपराधि के लिए वहाँ आया था। यह तो बिल्कुल ही बेहूदा बात प्रतीत होती है कि जब १५ वर्ष तक नगरी का निर्माण होना रहा, चहुँ ओर विजय नामची के डेर भरे रहे, तब तो एक बादशाह वहीं बना रहा, और जब वह नगरी बनकर तैयार हो गयी, तब उस नयी-नवेली नगरी को एकदम छोड़कर वह दूर चले पड़ा। इसमें केवल यही सिद्ध होता है कि अपने पिता-महाराज द्वारा गढ़-राज्य एवं अधिगृहीत राजपूत राजशास्य में ही अकबर रहता रहा। उसे वह सन् १५८५ में छोड़ना पड़ा क्योंकि सन् १५८३ के अन्त में

झील के फ़ूट जाने के कारण फ़तहपुर सीकरी में जीवन असम्भव हो गया।

(३०) अकबर के सिंहासनारूढ़ होने से तीन दशाब्दी पूर्व आबर व राणा सांगा के मध्य लड़े गए अन्तिम युद्ध का स्पष्ट प्रमाण पहाड़ी व निकटवर्ती मैदान को परिवेष्टित करने वाली विशाल बाह्य प्राचीर में दरारमय छेद हैं।

इस प्रकार का विपुल साक्ष्य होते हुए भी, प्रचलित ऐतिहासिक ग्रन्थों और यात्रा-सम्बन्धी साहित्य में कालदोष-विषयक यह बात कहते रहना कि फ़तहपुर सीकरी—जो वास्तव में हिन्दू नगरी है—अकबर द्वारा आज्ञापित थी, भयंकर भूलों से भरे हुए भारतीय इतिहास-परिशोध की एक बहुत बड़ी और घोर दृष्टि का अत्यन्त विस्तुब्धकारी उदाहरण है।

अकबर के राज्यकाल का सम्पूर्ण नाटक, सन् १५५६ से १५८५ तक, फ़तहपुर सीकरी में ही सम्पन्न होता है, फिर भी इतिहासकार तथा चापलून वृत्तकार चाहते हैं कि हम विश्वास करें कि फ़तहपुर सीकरी कम-से-कम सन् १५८३ तक तो निर्माणाधीन ही थी।

यदि फ़तहपुर सीकरी सन् १५८३ तक निर्माणाधीन रही होती तो अकबर से यही आशा की जा सकती थी कि वह अपनी राजधानी को 'इस नवनिर्मित' नगरी में शीघ्र ही ले गया होता। इसकी अपेक्षा हम पाते यह है कि अकबर, अपने समस्त तामझाम सहित, अपना सारा कार्य-संचालन फ़तहपुर सीकरी से ही करता रहा है, और वह भी उसी अवधि में जिस अवधि में फ़तहपुर सीकरी को झूठे ही निर्माणाधीन कहा जाता है।

फिर एक और झूठा बेहूदा वर्णन आता है। वह यह है कि जब वह "विशेष आदेशों से" बनायी जाने वाली नगरी पूर्णरूप में सन् १५८३ में तैयार हो गई, तब उसको सन् १५८५ में अकबर ने सदैव के लिए त्याग दिया।

हम यह भी सुनते हैं कि अकबर १६ वर्ष की आयु में अर्थात् सन् १५६१ ई० में फ़तहपुर सीकरी से अजमेर के लिए रवाना हुआ था। वापिस आते समय अकबर ने जयपुर के शासक भारमल को विवश किया कि वह अपनी पुत्री अकबर के हरम के लिए साँप दे। उसके पश्चात् प्रत्येक महत्त्वपूर्ण सैनिक अभियान की पूरी तैयारी फ़तहपुर सीकरी में ही की गयी थी और



वहाँ से उसको बाहर भी भेजा गया था। इसी प्रकार गढ़ाई करके लौटने वाली सेनाएँ भी अकबर को पूरी जानकारी देने के लिए फ़तहपुर सीकरी ही वापिस आती थीं।

अकबर के समकालीन वर्णन हमको यह भी बताते हैं कि अपनी इतनी प्रारम्भिक युवावस्था में ही अकबर ने ५००० से अधिक औरतों का हरम फ़तहपुर सीकरी में रखा हुआ था। इन सब औरतों को ठीक प्रकार से भिन्न-धरो में रखा हुआ था। अकबर ने फ़तहपुर सीकरी में अनेक पिजड़ों में जमाना जानवरों का पशु-संग्रह भी रखा हुआ था।

फ़कीर शेरख़ान सलीम चिश्ती का भाई इब्राहीम, जो महाराणा प्रताप के विरुद्ध गढ़ाई में अतिरिक्त कुमुक के साथ भेजा गया था, शेरख़ान इब्राहीम फ़तहपुरी के नाम से पुकारा जाता था। वह तबतक 'फ़तहपुरी' नाम से नहीं पुकारा जाता, जबतक कि उसका परिवार पीड़ियों से फ़तहपुर (सीकरी) में बस न गया होता। इब्राहीम और उसका फ़कीर भाई सलीम चिश्ती फ़तहपुर सीकरी में इतने पूर्व समय से बसे हुए थे कि 'फ़तहपुरी' नाम से पुकारे जाने लगे थे। यह भी सिद्ध करता है कि अकबर द्वारा बसायी जाने की कोशिश ही क्या, फ़तहपुर सीकरी नगरी तो उसके सैकड़ों वर्ष पूर्व भी विद्यमान थी। अतः यह तो पूरी बनी हुई राजपूत नगरी थी जिसे अकबर ने अपने अधीन कर लिया था।

यदि नगरी 'निर्माणाधीन' ही थी, तो एक सम्राट् उसमें अपना दरबार कैसे लगा सकता था, अन्य देश के दूतों का स्वागत और उनके ठहरने का प्रबंध कहाँ करता, धार्मिक समारोहों का आयोजन कैसे करता, सेना को कैसे सही तैयारता, एक बड़ा भारी हरम बनाए रहता और एक जन्तु-संग्रहालय की जगह काय रखे रहता? और यदि वह नगरी 'निर्माणाधीन' ही थी, तो अकबर ने इसे सन् १५८३ ई० में, अर्थात् लगभग इस नगरी के निर्माणोपरांत ही क्यों त्याग दिया?

इस प्रकार की बेहोशियों से इतिहास-लिखकों, विद्यार्थियों, विद्वानों, और सामान्य जनता को भी इस तथ्य की ओर सजग हो जाना चाहिए कि अकबर द्वारा फ़तहपुर सीकरी का निर्माण घोषित करने वाले सभी परम्परा-गत बयान अकबर-प्रशंसक प्रचारित भ्रम हैं। उसने तो केवल एक अपहृता

राजपूती नगरी में सब तक अधिवास किया जब तक इसका विशाल, क्षति-ग्रस्त जलमण्डार सुचारु रूप से कार्य करना रहा। जब वह जलमण्डार फूट-कार वह चला, तब अकबर को भी संसंकोच सन् १५८५ में अपनी सारी फ़ौज-फाटा सहित वह स्थान सदैव के लिए छोड़ देना पड़ा।

## आगरा-दुर्ग

आगरा में अन्य महत्वपूर्ण भवन लाल पत्थर का किला है। चूँकि अग्र (Agra) एक संस्कृत नाम है, और मुस्लिम लोगों के भारत में आने से पूर्व राजपूत शासकों की समृद्धिशाली राजधानी थी, इसलिए इसमें दुर्ग तो होना ही था। वह किला तो बना ही राजपूत शैली में है। वहाँ के शैलीपूर्ण दीवानेख़ास और दीवानेआम कक्षों का स्थापत्य (जयपुर के निकट) आमेर के किले के अन्दरूनी भागों से न केवल बहुत ही अधिक साम्य रखता है, अपितु हिन्दू मण्डप-आकार पर है। किसी मुस्लिम शासक के पास कभी भी न तो इतना समय ही था और न ही उसके पास इतना धन था कि इतना बहुमूल्य दुर्ग बनवाए। इसके द्वारों के नाम भी हिन्दुओं के नामों पर हैं यथा "अमरसिंह द्वार", "हाथीपोल द्वार"। द्वारों पर, पूर्ण राजाधिकारों से युक्त अश्वारोही और गजारोही राजपूत नरेशों की मूर्तियाँ थीं।

इसका स्पष्टीकरण यह कहकर देना बेहूदा है कि अपनी सेना के विरुद्ध चित्तौड़-दुर्ग की सुरक्षा-प्रतिरक्षा हेतु वीरतापूर्वक युद्ध करते हुए मृत राजकुमारों के स्वर्ग सिंघार जाने पर उनके शौर्य से प्रसन्न होकर अपनी विशाल हृदयतापूर्वक ही अकबर ने उनकी अभ्यर्थना करते हुए इनकी मूर्तियाँ बनवा दी थीं। ये मूर्तियाँ तो पूर्वकालिक राजपूत नरेशों की थीं, और अकबर के सिंहासनारूढ़ होने से शताब्दियों पूर्व ही यह किला बन चुका था।

आगरा-दुर्ग दिल्ली के लालकिले का सहोदर है। एक का श्रेय अकबर को और दूसरे का श्रेय शाहजहाँ को देना गलत है। जब भी कभी वे बने थे, वे हिन्दू शासकों द्वारा ही बने थे। ऐसा कोई आधिकारिक लिखित प्रमाण उपलब्ध नहीं है जिससे यह दावा सिद्ध होता हो कि ये दोनों किले मुसल-



बादशाहों ने बनवाए थे। इस दावे पर विश्वास करने में इतिहासकारों ने निर्धारण की भयंकर भूल की है।

इन दोनों ही किलों में उनकी मेहराबों पर प्रस्तर-पुष्पक-लक्षण है। दीवाने-कास और दीवाने-काम कक्षों का स्थापत्य असकृत हिन्दू मण्डल शैली का है। इनमें बग़ाट चबूतरों वाली छतें हैं, और कोई भी गुम्बद अथवा मीनारें नहीं हैं। मक-मूर्तियाँ दोनों ही द्वारों पर सुशोभित हैं। चूँकि इस्लाम तो मूर्तियों के नाम-मात से भी कुपित होता है, इसीलिए मुस्लिम बादशाह ऐसे किले कभी नहीं बना सकते थे जिनमें हाथियों की मूर्तियाँ हों।

आगरा-दुर्गम्य हाथियों की पूर्ण राजकीय सज्जा थी, और उनके ऊपर राजचिह्नों से युक्त राजपूत-नरेश आरोही थे। उनकी तल्लथानीय विद्यमानता का स्पष्टीकरण यह कहकर देना निपट उपहासास्पद है कि जब अकबर ने चित्तौड़ का घेरा डाला, तब कुछ राजपूत राजकुमारों की मृत्युपरान्त उनके जीवों से प्रसन्न होकर उनकी स्मृति में ये गजस्कृद् राजपूत बनाने का आदेश अकबर ने दिया था। अकबर के दिनों में तो विश्वासघात तथा शूरता दोनों ही विपुल मात्रा में उपलब्ध थे, क्योंकि युद्ध तो स्थानिक ही था। जब अकबर ने स्वयं अपने ही बुरे सेनापतियों के लिए मूर्तियाँ नहीं बनवायीं, तब वह राजपूतों के लिए कैसे बनवाता? साथ ही, उसने उनको पूर्ण राजचिह्नों में अंकित न किया होता। जब जयचन्द ने पृथ्वीराज से मिलती-जुलती मूर्ति बनाई थी, तब उसने उसकी मूर्ति द्वारपाल के रूप में बनाई थी—राजनेत्रोचित शैली में नहीं।

राज्य का एक और अंग भी है। जहाँगीर अपने स्मृति-ग्रन्थों में दावा करता है कि उसने आगरा-दुर्ग के अपने राजमहल में न्याय-चटिका की मोने की जंजीरें लगाई थीं। प्रसिद्ध ब्रिटिश इतिहासकारों ने इस दावे को चरम सत्य ही है। जंजीर के सम्बन्ध में दिया गया एक-एक वस्तु का वर्णन अत्यन्त आत्मक और अपने दावे को सत्य का रूप देने के लिए किया गया जाता रहा है। यह भी कहा गया है कि दिल्ली के तोमर हिन्दू राजा जनसत्ता से कथं रूप में दिल्ली के अपने राजप्रासाद में न्यायार्थ एक मोने की जंजीरें लुप्त करवा दी थीं। चूँकि मुग़लों और अन्य मुस्लिम शासकों ने राजपूतों के राजकाशों को अपने सामन-कास के वर्णनों में टूट लेने की

अद्भुत पाप-वृत्ति थी, जहाँगीर के आगरा-दुर्ग में न्याय-चटिका की मोने की जंजीरों के संदर्भ का उल्लेख करना घटनावश यह सूत्र है कि आगरा और दिल्ली के दुर्ग अंतर्गवाल के समय में भी अर्थात् लगभग ३७० ई० में विद्यमान थे।

आमेर के नरेशावासों का स्थापत्य ताज और दिल्ली व आगरा के लालकिलों के दीवान-कक्षों से खूब मिलता-जुलता है। उपर्युक्त बातें इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि आगरा का ताजमहल और लालकिला राजपूतों द्वारा निर्मित स्मारक हैं।

### अकबर का मकबरा—सिकन्दरा

आगरा से छः मील पर सिकन्दरा है। अकबर उस स्मारक में दफनाया हुआ विश्वास किया जाता है। इतिहासकारों का कहना है कि अकबर के लिए कब्रिस्तान के रूप में प्रयोग किए जाने से पूर्व यह स्मारक सिकन्दर लोधी का राजमहल था। हो सकता है, यह कथन ठीक ही हो। किन्तु इसे तो सिकन्दर लोधी ने भी नहीं बनवाया था क्योंकि इस स्मारक में अनेक हिन्दू-लक्षण विद्यमान हैं; उदाहरणार्थ इसके पच्चीकारी युक्त फण पर बीसियों परस्पर गुम्फित त्रिकोण बने हुए हैं।

मुस्लिम धर्मशास्त्र-मीमांसा में अनुयायियों के लक्षण रूप में परस्पर गुम्फित त्रिकोणों को कोई स्थान नहीं है। दूसरी ओर, हिन्दुओं में देवियों के भक्तों के लिए तंत्र का छोटा-सा कवच पूजा की सामग्री में अनिवार्य-सा ही है। उसपर परस्पर गुम्फित त्रिकोण बने होते हैं।

यह निष्कर्ष, कि अकबर किसी पूर्वकालिक राजमहल में दफनाया गया है, अन्य मकबरों के मूल को भी अत्यन्त संदेहास्पद बना देता है क्योंकि अकबर तो भारत के सभी मुस्लिम शासकों में सर्वाधिक शक्तिशाली था। यदि उसके लिए भी एक नवीन मौलिक मकबरा न बनवाया जा सका, तो मुस्लिम शासकों में अन्य ऐसा-नैरा नर-नर-लोगों के लिए विशेष रूप से निर्मित मकबरे कहाँ से उपलब्ध हो गए?

विन्सेन्ट स्मिथ का कहना है कि अकबर के अन्तिम संस्कार अत्यन्त गोपनीय तथा असंवहित रूप में किये गए थे, जिससे फिर सिद्ध होता है कि



उसको वही दफना दिया गया था जहाँ उसकी बीमारी के बाद उसके प्राण निकले थे।

जहाँगीर के स्मृति-ग्रन्थ अकबर के मकबरे के सम्बन्ध में धूर्ततापूर्ण संदर्भ देते हैं जिससे मकबरे का मूल फिर सन्देहास्पद हो जाता है। अपने निरर्थक और झूठे दावों के लिए जहाँगीर के स्मृति-ग्रन्थ स्वयं ही कुख्यात हैं। ऐसे निर्विषय में भी तो अकबर के मकबरे के सम्बन्ध में संदर्भ अत्यन्त अशुद्ध और अविश्वसनीय हैं। जहाँगीर ने दावा किया है कि उसने अपने पिता के मकबरे का काम कारीगरों के एक दल को सौंप दिया था, और इसको वही छोड़कर चला गया था। जब वह भवन पूर्ण हो गया, तो उसे जानूस पहा कि उन कारीगरों ने इसमें गड़बड़ कर दी थी। अतः निरीक्षण करने के बाद उसने आज्ञा दी कि भवन को ठीक प्रकार से बदल दिया जाय।

यह कथन अत्यन्तियों से भरा पड़ा है, और इसलिए, एक सफेद झूठ है। मुगल-शासकों को उपलब्ध कारीगर अपने काम में ऐसे नौसिखिए नहीं थे कि जिस काम को करते पर लगाए गये हों, उसी को गुड़-गोबर एक कर दें। हमसे भी बड़का बात यह है कि इस प्रकार का विशाल कार्य निपुण शिल्प-कलाविदों और इजीप्शियनों के मतन परिवेक्षण में चलता रहता है। और भी बात यह है कि यदि सबकुछ ही उन लोगों ने गड़बड़ कर दी थी तो उनकी सार्वजनिक रूप में जीवित सूली-दण्ड दिया गया होता, जैसा कि जहाँगीर के शासन-काल में राजा को कुपित करने वाले को दण्ड देने की रीति थी। जहाँगीर ने अनेक लोगों को सार्वजनिक रूप में सूली-दण्ड देने के अनेक उदाहरण दिए हैं, किन्तु उनके स्मृतिग्रन्थ उन कारीगरों को किसी भी प्रकार दण्ड दिए जाने के सम्बन्ध में पूर्णरूप में गालत है, जिनको अकबर के मकबरे की बीमारी का शोभमान करने का अपराधो कहा गया था।

फिर ज्ञान यह उठता है कि जब जहाँगीर ने तथ्यरूप में अकबर के मकबरे के निर्माण का आदेश दिया तो नहीं था, तब वह ऐसा करने का दावा क्यों करता है? कारण यह था कि वह तत्कालीन मुस्लिम विचार-धारा का दमन करना चाहता था। मिकन्दर लोधी के राजमहल में, जो पहिले एक राजपूती राजशाला रहा था, अकबर को दफना देने के बाद मुस्लिम तीर्थस्थों परदाओं ने परस्पर गुम्फित त्रिकोणों जैसे अनेक

लक्षणों की ओर जहाँगीर का ध्यान आकर्षित किया, क्योंकि वे सब लक्षण मुस्लिम मकबरे में अनुपयुक्त होते थे। इस प्रकार की विषमताओं को उपयुक्त सिद्ध करने और अपने मृत पिता के प्रति अपना अविश्वमान उद्देश्य प्रदर्शित करने, दोनों के लिए ही, बादशाह जहाँगीर ने अपने स्मृति-ग्रन्थों में एक और झूठ ठूस दिया कि उसने अपने पिता के लिए एक विशेष स्मारक बनाने का आदेश दिया था। और चूंकि यह गप रहस्यमूचक चिह्नों और लक्षणों से असत्य सिद्ध हो जाती, इसीलिए जहाँगीर ने उसको सत्य प्रदर्शित करने के लिए एक और झूठ बोल दिया कि कारीगरों ने इस मकबरे को गड़बड़ कर दिया था। अकबर के मकबरे के सम्बन्ध में भी इस प्रकार की ठगी स्पष्ट प्रमाण है कि अन्य निम्नस्तरीय मुस्लिम बादशाहों के मकबरे सभी के सभी छीने गये अथवा अपने अधीन किए गये पूर्वकालिक राजपूती स्मारक हैं, कदापि मूल मुस्लिम निर्माणकृतियाँ नहीं हैं। जहाँगीर के इस झूठे दावे में, कि उसने अकबर का मकबरा बनाने का आदेश दिया और उस भवन की स्वयं अकबर के शासन-काल में विद्यमानता, दोनों में सामंजस्य न कर पाने के कारण इतिहासकारों ने अपना सीधा-सादा स्पष्टीकरण प्रस्तुत कर दिया कि अकबर ने अपने मकबरे का निर्माण स्वयं ही प्रारम्भ कर दिया और अधूरा छोड़ दिया, तथा बाद में इसे जहाँगीर ने पूर्ण किया था। वे ऐसा करते समय उस साधारण तथ्य की भी उपेक्षा कर देते हैं कि जहाँगीर का दावा उस मकबरे को बिल्कुल नींव से ही निर्माण करने का है।

### इलाहाबाद-स्थित स्मारक

#### खुसरू बाग

पुरातन कालीन स्मारकों की रचना के विषय में भ्रान्त धारणाओं का एक और उल्लेखनीय उदाहरण इलाहाबाद है। इलाहाबाद में दीख पड़ने वाले दो महत्वपूर्ण मध्यकालीन स्मारक तथाकथित खुसरू-बाग और संगम पर स्थित किला हैं। नगर-प्राचीर में दो भव्य मेहराबदार द्वार हैं, एक खुसरू बाग की ओर जाने वाला और दूसरा पुराने नगर की ओर जाने



बाना। दोनों ही हिन्दू नमूने के हैं। उनमें वैसे ही प्रस्तर-पुष्प-चिह्न, आलं-  
कारिक डेक-पतियों की आलायक खिड़कियाँ और वृत्ताकार छतें हैं, जैसी  
जयपुर नगर-घाटों और राजस्थान के अन्य नगरों में दिखाई देती हैं।  
महाराज के पार नगर के अन्दर राती मण्डी और अति अनुसूया (जो अब  
बोल-बाल की बोलचाल भाषा में 'अतरसूया' बन गया है) क्षेत्र हैं। इसी रानी  
(जिसे नाम पर 'नण्डी' क्षेत्र अभी भी है) और उसके राजा का प्रासाद  
(जिसे नाम पर 'नण्डी' क्षेत्र अभी भी है) वह उनका महल था जो मुस्लिम  
आक्रमण से 'खुसरू' बाग कहलाता है। वह उनका महल था जो मुस्लिम  
सेनाओं ने नगर में चढ़ाई करते समय ध्वस्त कर दिया। ध्वस्त किए जाने  
से बचे हुए कुछ भाग बाद में समाधिसूचक कलों के रूप में काम लाए गए।  
यह उनके विषम आकारों और पूर्णरूप में हिन्दू-कारीगरी से स्पष्ट हो  
जायेगा। इन भागों में से एक में तो कब्र नाम की कोई वस्तु है ही नहीं जो  
यह प्रदर्शित करता है कि आज विद्यमान सभी भाग समाधि सूचकेतर  
प्रयोजन से निर्मित किए गये थे। दूसरे भाग में पतस्तर छत तक भट्टे प्रकार  
से बना दिया गया है। इन स्मारकों में से एक के साथ ताम्बूलन नाम की  
स्त्री का सम्बन्ध जुड़ा है जो पुनः उत्खनन में डालने वाला है, क्योंकि ताम्बूल  
शब्द संस्कृत का है। वहीं भारी दीवार की चहारदीवारी जो उन दयनीय,  
हान्यकारक रूप से विह्वल आकृतियों और खण्डित स्मारकों को पृथक् करती  
है, अनावश्यक है। यदि खुसरू बाग की ठीक दूरी से खुदाई की जाय, तो इसमें  
दीवारों की चौकी और प्राचीन क्षत्रिय प्रासादों के अन्य अवशेष अवश्य मिलेंगे।

एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह भी उठता है कि यदि विशेष रूप में मकबरे ही  
बनाए गये थे, तो ये हिन्दू-वक्षों से युक्त क्यों हैं? एक अन्य प्रश्न भी है कि  
यदि ये मृत महाराजों के वास्तविक मकबरे हैं, तो फिर जीवित व्यक्तियों के,  
उनकी के समान महल कहाँ हैं?

### इलाहाबाद का किला

इलाहाबाद का किला भी अकबर के साथ गलती से सम्बद्ध किया जाता  
है। पर अनेक मुश्किलें विद्यमान हैं कि अकबर से शताब्दियों  
पूर्व ही इलाहाबाद का किला विद्यमान था। सीप के कोर के समान कटे  
हुए पत्थरों के मकान की रचना के समान एक पतली-लम्बी अनियमित रेखा

दीवार के मध्य उच्च बाढ़-सीमा घरातल पर चलती है। वह नमुना, और  
संगम की ओर तिहारती हुई खिड़कियों की आलंकारिक कलाकृति, किले के  
अन्तः कलों में से कुछ में उलझी हुई संगतराणी, और किले के भीतर ही  
अणोक स्तम्भ, पातालेश्वर मन्दिर और अक्षय वट-वृक्ष का अस्तित्व ही इस  
बान का प्रमाण है कि किला अकबर से शताब्दियों पूर्व भी विद्यमान था।  
जब हर्ष जैसे महाराजा प्रयाग अर्थात् इलाहाबाद की यात्रा अपनी सर्वोच्च  
सामर्थ्यदान करने के लिए किया करते थे, तब वे किले में ही ठहरते थे।  
अतः इलाहाबाद का किला मुस्लिम युग-पूर्व का अत्यन्त प्राचीन स्मारक है,  
और इसके निर्माण का श्रेय अकबर को देने समय फर्ग्युसन ने समुचित ध्यान  
नहीं दिया। अन्य इतिहासकारों ने भी इसी के आधार पर अकबर को किले  
का निर्माता मानकर विचार करने के प्रकार में दोष उत्पन्न कर दिया है।  
यह इस बात का एक विनिष्ट उदाहरण है कि कुछ भयंकर भूल करने वाले  
लेखकों की ऊल-जलूल कल्पनाओं के कारण भारतीय मध्यकालीन इतिहास-  
ग्रन्थ किस प्रकार तथ्यों से विहीन हो गये हैं।

### नदी-घाट तोड़ डाले गये

प्राचीन इलाहाबाद का एक और भी पक्ष है जो जनता की दृष्टि में  
ओझल रहा है, क्योंकि इतिहासवेत्ता लोग तथ्यों का पता लगाने में असफल  
रहे हैं। प्रायः यह आश्चर्य व्यक्त किया गया है कि इलाहाबाद में पवित्र नदी-  
तटों का पुण्यतम संगम यात्रियों के स्नान की सुविधा के लिए घाटों से  
बिहीन कैसे रहा है, जबकि छोटे-छोटे, कम महत्त्व वाले तीर्थस्थानों पर भी  
मध्य घाट निर्माण करवाना हिन्दुओं की चिरकालीन प्राचीन परम्परा रही  
है। प्रचलित भ्रम यह है कि चूंकि गंगा मैया अपना मार्ग बदलती रहती है,  
इसलिए घाटों का निर्माण न किया जा सका। यह तो सहज-सरल स्पष्टी-  
करण है। ऐसी स्थिति में तो नदी के दूसरे छोर पर घाट बनाकर नदी का  
निगमन किया जाता है। अतः, उपर्युक्त स्पष्टीकरण कोई सन्तोषजनक  
स्पष्टीकरण नहीं है।

सबसे बढ़कर बात यह है कि संगम क्षेत्र प्रतिष्ठानपुर और अरई जैसी  
प्राचीन नगरियों में परिबेष्टित है। ये दोनों नगरियाँ नदी के उस पार







"मस्जिदप्रद" है। इस नाम के पड़ने का कारण यह था कि यह नगर मन्दिरों से भरपूर था। वे सभी मन्दिर अब मस्जिदों में बदल दिए गये हैं। अन्य सभी नगरी की तुलना में अहमदाबाद में आज मस्जिदें ही मस्जिदें हैं। प्रायः प्रत्येक कुछ की गडों के अन्तर पर एक मकबरा या मस्जिद है। सबसे बड़े कर बात यह है कि वे सभी आलकारिक राजपूत-जैली में हैं।

अहमदशाह के शासनकाल में अहमदाबाद की मुस्लिम जनसंख्या अत्यन्त अल्प थी। इसलिए यह असम्भव हो था कि अपनी प्रजा के इतने अल्पाल कमे के लिए सारी नगरी भर में कोई शासक मस्जिदें-ही-मस्जिदें बना दे। और न ही, वह मस्जिदों और मकबरों को हिन्दू-मन्दिरों की माली पर बनवा सकना था। हिन्दू स्थापत्यकला से अनाध और एकनिष्ठ प्रेम करने वाला कोई भी व्यक्ति अहमदशाह की अर्थात् न तो मन्दिरों को नष्ट-भ्रष्ट करेगा, न उनको मस्जिदों में बदलेगा, और न ही मनुष्यों को लूटेगा अथवा उनका मन-बहार करेगा। अहमदशाह ने तो जल्ताव का कार्य किया था।

और जी बात है। यदि उसने (मूलरूप में) मस्जिदें बनवायी होंतीं, तो 'भद्रा' नाम का पुराना हिन्दू-नाम प्रचलित होने की अनुमति उसने कभी न दी होती।

भद्रा क्षेत्र में पहुँचाने के लिए 'तीन दरवाजा' नाम से पुकारा जाने वाला ईसा तीस मेहराबों वाला प्रवेश-द्वार स्वयं ही आलंकारिक हिन्दू-जैली में है। इसके स्थापत्य की तुलना समीपस्थ डभोई और मोहोरा के हिन्दू स्मारकों से की जा सकती है।

### तथाकथित जामा-मस्जिद

जामा-मस्जिद नाम से पुकारी जाने वाली, अहमदाबाद की प्रमुख मस्जिद पुरातन भद्रकाली मन्दिर था। वही नगर की आराध्या देवी का स्थान था। इसकागण में लेकर अन्दर पूजास्थल तक हिन्दू-कलात्मकता की विशेषता विराम गमनशील है। मुख्य प्रावेता-स्वत में पास-पास स्थित लगभग १०० से ऊपर खम्भे हैं जो केवल हिन्दू-देवियों के मन्दिर में होते हैं। इस्लामिक, अरबी, मुसलमान मस्जिदों के प्रावेता-कक्ष में एक भी खम्भा नहीं होता क्योंकि मस्जिदों के प्रावेता-कक्ष के लिए खम्भा प्राणशक्ति चाहिए।

पूजागृह के गवाक्षों में गड़े हुए प्रस्तर-पुष्प-चिह्न हैं, जो नित्याभ्यास लूटे हुए और परिवर्तित स्मारकों के सम्बन्ध में मुस्लिमों की और से हुआ ही करता था। इस विशाल मन्दिर का एक बड़ा भाग अब कब्रिस्तान के रूप में उपयोग में लाया गया है।

संगतराशी से पुष्प, जंजीर, घण्टियाँ और गवाक्षों जैसे अनेक हिन्दू लक्षण स्पष्ट दिखाई देने हैं। देवालय की दो आयताकार चोटियों में से एक को बिल्कुल उड़ा दिया गया है, जैसा कि उन्मत्त मुस्लिम विजेताओं द्वारा नगर में प्रथम बार प्रविष्ट होने के अवसर पर ही हो सकता था।

अहमदशाह के द्वारा भीषण तबाही के पश्चात् जो भगदड़ मची उसमें उजड़े, और देखभाल से वंचित मन्दिरों के आलंकारिक प्रस्तर-खण्ड अभी भी अहमदाबाद के आम रास्तों पर आधे गड़े पड़े हैं। हिन्दू कलाकृति वाले बड़े-बड़े पत्थर, जो भवनों से गिरा दिए गये थे, अब भी धूल से आच्छादित और उसी में समाए पड़े हैं। एक ऐसा ही फलक तथाकथित जामा-मस्जिद के सामने महात्मा गांधी मार्ग पर स्थित जन-शौचागार में इस्तेमाल किया गया है।

इस तथाकथित जामा मस्जिद के सम्बन्ध में एक बड़ी महत्वपूर्ण घटना १९६४-६५ में घटी। मैंने अपने लेखों में यह सिद्ध किया था कि जामा-मस्जिद कहलाने वाली अहमदाबाद (कर्णवती उर्फ राजनगर) की वह इमारत प्राचीन नगरदेवता एवं राजदेवता भद्रकाली का मन्दिर था। मेरे इस प्रकार के लेख ई० सन् १९६४ के आसपास कुछ मासिकों में प्रकाशित होने के कुछ समय पश्चात् अहमदाबाद के K. C. Bros. (कान्तिचन्द्र ब्रदर्स) नाम की एक दुकान पुरानी होने के कारण उसके स्वामी ने उसे गिरवाकर इसी स्थान पर एक ऊँची हवेली खड़ी करवा दी। तथाकथित जामा-मस्जिद के निकट ही यह हवेली इस तथाकथित मस्जिद से ऊँची हो गई। हिन्दुओं ने एक नया विवाद आरम्भ कर देने का एक अच्छा अवसर मुसलमानों को मिल गया। भारत के सारे मुसलमान हिन्दुओं के पुल-पाँव हैं। इस्लामी आधिपत्य के काल में जो-जो हिन्दू पकड़े जाते थे वे सब छल-बल से या तपद से मुसलमान बना दिए जाते। भारत-पाकिस्तान-बंगलादेश के सारे मुसलमान इस प्रकार हिन्दुओं की सन्तान हैं। तथापि बलात् मुसलमान बनाने के पश्चात् मस्जिदों में उन्हें यह रटाया जा रहा था कि हिन्दू काफिर हैं, उनसे



कोई मुसलमान सम्मिश्रित नहीं है और पग-पग पर वे नये-नये बहाने ढूँढ़ते हुए हिन्दुओं से वसतस्स, सड़ाई-जगड़ा करते रहे ताकि भविष्य में किसी दिन मारा हिन्दुस्तान-इस्लामस्थान या इस्लामाबाद बन जाये।

इस योजना के अन्तर्गत अहमदाबाद के तथाकथित जामा मस्जिद के विद्वान्तों (Trustees) ने K. C. Bros. (कान्तिचन्द्र बद्रस) पर न्यायालय के दावा दाखिल किया कि उन्हें उनकी नयी हवेली गिरवाने का आदेश दिया जाये। बड़े निश्चित होकर K. C. Bros. इस संकट से हवेली बचाने का उत्तम हितचिन्तनों से पूछने लगे। किन्ती ने उन्हें बताया कि पु० ना० ओक नाम के कोई इतिहासज्ञ है जिनके कथनानुसार अहमदाबाद का जामा-मस्जिद प्राचीनकाल में भद्रकाली का मन्दिर था। तब उन्होंने मेरा पता ढूँढ़कर मुझे पत्र द्वारा अपनी कठिन समस्या से अवगत कराया। मेरे सुझाव पर K. C. Bros. ने अपने वकील के द्वारा प्रतिवादी का उत्तर न्यायालय में प्रस्तुत किया। उसमें कहा गया था कि जिसे इमारत को मुसलमान मस्जिद कह रहे हैं वह एक अपहृत हिन्दू मन्दिर होने के कारण मुसलमानों का उस स्थान पर कोई अधिकार ही नहीं प्राप्त होता, अतएव K. C. Bros. की हवेली गिराने का प्रश्न ही नहीं उठता। यह उत्तर मुसलमानों को पहुँचते ही मुसलमानों ने तुरन्त अपना दावा वापस ले लिया। उन्हें डर यह पड़ी कि यदि यह दावा कब पड़ा तो K. C. Bros. की हवेली गिराना तो दूर ही रहा मस्जिद कहलाने वाली इमारत ही हाथों से निकल जायेगी।

जो लोग ऐसा पूछते हैं कि यदि ताजमहल, लालकिला आदि इमारतें हिन्दुओं की निद्रा हो जाती हैं तो उससे लाभ ही क्या है? उन्हें ऊपर लिखे K. C. Bros. के उदाहरण ने यह ज्ञान जाना चाहिए कि सत्य का शोध कभी व्यर्थ नहीं जाता। ऐसी खोज में विविध अज्ञात प्रकार के लाभ हो सकते हैं। उसमें से एक अग्रेसर ऊपर दिया गया है।

### दिन्तोवाली 'जामा-मस्जिद'

पूणती दिन्तो स्थित जामा-मस्जिद भी अपहृत हिन्दू मन्दिर है। इसका कथन, ईश्वरस्य आदि मुसलमानों ने ही साफ-साफ लिखा है कि वह मन्दिर था। तथाकथित कुतुबुल्लाह, लालकिले, जामा-मस्जिद आदि भारत भर

की इमारतें चुने हुए गेरुए रंग के पत्थर की बनी हैं। यदि गेरुए रंग के कपड़े पहना हुआ व्यक्ति हिन्दू संन्यासी होता है तो क्या गेरुए रंग के पत्थर में बनी इमारत हिन्दू मन्दिर नहीं होगी? इस्लामी इमारतें या तो सफेद चुने की होती हैं या हरी। गेरुआ तो ठेठ हिन्दू ध्वज का रंग है। अतएव स्थान-स्थान और नगर-नगर के हिन्दू जागृत होकर अपने-अपने प्राचीन मन्दिरों एवं धर्मक्षेत्रों का कब्जा माँगें।

### उदयपुर

मेवाड़ ने महाराणाओं के नेतृत्व में पाजवी इस्लामी आक्रमणों का जो डटकर विरोध किया, वह प्रशंसनीय है। तथापि इससे पाठक या श्रोताओं को यह समझना उचित नहीं होगा कि इस्लाम का प्रवेश मेवाड़ में नहीं हुआ या मेवाड़ में इस्लाम की छाप कहीं दिखाई नहीं देती।

प्रायः भारत में ऐसा एक भी प्रमुख नगर या देवस्थान नहीं बचा है जो इस्लाम ने भ्रष्ट न किया हो। प्रत्यक्ष उदयपुर में इसके कई उदाहरण देखे जा सकते हैं। इतना ही नहीं, अपितु हिन्दुओं की ही लापरवाही, अज्ञान और मूर्खता के कारण इस्लाम के पंजे और चंगुल में जो-जो हिन्दू स्थान फँसते गये, उन्हें कुछ ही समय में इस्लाम-निर्मित स्थान ही समझा जाने लगा। हिन्दू इतिहासकार, सरकारी अधिकारी और पुरातत्त्ववेत्ताओं की यह बड़ी भूल है।

इसके असंख्य उदाहरण हैं। इस्लामी प्रचार को सत्य मानकर छीने हुए हिन्दू स्थान इस्लाम-निर्मित भवन समझने की भूल हिन्दू लोग लगातार करते आ रहे हैं।

इस सम्बन्ध में उदयपुर का एक उदाहरण देखिए। उस नगर के पिचोला सरोवर में जगमन्दिर द्वीप है। वहाँ महाराणाजी के प्रासाद बने हुए हैं। वहाँ भला मुसलमानों का क्या काम? मुसलमानों का तो वहाँ कोई सम्पर्क भी नहीं होना चाहिए। किन्तु वहाँ भी इस्लाम का अस्तित्व है। उस द्वीप पर एक प्राचीन शिवमन्दिर में एक सूफी कपूरवावा का चित्ता यानी बैठने का स्थान बताया जाता है। कपूर नाम तो हिन्दू है। वह कोई स्थानिक हिन्दू गाधु रहा होगा। इसलिए इसका आश्रम शिवमन्दिर से जुड़ा हुआ था।



किन्तु शाहजादा खुर्रम (शाहजहाँ) ने जब महाराणा का आश्रय माँगा तो सुरक्षा के लिए उसे उस द्वीप पर ठहराया गया। उस समय इस्लामी प्रथा के अनुसार खुर्रम के मुसलमान सरदार, दरबारी और नौकर-चाकरों ने आश्रय के लिए कूटस्थ होने के बजाए गुम्बद पर चाँद का कलश लगा दिया। और साधु कपुर के आश्रम को फकीर का चित्ला कहना आरम्भ कर दिया। सबसे दुर्बलता से लोग इन इमारतों को शाहजहाँ द्वारा बनाई गई इमारतें समझते हैं। ऐसा अन्याय और अंधेर ऐतिहासिक भवनों के मूल निर्माताओं के सम्बन्ध में पग-पग पर दिखाई देता है।

अतएव सत्य इतिहास के जो भी भक्त हों उन्हें यह समझना आवश्यक है कि भारत की ही नहीं बल्कि विश्व में जितनी भी विख्यात इमारतें हैं या प्राचीन ऐतिहासिक स्थान हैं वे इस्लाम-निर्मित नहीं हैं। आरम्भ से इस्लाम की यह प्रथा रही है कि दूसरों की इमारतों पर कब्जा करना और कुछ योद्धियों के पश्चात् यह कहना प्रारम्भ करना कि वे भवन मूलतः मुसलमानों ने ही बनाये। अरब-स्थान स्थित काबा से ही यह प्रथा जो चली वह इस्लामी आक्रमण के इतिहास में बराबर अन्त तक वैसी ही चलती रही। अतएव मुसलमानों का अपना बनाया हुआ ऐसा कोई भवन ई० स० ८वीं से १८वीं सताब्दी तक विश्व में नहीं है। जिन्हें इस सिद्धान्त में सन्देह हो वे प्रत्येक ऐतिहासिक भवन के निर्माण के सम्बन्ध में आरम्भ से कड़ी जाँच करने का प्रयास करें।

### रूपमती और सिपरी मस्जिदें

कुछ तथाकथित मस्जिदें अभी भी अपने हिन्दू-साहचर्य और नामों को बनाए हुए हैं। उदाहरण के लिए राती सिपरी मस्जिद और रूपमती मस्जिद के हैं। राती, सिपरी और रूपमती—तीनों ही संस्कृत नाम हैं। वे केवल यह सिद्ध करने हैं कि राती, सिपरी और रूपमती के राजमहलों की मस्जिदों में कदम रखा गया था। अहमदाबाद के बड़ा क्षेत्र में असंख्य स्मारकों की सुरक्षा बहाली भी यही है।

### झूलते स्तम्भ

कुछ स्मारकों में ऐसे स्तम्भ हैं जो विलक्षण इंजीनियरी-कौशल के अद्भुत नमूने हैं। यदि कोई दर्शनार्थी इन स्तम्भों में से किसी की अपनी मंजिल पर चढ़कर, अपने दोनों हाथों से इस स्तम्भ की सिड़की को पकड़ ले, कुछ क्षण बार-बार पकड़कर इसको छोड़ दे, तो उसे विचित्र अनुभूति यह होगी मानो उसके नीचे स्तम्भ का भाग हिल रहा हो। सहोदर-स्तम्भों में जाने वाला कोई भी दर्शनार्थी इसी बात का अनुभव करेगा। इंजीनियरी-कौशल का यह विरला नमूना और अहमदाबाद की अधिकांश तथाकथित मस्जिदों में मिलने वाला उत्कृष्ट दीवारों में चौकोर छेद का प्रकार सभी के सभी हिन्दू-स्थापत्य-प्रतिभा का परिणाम है, क्योंकि ये सब तथाकथित मस्जिदें और मकबरे पूर्वकालीन हिन्दू भवन हैं।

इस प्रकार की इमारतें, जो थोड़ा धक्का लगाने पर झूलती हैं, भारत में कई स्थानों पर हैं। उदाहरणार्थ महाराष्ट्र प्रान्त के जलगाँव जिले के महसवे और फरकांडे नाम के दो देहातों में प्राचीन देवालियों के मीनार और दीप स्तम्भ हिलाने पर झूलते हैं। पंजाब के गुरुदासपुर नगर में भी ऐसी झूलने वाली एक इमारत है। प्राचीन स्थापत्यकला के संस्कृत ग्रन्थों में झूलने वाले भवन या स्तम्भ बनाने का रहस्य कहाँ लिखा है, इसका संशोधन होना चाहिए। प्रगत समझे जाने वाले योरोपीय स्थापति स्वयं इस प्राचीन भारतीय कारीगरी पर बड़ा आश्चर्य प्रकट करते हैं। अहमदाबाद (कर्णावती) के झूलने वाले मीनारों की इमारत का तीन अंग्रेजों ने रहस्य हूँदना चाहा। उनमें से एक व्यक्ति ने एक मीनार को पकड़कर खूब हिलाया। तो दोनों मिनारें ऐसी हिलती रही जैसे धरती कंप से उगमगती है। अन्य दो साथी बीच के आंगन में छत पर लेट गये। उनका अनुमान था कि एक मीनार हिलाने पर उसकी लहरें छतवाले आंगन से दूसरी मीनार के तले पहुँचकर उसे कंपित करती होंगी। तथापि छत के आंगन में लेटे उन दो व्यक्तियों को उनके पीठों के तले आंगन से ऐसी कोई लहरें दौड़ने का अनुभव नहीं हुआ।

पारे विश्व के स्थापत्य विगारदों को चकित करने वाला कुशलतम स्थापत्यशास्त्र भारत में विद्यमान होते हुए भी आज भारत के किसी भी



विद्यालय में उस शास्त्र के संस्कृत ग्रन्थों का उल्लेख भी नहीं किया जाता जबकि होना यह चाहिए कि सारे विश्व में वह ग्रन्थ पढ़ाये जाने चाहिये। सैकड़ों वर्ष की परतन्त्रता के कारण भारत की जनता तथा सरकार अपना भारतीय वैयक्तिक और स्वायत्तता अद्वितीय होते हुए भी उनको पूर्णतया उपेक्षित किए हुए है। इतिहास के अज्ञान के कारण एक राष्ट्र में आत्मघातक प्रवृत्तियाँ कैसे प्रस्थापित होती हैं, इसका यह एक मोटा उदाहरण है।

### सिद्धपुर और चम्पानेर

गुजरात की प्राचीन नगरी सिद्धपुर में एक बहुत प्रसिद्ध और विशाल हिन्दू देवालय या जो त्रिग महालय के नाम से सुविख्यात था। अहमदशाह की आज्ञा से इसको विनिष्ट किया गया। इसकी विशाल ऊँची मेहराबों अभी भी एकान्त में, निर्वसना, शान्त मुद्रा में स्थित हैं। कुछ गजों की दूरी पर ही इस विख्यात मन्दिर-संकुल का पूजा-कक्ष है, किन्तु उस पूजा-कक्ष को अब मन्दिर का रूप दे दिया गया। एक प्रसिद्ध प्राचीन हिन्दू मन्दिर का इस प्रकार परिवर्तन, अप्रत्यक्ष रूप में ही सही, "सुरक्षित स्मारक" का नाम-कक्ष वहाँ लगाकर भारत सरकार के पुरातत्व विभाग ने भी स्वीकार कर रखा है। इसके अनेक गवाक्षों में दिखाई देने वाले प्रस्तर-पुष्प-चिह्न इस ठाम को भी सिद्ध करते हैं कि वे सभी मस्जिदें, जिनके गवाक्षों में प्रस्तर-पुष्प हैं, पूर्वकालीन हिन्दू-स्मारक हैं।

### चम्पानेर और पावागढ़

गुजरात से बड़ीदा से लगभग ३५ मील की दूरी पर चम्पानेर नामक नगरी है। निम्न की पहाड़ी पर पावागढ़ नामक पुराना किला है। चम्पानेर और पावागढ़, दोनों ही संकूल नाम हैं, और दोनों ही समान रूप से प्राचीन हैं। फिर भी, पुरातत्त्वज्ञान नाम-फलक घोषित करता है कि चम्पानेर की स्थापना महमूद बघरी ने की थी। इतिहास कहता है कि महमूद बघरी कुर-गज्जाली शासक था। उसके अत्याचार और कुर यातनाओं की कोई सीमा नहीं थी। इस बख्त का श्राष्ट दिग्दर्शन तो पहिले ही उल्लेखित श्री अशोक पुराण प्रथमः के वर्णन से हो जाता है। साथ ही, बात यह भी है कि

मुस्लिम लोग बीरान स्थानों में तो गए नहीं, और न ही वहाँ नगरियाँ बसायीं। इन लोगों ने तो समृद्धिशाही नगरों को अपने अधीन किया, उनको उजाड़ा, नर-संहार किया, मन्दिरों को मस्जिदों में परिवर्तित किया और प्राचीन नगरों के साथ अपना नाम जोड़ दिया। भिन्न-भिन्न नगरों के साथ इनका नाम इसी प्रकार जुड़ गया है। यदि महमूद बघरी ने चम्पानेर की स्थापना की होती, तो उसने कभी भी यह संस्कृत नाम न दिया होता और न ही उसे लोगों का नर-संहार करना पड़ता।

चम्पानेर के पीछे ही एक विशाल देवालय भी ऐसे लक्षण प्रस्तुत करता है जिससे सिद्ध होता है कि यह पूर्वकालीन मन्दिर था। नगर मुस्लिमों के अधीन हो जाने के पश्चात् जो मार-काट मची, उसमें स्मारकों से नीचे गिर गये अलंकृत फलक ऊल-जलूल ढंग से पुनः बैठा दिये गये देखे जा सकते हैं। ऐसा उस समय किया गया, जब उस भवन को मस्जिद के रूप में उपयोग में लाया गया।

अब हम अपना ध्यान 'धार' नगर और माण्डवगढ़ या माण्डू के नाम से पुकारे जाने वाले पहाड़ी किले की ओर देंगे। ये दोनों स्थान मध्य भारत में हैं। भारत के विभिन्न भागों में एक दूसरे से सैकड़ों मील की दूरी पर स्थित इन विभिन्न मध्यकालीन स्मारकों के सर्वेक्षण का उद्देश्य केवल यह दिखाना है कि समस्त भारत में एक ही कहानी बार-बार दुहराई गई है। हिन्दू-शासन के भिन्न-भिन्न कालखण्डों में निर्मित सर्वदूर भारत में फैले हुए स्मारक, मुस्लिमों के अधीन हो जाने के बाद, मुस्लिम-उपयोग के लिए (मस्जिद-मकबरे आदि के रूप में) परिवर्तित कर दिए गये। आक्रामक तथा गहीला लोग विभिन्न राष्ट्रीयता, जातियों, संस्कृतियों और समाज के स्तरों से सम्बन्ध रखते थे। इनमें से कुछ तो गुलाम, प्यादे या लुटेरे-मात्र थे जो भाग्यवशात् देश के कुछ भागों को अपने अधीन कर पाये एवं जिन्होंने अपने आपको शासक घोषित कर दिया। इन विभिन्न जातियों में मंगोल पठान, अबीसीनियन, ईरानी, तुर्क और अरब लोग सम्मिलित थे।

### धार

धार संस्कृत नाम है। यह नगरी प्राचीन काल में समृद्धशाही साम्राज्य



की राजधानी थी। इसलिए इसमें बनेक मन्दिर और राजप्रासाद थे। इनमें से अधिकांश अब मस्जिदों का रूप धारण किए खड़े हैं। उनकी बाह्यकृति ही सभी को यह विश्वास दिला देनी कि इनका मूलोद्गम मन्दिरों के रूप में हुआ था। इसमें भी बड़कर बात यह है कि इस बात का लिखित प्रमाण भी उपलब्ध है। घुम में आन्ध्रप्रदेश और दीवारों में गड़े हुए पत्थरों पर संस्कृत भाषा में साहित्य उत्कीर्ण है।

एक सुस्पष्ट उदाहरण उस स्मारक का है जो छत्रगुप्त में कमाल मौला मस्जिद कहलाती है। कुछ वर्ष पूर्व जब उस भवन का कुछ अंश उखड़कर नीचे गिर गया, तब उसमें प्रस्तर-फलक दिखाई पड़े जिनपर संस्कृत-नाटकों के पृष्ठ के पृष्ठ उत्कीर्ण किए गये पड़े थे। अब यह सत्य प्रस्थापित हो चुका है कि "सरस्वती सप्ताभरण" नामक स्मारक संस्कृत-साहित्य के अनूठे पुस्तकालय के रूप में था। यह पुस्तकालय इस दृष्टि से अनूठा था कि इसमें दो साहित्य संचयन था, वह नज्बर कागजों पर न होकर, प्रस्तर-फलकों पर उत्कीर्ण था। यह उदाहरण इतिहास, पुरातत्त्व और वास्तुकला के विद्वानों को इस बात के लिए प्रेरित करने की दृष्टि से पर्याप्त होना चाहिए कि वे उन सभी मध्यकालीन स्मारकों की सूक्ष्मरूप में जाँच-पड़ताल करें जो आज मकबरे या मस्जिदों के रूप में घोषित हैं। निश्चित है कि कौन से जबका शाह हो जाएगा कि वे प्राचीन राजपूत मन्दिर और राज-प्रासाद थे।

#### माण्डव-गढ़

कुछ सौनों सौ दूरी पर, घने जंगल-प्रदेश में, माण्डू अथवा माण्डवगढ़ नाम का प्राचीन पहाड़ी किला स्थित है। यह एक संस्कृत नाम है। यह इतना प्राचीन स्थान है कि इसका मूल किसी भी सुनिश्चितता के साथ स्थापित नहीं किया जा सकता। एक छोटा-सा क्षेत्र होने के कारण, इसके सभी प्राचीन स्मारक मूलिक पूर्व काव के ही होने चाहिए, तभी तो यह इतनी ही राजधानी और सुदृढ़ किला रहा होगा। बाद में, मुस्लिम आधिपत्य में राजपूत मन्दिर और राजप्रासाद मकबरे और मस्जिदों के रूप में बदल दिए गये। इनके स्थान, एक और प्रस्तर-पुष्प-विज्ञान इय तथ्य के मुक साक्षी

है कि प्राचीन हिन्दू-भवन आज मकबरे और मस्जिदों के स्वरूप में अबका खड़े हैं। होशंगशाह के मकबरे पर लगा हुआ पुरातत्त्व विभाग का नाम-फलक स्वीकार करता है कि यह भवन महान् हिन्दू-देवालय था नहीं एक विशाल वार्षिक मेला लगा करता था।

निकट के ही हमारे स्मारक पर उत्कीर्ण पट्ट में स्वीकार किया गया है कि मूलरूप में इस शिव मन्दिर को बादशाह अकबर के अधीन माण्डू के राज्यपाल शाह बुदम खान के द्वारा विहार-स्थल में बदल दिया गया था। इन दो उदाहरणों से पर्याप्त मात्रा में यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि भूल से भिन्न-भिन्न मुस्लिम शासकों को ऐसी ही इमारतों की रचना का ध्येय दिया जाना गलत है। ये सभी भवन भी पूर्वकालिक राजपूत शासकों ने बनवाए थे।

पुरानी विचारधारा के इतिहासज्ञों तथा स्थापत्य-शास्त्री लोगों द्वारा ऐसे मामलों में अधिक-से-अधिक यही स्वीकार किया जाता है कि परबती मुस्लिम शासकों ने राजपूतों के भूखण्डों और निर्माण-सामग्री का उपयोग कर लिया होगा। वे शिक्षा-शास्त्री चाहते हैं कि हम विश्वास करें कि मूल राजपूत मन्दिरों और राजप्रासादों को भूमिसात कर दिया गया था, और फिर मानो एक-एक पत्थर चुनकर उनके स्थान पर मस्जिदें और मकबरे बनाए गये।

जिसे भवन-निर्माण का अनुभव है, अथवा जिसने सिविल इंजीनियरों से परामर्श लिया है, उस व्यक्ति को भली-भाँति ज्ञात है कि विशाल मध्य-कालीन संरचनाओं को गिरा देना और फिर उसी स्थान पर उसी मलबे और सामग्री से अपने लिए अन्य संरचना खड़ी करने की आशा करना या उसके लिए यत्न करने से बढ़कर और कोई अबुद्धिपूर्ण और अव्यावहारिक कार्य नहीं है। इस प्रकार की बात असम्भव, अशक्य और अकरणीय है। एक मात्र युक्तियुक्त निष्कर्ष यही हो सकता है कि बने-बनाए मन्दिरों और राजप्रासादों को ही थोड़े-बहुत परिवर्तनों के पश्चात् मस्जिदों और मकबरों के रूप में उपयोग में लाया गया। थोड़े-बहुत परिवर्तन देवमूर्ति को हटा देना और अरबी भाषा के अक्षरों को खोद देना आदि था।

इस सम्बन्ध में प्रस्तुत किया जाने वाला एक घोषा तर्क यह है कि











करवाया गया था। यह तब जब अनेक सूत्रों से उपलब्ध है। उदाहरण के लिए इस्लाम के इतिहास में शोही बघार-बघार कर कहा जाता है कि मस्का को बसातु इस्लाम के अधीन करने और इस्लामी पूजा-स्थल में परिवर्तित करने से पूर्व इस स्थान पर अति विमाल ध्वज मन्दिर थे जिनमें ३६० (भारतीय) देव मूर्तियां थीं।

'मस्का' शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत के 'मस' शब्द से है, जिसका अर्थ होम की अग्नि है, प्राचीन हिन्दू लोग अग्नि की पूजा के लिए विख्यात थे। वह अग्नि-पूजा मध्य-एशिया में बहु-प्रचलित थी—इस बात का निर्णय उन पारसियों को देकर किया जा सकता है जो उस क्षेत्र से आए हैं और अग्नि-पूजक हैं। ऐसा प्रसिद्ध है कि आज भी अग्नि-मन्दिर बाकू, बगदाद और मध्य एशिया के क्षेत्रों में विद्यमान हैं।

मस्का में इस्लामी देव-पूजन का प्रमुख आकर्षण अभी भी हिन्दू शिव लिंग है। देवालयों को परिवर्तित करने की प्राचीन हिन्दू परिपाटी अभी भी मस्का में अभी मुस्लिम यादियों द्वारा बराबर निभाई जा रही है, यद्यपि वह परिपाटी अन्य किसी भी मस्जिद में चालू नहीं है।

मस्कर से लेकर स्वेड तक सभी देशों के नाम संस्कृत शब्दावली के हैं। 'आर-पुस्त अथवा बौरान प्रदेश' का अर्थद्योतक 'इरानम्' शब्द ही 'ईरान' का मूल है। उमर खयाम नामक नायर व दार्शनिक का जन्मस्थान 'निशापुर' संस्कृत शब्द है। तुर्कस्तान (जिसका संक्षिप्त रूप तुर्की है) तुर्क-स्थान अर्थात् घोड़ों का प्रदेश है। अरेबिया अरबस्थान का संक्षिप्त रूप है जो स्वयं अरबस्थान अर्थात् घोड़ों का प्रदेश का अपभ्रंश रूप है। अरबस्थान का अरब-स्थान बन जाना कोई बड़ी विचित्र बात नहीं है। संस्कृत का 'व' अक्षर प्रकृत भाषा में 'ब' बोला जाता है, उदाहरण के लिए 'वचन' (शपथ, श्राप) को हम प्रायः 'बचन' ही कहते रहते हैं।

अफगानिस्तान भी संस्कृत शब्द है। अफगान लोग इसका स्पष्टीकरण उस मूलशब्द को कहकर देते हैं, जो भारत और मध्य एशिया के बीच सम्पर्क की कड़ी का।

मध्य एशिया स्थिति अनेक देशों के जन-गुन्य प्रदेशों के खण्डहरों में दबे

हुए श्रीगणेश, शिवजी तथा अन्य हिन्दू-देवताओं के मन्दिर अभी भी देखे जा सकते हैं। 'अल्ता' शब्द का संस्कृत में अर्थ है 'माता' या 'देवी'।

नारद-स्मृति तथा अन्य अनेक प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों की पाण्डुलिपियां लघु एशिया के रेत में से खोदकर निकाली गई हैं। यह सब इस तथ्य का संकेतक है कि इस्लाम के जन्म से भी हजारों वर्ष पूर्व संस्कृत भाषा और भारतीय संस्कृति का मध्य-पूर्व पर प्रभुत्व था। हिन्दू लोगों ने सम्पूर्ण मध्य-एशिया में विमाल मन्दिर, देवालय, मठ, राजप्रासाद और भवन बनाए थे। अतः यह कहना ठीक नहीं है कि मुस्लिम लोगों ने ही भारत में मेहराबों, गुम्बदों और चूर्ण-प्रस्तर व कंकरीट का प्रयोग प्रारम्भ किया। बात ठीक इससे उलटी थी।

चूँकि भारतीय मध्यकालीन इतिहास प्रारम्भ से ही गलत लोक पर चल पड़ा था, इसीलिए स्थापत्यकलाज्ञ, इतिहासवेत्ता और भवन-निर्माण के शिल्पज्ञ सदैव यही धारणा बनाए रहे हैं कि मध्यकालीन स्मारक मुस्लिम-मूल के ही हैं। वह विचार व धारणा पिछले ६००-८०० वर्षों में इतनी पुष्ट हो गयी है कि अब उसको त्याग देने में अनेक पुरातत्वज्ञों को बहुत कठिनाई मालूम पड़ती है। इसका कारण यही है कि उन लोगों ने मूल धारणा वह विचार प्रणाली ही गलत रखी। अब उनको वह पुराना पाठ भुलाना चाहिये, और मेहराब, गुम्बद व चूर्ण-प्रस्तर-कंकरीट को भारतीय भवन-निर्माण के वंशानुगत एवं देशीय लक्षणों में ग्रहण करना प्रारम्भ करना चाहिये।

### बीजापुर की ध्वनि-प्रदा दीर्घा

अब मैं जिस अन्तिम स्मारक का विवेचन करना चाहता हूँ वह है बीजापुर की गोल गुम्बद (ध्वनि-प्रदा दीर्घा)। बीजापुर संस्कृत नाम है और अति प्राचीन तथा सम्पन्न नगर का द्योतक है। उसपर आदिलशाहों द्वारा अधिकार तथा शासन किया गया था। आज जिसको गोल गुम्बद कहा जाता है वह प्राचीन शिव मन्दिर है जो शिवभक्त लिंगायतों का है। लिंगायत लोग वहाँ के मूल हिन्दू-सम्प्रदाय के हैं। इस देवालय के निकट बिखरी हुई और गड़ी हुई असंख्य हिन्दू-मूर्तियां पड़ी हैं। खुदाई के पश्चात्



अतः इनमें से कुछ को पाठ ही के एक भवन में छोटे से संग्रहालय में रखा हुआ है।

उपसंहार में ध्वनि-सम्बन्धी निर्माण, जो सूक्ष्मतम ध्वनि को भी ११ बार गुंजाता है, गण-गण को उत्पन्न करने के उद्देश्य से था—जो ध्वन्यात्मक नस्लीयता थी—और महाशिवरात्रि तथा शिव की अन्य पूजाओं में होता था। शिव अपने ताण्डव नृत्य अर्थात् महाण्ड-नृत्य के लिए विख्यात है, जिसमें स्वर मृदंगों, डमरूओं, तूपुरों, घण्टियों और अन्य वाद्य-यन्त्रों की प्रतिक्रिया प्रतीतिनादित करने के लिए महाध्वन्यात्मक मिली होती है। इस स्वर को प्रतिनिनादित करने के लिए ही हिन्दु-इंजीनियरों ने गोल गुम्बद का नमूना बनाया था। मूलरूप में श्रमिक आत्मा को तो निर्विघ्न शान्ति प्रदान करनी होती है। शोक के समय में, इस्लाम में कभी न सुनी गई, ऐसी धर्मांधता की वस्तुओं को सोचने का दुःसाहस कोई कर ही नहीं सकता था। दूसरी ओर ऐसे अनेक सूत्र हैं जिनके अनुसार विश्वास किया जा सकता है कि यह शिव मन्दिर था क्योंकि चहुँ ओर का शब्द महान् सर्वनाम और ध्वस्तता का निधान्ति दृश्य उपस्थित करता है। गोल-गुम्बद की आलंकारिक प्रस्तर-सज्जा प्रत्यक्षतः उखाड़ डाली गयी है जिससे कि बरफान, गये बादशाह की रूढ़ अमन में सोयी रहे। नामपुर में श्री जी० जी० जी०जी०, भवन-निर्माण-कला विशेषज्ञ ने लेखक को सूचित किया है कि लेखक की धारणा को सुनकर श्री जोशी ने गोल-गुम्बद की विशेष रूप से पावा की ओर उनको यह विश्वास हो गया कि गोल-गुम्बद नया रूप में प्राचीन हिन्दु शिल्प शास्त्र की नियमावली के अनुसार बनाया गया मुसलमान पूर्वकाल का हिन्दु मन्दिर है, मूल मकबरा कदापि नहीं।

विशाल ताम्र बावड़ी और बीजापुर नगर के चहुँ ओर की सुदृढ़ प्राचीर, सब मुस्लिम-काल से पहिले की है। आदिलशाहों ने इस स्थान को केवल अपने बर्तन किया और आसन किया। उन्होंने अनेक भवनों को नष्ट किया और ब्रजवासी एक भी नहीं—अतः कारण है जिसकी वजह से उनके नाम का ही कोई मंदिर नहीं है।

## मदरसा

मध्यकालीन स्मारकों के खुले प्रांगण, वार्तालाप-कक्ष भाग यात्रियों को 'मदरसे' बता दिए जाते हैं। विचार करने की बात है कि मध्यकालीन इस्लामी शासन के अन्तर्गत, जब अशिक्षित शासकों का राज्य था और सम्पूर्ण शैक्षिक-योग्यता का अर्थ केवल कुरान का पूर्ण पाठ करने की क्षमता भर था और वह भी केवल मुस्लिम जनसंख्या के अल्पांश को ही पढ़ाने तक सीमित था, तो ऐसा कौन-सा शासक हो सकता था जो घोर व्यसनी और मद्यपी होते हुए भी शिक्षणालय के रूप में अविशिष्ट भवनों का निर्माण करता ! यह असम्भव है। अतः, मध्यकालीन स्मारकों में भव्य भागों को मदरसे के रूप में चटकदार तथा लुभावनी भाषा में सामान्य यात्रियों और असंशयशील विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत करना ही इस बात का पर्याप्त प्रमाण है कि मध्यकालीन भारतीय स्मारक, जिनमें इस्लामी धर्म-प्रेरणा से भेज न सके हुए अनेक अयुक्तियुक्त लक्षण हैं, तथ्य रूप में मुस्लिम-पूर्व काल के राजपूती स्मारक ही हैं।

मदरसा शब्द का रहस्य—भारत में जहाँ देखो वहाँ ऐतिहासिक इमारतों के विशाल ढालान बतलाते हुए स्थलदर्शक (guides) प्रेसकों को कहते रहते हैं, "यह मोहम्मद तुगलक का मदरसा, वह अलाउद्दीन खिलजी का मदरसा, वह अन्य एक मोहम्मद गवान का मदरसा, इत्यादि इत्यादि।" भारत में इतने ढेर-के-ढेर मदरसे खोलने की आवश्यकता इन आक्रामकों को क्यों पड़ी ? इस्लामी आक्रमणों से पूर्व भारत में क्या सारे अनपढ़, निरक्षर, जंगली लोग ही बसते थे ? और इतने सारे इस्लामी आक्रामक जो लगातार छह सौ वर्ष भारत पर आक्रमण करते रहे क्या वे रक्तरीजित खड्ग उठाए आते थे या स्याही लगी कलम ? और क्या ये स्वयं बड़े उच्च शिक्षाविभूषित विद्याप्रसार के लिए तड़पने वाले व्यक्ति थे कि क्रूर, बर्बर, धर्मान्ध और अत्याचारी थे ? और क्या उन्होंने स्वयं उनके देश में विद्या-प्रसार का इतना पर्याप्त कार्य किया था कि उन्हें भारत में मदरसे पर मदरसे स्थापित करने के सिवाय कोई चारा ही नहीं था ? आज तक के इतिहासकारों ने ऐसा सर्वांगीण विचार कभी नहीं किया। जोस और अकबाहों पर विश्वास कर उन्होंने मनगढ़न्त बातों को ही इतिहास समझा।



अतएव उस 'मदरसा' शब्द का रहस्य समझना नितान्त आवश्यक है। इस्लामी आक्रमणों से पूर्व भारत में विद्यमान संस्कृत प्रणाली के अनुसार मकबरा 'मकाना' शब्द का प्रयोग होता था। जैसे पाठशाला, चन्द्रशाला, भोज-शाला, वेदशाला, गजशाला, रत्नशाला, वेधशाला, गजशाला, वैद्यशाला इत्यादि-इत्यादि। इन सारे भवनों पर कब्जा करने के पश्चात् मुसलमान इत्यादि-इत्यादि। इन सारे भवनों पर कब्जा करने के पश्चात् मुसलमान जब उनमें रहने लगे तो विविध शालानों के नाम पूछने पर उन्हें 'शाला-मकाना' शब्द ही सर्वत्र सुनाई दिया। उसका इस्लामी अनुवाद उन्होंने 'मदरसा' कर दिया। अतएव जिस भवन में मोहम्मद तुगलक ने अपना साजान रखा वह भवन तुगलक का मदरसा कहलाया और जिस पर मोहम्मद गवान ने कब्जा किया उसे लोग मोहम्मद गवान का मदरसा कहने लगे। इस 'मदरसा' नाम से ही एक महत्वपूर्ण निष्कर्ष यह निकलता है कि कूर इस्लामी आक्रमणों द्वारा कब्जा किए हुए सारे ऐतिहासिक भवन हिन्दुओं के भवन थे। दक्षिण भारत में तमिल प्रान्त की राजधानी मद्रास—इस नाम से हम कह सकते हैं कि प्राचीन काल में वहाँ अवश्य ही कोई वेद विद्यालय दीर्घ समय तक चलता रहा हो, अतएव उस नगर का नाम इस्लामी आक्रमण के काल में मदरसा उर्फ मद्रास पड़ गया।

### कुछ महत्वपूर्ण सिद्धान्त

ऊपर किए गये विवेचन से प्रस्थापित होने वाले कुछ महत्वपूर्ण निष्कर्ष इस प्रकार हैं—(१) विश्व में जितनी भी विशाल ऐतिहासिक इमारतें इस्लामी कब्र, मस्जिदें, किले, बाड़े आदि समझी जाती हैं वे सारी कब्जा की हुई हिन्दु इमारतें हैं। क्योंकि इस्लाम की प्रथा ही इमारतें हड़प करने की रही है, न कि बनाने की। (२) कोई भी ऐतिहासिक इमारत बनाने का लोग या उस इमारत का नाम भी तत्कालीन इस्लामी इतिहासों में नहीं है जिस काल में उस इमारत का इस्लामी निर्माण बताया जाता है। (३) इमारत को कब हड़पाया या समझना बड़ी भारी भूल है। कब केवल मुर्दों के टीकों को हटा जाता चाहिये। यदि जाकिर हुसैन दिल्ली के राष्ट्रपति भवन में दखलाने जाते तो क्या राष्ट्रपति भवन को ही कब कहना ठीक होता? (४) जिस मृगशाला का नाम जिस ऐतिहासिक इमारत से जुड़ाया गया है

उसे उस इमारत का ध्वंसक मानना चाहिये, न कि निर्माता। (५) प्रत्येक ऐतिहासिक स्थान पर जो निर्माण-कार्य हुआ है वह हिन्दू निर्माण है; किन्तु जो तहस-नहस किया दिखाई देता है वह इस्लामी आक्रमणों का कृतकृत है। (६) प्रत्येक मुसलमान व्यक्ति कंदी बनाकर छल-बल से धर्मपरिवर्तन कराए गए हिन्दू का वंशज है।

### आधार ग्रन्थ-सूची

- (१) हिस्ट्री आफ इण्डिया एंड रिटन बाइ इट्स ओन हिस्टोरियन्स, बाइ सर एच० एम० इलियट एण्ड प्रो० डासन, वोल्यूम्स १ से ८।
- (२) अबुल फजल् अकबरनामा, वोल्यूम्स १ से ३, बिब्लियोथीका इण्डिका सीरीज।
- (३) ट्रांजेक्शन्स आफ दि आर्क्योलॉजिकल सोसायटी आफ आगरा।
- (४) दि XIX सेन्चुरी एण्ड आफ्टर—ए मंबली रिव्यू, एडिटेड बाइ जेम्स नोल्स।
- (५) पीटर मुण्डेज ट्रेवल्स।
- (६) कमेंटेरियस।
- (७) ट्रेवल्स इन इण्डिया बाइ ट्रेवरनियर।
- (८) हिस्ट्री आफ दि शाहजहाँ आफ दिल्ली बाइ प्रोफेसर बी० पी० सक्सेना।
- (९) तारीखे-फिरोजशाही बाइ ग्राम्से-शीराज-अफ्रीफ।
- (१०) रैम्बल्स एण्ड रिकलैक्शन्स आफ एन इण्डियन आफिशल, बाइ ले० क० डब्ल्यू० एच० स्लीमन।
- (११) इम्पीरियल आगरा आफ दि मुगल्स, बाई केशवचन्द्र मजूमदार।
- (१२) तारीखे-दाऊदी।
- (१३) कौन्स हेण्डबुक फोर विजिटर्स टु आगरा एण्ड इट्स नेबरहुड।
- (१४) महाराष्ट्रीय ज्ञानकोष, वोल्यूम्स १ से २३।



स्मिथ इस विचार को बिल्कुल "भावुकतापूर्ण निरर्थकता" कहकर तिरस्कृत कर देता है कि अकबर द्वारा विभिन्न चढ़ाइयाँ छोटे-छोटे राज्यों को मिलाकर विशाल साम्राज्य स्थापित करने के महान् उद्देश्य से प्रेरित होकर की गई थीं।

समकालीन व्यक्तियों; यथा अबुल फजल, निजामुद्दीन और बदायुनी तथा विन्सेंट स्मिथ जैसे पश्चिमी विद्वानों द्वारा प्रस्तुत अकबर के शासन के वर्णनों का पर्यवेक्षण पाठक को इस बात के लिए प्रतीति कराने को परोक्ष है कि अकबर के शासनाधीन होकर दासता अपने अधमतम रूपों में चरमोत्कर्ष पर थी, और उसका शासनकाल इस प्रकार की नृशंसता, विधिहीनता, दमन और निमंमतापूर्ण चढ़ाइयों से परिपूर्ण है जिनका दूसरा रूप इतिहास में अन्यत्र दुर्लभ है।

### अकबर की वंशावली

अकबर के व्यवितत्व का सही आकलन कर पाने के लिए यही उचित होगा कि उस परिवार की परम्पराओं तथा व्यवहार के स्तर का परिवेक्षण किया जाय जिससे कि अकबर का वंशानुक्रम है।

अपनी पुस्तक के ७वें पृष्ठ पर विन्सेंट स्मिथ ने उल्लेख किया है कि "अकबर भारत में एक विदेशी था। उसकी रगों में भारतीय रक्त की एक बूंद भी नहीं थी।" यह प्रदर्शित करता है कि किस प्रकार भारतीय विद्यार्थियों की पीढ़ियों को तोते की-सी रट लगवाकर तथा अपनी उत्तर-पुस्तिकाओं में यह लिखवाकर सदैव धोखे में रखा गया है कि अकबर एक भारतीय था, तथा उनमें भी प्रमुखों में से एक प्रमुखतम व्यक्ति था। भ्रान्ति के उस दूसरे अंश का जहाँ तक सम्बन्ध है कि वह एक महान् व्यक्ति तथा शासनकर्ता था, हम इस लेख में सिद्ध करना चाहते हैं कि वह तो अपने समस्त सम्बन्धियों तथा भारतीयों द्वारा सर्वाधिक घृणित व्यक्तियों में से एक था, और इसीलिए भारतीय इतिहास-ग्रन्थों में उसकी गणना ऐसे ही घोर घृणित व्यक्तियों में की जानी चाहिये।

ऊपर कहे हुए शब्दों को जारी रखते हुए विन्सेंट स्मिथ कहता है कि अकबर अपने पितृपक्ष में तैमूरलंग से सीधी सातवीं पीढ़ी में आ और मातृ-

भयंकर भूलें : क्रमांक - २

### अपकृष्ट अकबर को उत्कृष्ट व्यक्ति मानते हैं

इच्छित भारतीय इतिहास की पुस्तकों में छठी पीढ़ी में उत्पन्न मुगल बादशाह औरंगजेब की कुरता, धोखेबाजी, धूर्तता और धर्मान्धता का साक्षात् मूर्त रूप प्रस्तुत किया गया है। किन्तु औरंगजेब का प्रपितामह अकबर इससे भी बदतर था। चाटुकारों द्वारा लिखे इतिहास-ग्रन्थों ने अकबर के कुकृत्यों को रूप परिवर्तित कर देने, तमाम प्रमाणों को तिरस्कार कर देने और इन बिखरे पड़े प्रमाणों को भी अकबर के शाही शयनागारीय कालीम के नीचे कुशनलापूर्वक छिपा देने का यत्न किया है। इस प्रकार में पाठकों के समक्ष उसी साक्ष्य का नमूना प्रस्तुत करने की इच्छा है, यद्यपि वह साक्ष्य मात्रा में इतना विधुल है कि एक पृथक् पुस्तक ही उसके लिए उपयुक्त होगी। उत्कृष्ट व्यक्ति होना दूर, भारत के ही इतिहास में उसका स्थान भी छोड़िए, अकबर को तो विश्व इतिहास के निकृष्टतम व्यक्तियों में से एक गिना जाना चाहिये। और, अकबर को तो अशोक जैसे पुण्यज्मा, धर्म शिर्षपी और मनस्तापपूर्ण व्यक्ति के समकक्ष रखना थोड़ा बुद्धिहीनता की पराकाष्ठा है।

"महान् मुगल—अकबर" जोषिक वाली, अकबर के शासन का महत्त्वपूर्ण तथा यथार्थपूर्ण वर्णन करने वाली पुस्तक में भी पृष्ठ ३२ पर विन्सेंट स्मिथ यह उल्लेख किए बिना नहीं रह सका कि "कलिंग विजय पर हुई शोकात्मकता के कारण अशोक को जो मनस्ताप अनुभव हुआ था, उसपर अकबर कृतकृत्य होना होगा, और उसने अपने पूर्ववर्ती के इस निर्णय की पूर्ण समझा की होगी कि अतिशय के लिए को जाने वाली भावी लड़ाइयों ने इन लड़ाइयों।"



पदम्या से सम्बन्ध रखता था।  
विसेंट स्मिथ की पुस्तक के २६४ पृष्ठ पर कहा गया है कि, "तैमूर-लंग के राज्यपरिवार के लिए मद्यपान उसी प्रकार जन्मपाप था जिस प्रकार यह अन्य मुस्लिम राजपरानों की वैतिक-दुर्बलता थी। बाबर गहरे पियक्कड़ मद्यभाव का व्यक्ति था—हमारे स्वर्ण की अफीम से धुत रखकर जड़बुद्धि बन चुका था—अकबर ने अपने आप में दोनों अवगुणों का समावेश होने दिया—अकबर के दो छोटे लड़के पुरानी मद्यपानता के कारण मर गए थे, और उनका बड़ा भाई पुरानी दृढ़ शारीरिक मरचना के कारण बच गया था,"  
यह कि किसी गुन के कारण।"

इसलिए ज्ञान के समस्त पुस्तिका नामकों के साथ सामान्य बात रही की इस दो हप्ता भी अपने सम्पूर्ण जीवन में अपने ही भाइयों के साथ कामरान कुतों में व्यस्त रहा। यहाँ तक धन्याचारों का सम्बन्ध रहा, वह कामरान का प्रतिन्यायी था। फकत लिए जाने पर कामरान को घोर लाजवाले दी गई। निम्न ने (२०वें पृष्ठ पर) लिखा है — “अपने भाई के कपड़ों से हमारा जो कोई दुख नहीं हुआ” कामरान को उसके आवास से अलग कर बाहर लाया गया, निदाया गया, और जब उसके घुटनों पर एक कादमी बँट गया, यह दो छार वाला तेज नोकदार नशतर कामरान की छाती में धुन दिया गया। मोहान्ना मौजू का रस और नमक उसकी आँखों में गिरा गया, और उसके नुस्त बाद पहरेंदारों के साथ घेतने के लिए उसका कपड़ा की लोह पर बँटा दिया गया।” अपने पिता और चाचा तक उनके भाई नहीं परमाना, जे स्वयं अकबर के सब सम्भव अवगुणों के प्रति

## एक ऐतिहासिक सिद्धान्त

एक व्याख्यान में इस सिद्धान्त की व्याख्या करने पर एक श्रोता ने पूछा कि क्या राक्षसी हिरण्यकश्यपु का पुत्र प्रह्लाद सद्गुणी देशभक्त नहीं था ? तब मैंने श्रोताओं को ध्यान दिलाया कि वह उदाहरण मेरे सिद्धान्त को इस लिए लागू नहीं है क्योंकि उसमें केवल एक ही पूर्वज का (यानी पिता का) विचार किया गया है। हिरण्यकश्यपु के पूर्वज तो ऋषि थे। यदि अकबर वास्तव में भक्त्युन्मुख व्यक्ति होता तो उसका प्रभाव आगे, पीछे, उसके पूर्वजों



से या राज्यों में अबका दिखलाई देता। किन्तु वैसा नहीं था। इस पीढ़ियों तक आगे-पीछे अकबर के दावे-पदावे और पुत्र-पोतादि सारे ही अत्यन्त दुर्गमारी एवं व्यभिचारी थे।

### इतिहासकारों की भूल

अकबर के मृत्योक्त में भूल यह हुई है कि जलालुद्दीन मोहम्मद ने 'अकबर' (जानी सर्वश्रेष्ठ) यह पदवी जो अपने आप लगा ली थी उसीके अनुवाद स्वल्प अन्वेषण इतिहासकार जलालुद्दीन मोहम्मद को 'The great' जानी 'बेस्ट' कहने लगे। अतएव पाठक यह बात ध्यान में रखें 'The great' जानी 'बेस्ट' यह जलालुद्दीन मोहम्मद द्वारा धारण की गयी पदवी का अनुवाद ना, न कि उसके व्यक्तित्व का कोई निष्पक्ष मूल्यांकन। अकबर 'The great' कहना एक बड़ा हास्यास्पद प्रदर्शित है क्योंकि 'अकबर' का अर्थ ही 'The best' है।

### कुरूप आकृति

(पृष्ठ २४२ पर) बिन्सेट स्मिथ द्वारा दी गई अकबर की शारीरिक विशेषताओं में स्पष्ट है कि अकबर का व्यक्तित्व कुरूप तथा भद्दा था, केना हमारा नृसङ्ग-विज्ञान के बिल्कुल अनुरूप है क्योंकि उसका सम्बन्ध एक अत्यन्त दुर्गुणी प्रकृति से था। निम्न कहता है—“(जीवन के मध्यकाल में) अकबर क्षीमन दबे के होल-होल का था, ऊँचाई में लगभग ५ फुट ७ इंच, चौड़ी छाती, कतली कमर और लम्बे बाजू। उसके पैर भीतर की ओर झुके हुए थे। कबल समय बहु अपने बाएँ पैर को कुछ घसीटता-सा था, माना नगना हो। उसके सिर दाएँ कंधे की ओर कुछ झुका हुआ था। नाक कुछ झोटी थी, बीच की हड्डी कुछ उभरी हुई थी, लघुने ऐसे लगते थे मानो क्रोध से कूले हो। मटर के आधे दाने के आकार का एक मरसा उसके ऊपरी ओंठ की नक़्क़े से जोड़ता था—“उसका रंग स्वामल था।” इस प्रकार की भद्दी आकृति होते हुए भी, समकालीन व्यक्तियों द्वारा “निलंज्ज चाटुकार” संज्ञा दिया गया आत्म-निर्दोष, मिथ्याचारी, परान्तभोजी, अकबर के शासन का

चाटुकार अबुल फ़जल, उसको “धरती पर सुन्दरतम व्यक्ति” कहते नहीं सकते।

तेज नशीली वस्तुओं तथा मदान्ध करने वाली जड़ी-बूटियों का अकबर घोर व्यसनी था, इस तथ्य के असंख्य उदाहरणों से इतिहास भरा पड़ा है। वह नशीली पेय तथा खाद्य-वस्तुओं के मिश्रण से निर्मित होने वाली भयंकर नशे वाली वस्तुओं का भी सेवन कर लेता था। अकबर का बेटा जहाँगीर स्वयं कहता है: “मेरा पिता, चाहे शराब पिये हो, चाहे स्थिर चित्त हो, मुझे सदैव ‘शेखु बाबू’ कहकर पुकारता था।” इसका अन्तर्निहित अर्थ स्पष्ट है कि अकबर प्रायः शराब के नशे में रहता था। (८२वें पृष्ठ पर) स्मिथ ने उल्लेख किया है कि यद्यपि अकबर के चाटुकार भाँडों में मदिरापान-वस्था का कोई वर्णन नहीं किया है, तथापि यह निश्चित है कि उसने पारिवारिक परम्परा बनाए रखी, और वह प्रायः आवश्यकता से अधिक शराब पीता रहा।

अकबर के दरबार का ईसाई पादरी अक्बावीवा कहता है, कि “अकबर इतनी अधिक शराब पीने लगा था कि वह प्रायः (आगन्तुकों से बातें करते-करते ही) सो जाया करता था। इसका कारण यही था कि वह कई बार तो ताड़ी पीता था जो अत्यन्त मादक ताड़ की शराब होती थी, और कई बार पोस्त की शराब पीता था जो उसी प्रकार अफ़ीम में अनेक वस्तुएँ मिलाकर बनाई जाती थी।” मदिरापान के दुर्गुण के उसके बुरे उदाहरण का पूर्ण निष्ठापूर्वक पालन उसके तीनों बेटों ने युवावस्था प्राप्त होने पर किया। (२४४वें पृष्ठ पर) उल्लेख है कि जब अकबर सीमा से अधिक पी लेता था, तब पागलों जैसी विभिन्न हरकतें किया करता था। उसको एक अति नशीली ताड़ से निकली शराब विशेष रूप में प्रिय थी। उसके बदले में वह अत्यन्त चटपटी अफ़ीम का अवमिश्रण लिया करता था। अनेक पीढ़ियों से चली आयी अत्यन्त नशीले पेय पदार्थों तथा अफ़ीम को विभिन्न रूपों में सेवन करने की पारिवारिक परम्परा को उसने खूब निभाया, अनेक बार तो अति-पान करके निभाया। ऐसे दृष्टान्तों के मनचाहे उदाहरण दिए जा सकते हैं, किन्तु ‘अकबर की अत्यन्त दुर्गुणी प्रकृति थी’—ऐसा विश्वास पाठक के हृदय में जमाने के लिए, ये उदाहरण पर्याप्त होने चाहिये। इस बात पर



कम श्रेय की आवश्यकता नहीं कि दुर्गुणी आत्मा जो निरन्तर वर्धमान पापोंनुसी हो, वही मादकता में संरक्षण चाहती है।

सभी इतिहासकारों ने सर्वसम्मत स्वर में पुष्टि की है कि अकबर निपट निरन्तर था। उसने बड़े जहांगीर ने उल्लेख किया है कि अकबर न तो लिख सकता था और न पढ़ हो सकता था, किन्तु वह प्रदर्शित ऐसा करता था जैसे अत्यन्त शिक्षित व्यक्ति हो। अकबर का स्वयं ऐसा भाव प्रदर्शित करना उचित नहीं है जितना अन्य लोगों का उसके सम्मुख वह अभिमान महत्वापन्न नहीं है जितना अन्य लोगों का उसके सम्मुख वह अभिमान महत्वापन्न नहीं है जितना अन्य लोगों का उसके सम्मुख वह अभिमान महत्वापन्न नहीं है।

अकबर का जीवन उस महान्त उभित का अच्छा उदाहरण है जिसमें कहा गया है—

“जीवन धनसम्पत्ति प्रभुत्वमविवेकता,  
एकैकमप्यनयां किम् यत्तु चतुष्टय ॥”

### अकबर की कामासक्ति

३१वें पृष्ठ पर स्मिथ कहता है : “अबुल फजल यह दुहराते हुए कभी नहीं भूलता कि अपने प्रारम्भ के वर्षों में अकबर ‘पदों के पीछे’ रहा। अबुल फजल का आशय यही है कि अकबर अपना अधिकतम समय अपने हरम में ही बिताया करता था।” ३२वें पृष्ठ पर स्मिथ हमें सूचित करता है कि “पुनीत ईसाई-धर्म-प्रचारक अक्बार्कीवा ने अकबर को, स्त्रियों में उसके कामुक-भावों के लिए, बुरी तरह फटकार लगाने का अत्यन्त सहस्र किया था—‘अकबर ने अजबार्जित हो स्वयं को भ्रमा कर दिया—’” अकबर के हरम का वर्णन करते हुए अबुल फजल कहता है : “शहन्शाह ने ज्ञान शरणागति करने के लिए एक विज्ञान चहारदीवारी बनायी है जिसमें अत्यन्त लज्ज भवत है। यद्यपि (हरम में) ५००० से अधिक महिलाएँ हैं, फिर भी शहन्शाह ने उनमें से प्रत्येक को पृथक्-पृथक् निवास-गृह दे रखा है।” दूसरे निवास-गृह बाका अंग तो झूठ है क्योंकि अकबर के समय का

ऐसा कोई भवन नहीं मिलता जिसमें ५००० महिलाएँ, भिन्न-भिन्न निवास-गृहों में रह सकतीं।

विलोचमान द्वारा सम्पादित ‘आईने अकबरी’ के प्रथम भाग के २७३वें पृष्ठ पर अबुल फजल पाठकों को बताता है, कि “शहन्शाह ने महल के पास ही शराब की एक दुकान स्थापित की है—दुकान पर इतनी अधिक वेण्याएँ राज्य भर से आकर एकत्रित हो गईं कि उनकी गणना करना भी कठिन कार्य हो गया—‘दरबारी लोग नचनियों को अपने घर ले जाया करते थे। यदि कोई प्रसिद्ध दरबारी-गण किसी असम्भुक्ता को ले जाना चाहते हैं, तो उनको सर्वप्रथम शहन्शाह से अनुमति प्राप्त करनी होती है। इसी प्रकार लडके भी लौहेबाजी के शिकार होते थे, और शराबीपन तथा अज्ञान से भी इस ही खून-खराबा हो जाता था। शहन्शाह ने स्वयं कुछ प्रमुख वेण्याओं को बुलाया और उनसे पूछा कि उनका कामासक्ति किसने भंग किया-या?’”

एक सहज किन्तु आवश्यक प्रश्न यह होगा कि ये तत्वाकथित वेण्याएँ कौन थीं। टिड्डी-दल की भाँति वेण्याओं की यह पूरी फ़ौज की फ़ौज कहाँ से अकबर के राज्य में आ पहुँची? उत्तर यह है कि सतत वर्धमान ये वेण्याएँ उन सम्भ्रान्त हिन्दू महिलाओं के अतिरिक्त और कोई नहीं थीं जिनके घरों को प्रतिदिन लूटा-खसोटा जाता था, और जो अपने पुरुष वर्गों का या तो बध या धर्म-परिवर्तन हो जाने के पश्चात् स्वयं ही अपने लिए प्रबन्ध करने को कामुक मुगल-दरबारियों की दया पर असहाय छोड़ दी जाती थीं।

पाँच हजार से अधिक स्त्रियों का निर्बाधित हरम तथा राज्य की उन सभी असम्भुक्ता वेण्याओं के होते हुए भी, जिनका कामासक्ति अबुल फजल के अनुसार अकबर की पूर्ण इच्छा पर सुरक्षित सम्भव था जिसकी कोई भी दरबारी बिना विशेष अनुमति के भंग नहीं कर सकता था, उमरावों तथा दरबारियों की पत्नियों का सम्मान भी अकबर की कामुक वृत्ति का शिकार था। सर जदुनाथ सरकार द्वारा सम्पादित अकबरनामा के भाग-३ में अबुल फजल कहता है—“जब भी कभी वेगमें, अथवा उमरावों की पत्नियों या ब्रह्मचारिणियों उपहृत होने की इच्छा करती हैं, तब उनको अपनी इच्छा की मूचना सबसे पहिले बासनालय के सेवकों को देनी होती है और फिर उत्तर की प्रतीक्षा करनी होती है। वहाँ से उनकी पार्थना महल के भवि-



कारियों के पास भेज दी जाती है, जिसके पश्चात् उनमें से उपयुक्तों को हरम में प्रविष्ट होने की अनुमति दे दी जाती है। उच्च वर्ग की कुछ महिलाएँ वहाँ एक मास तक रहने की अनुमति प्राप्त कर लेती हैं।”

यह स्मरण रखते हुए कि अबुल फजल “निर्लज्ज चाटुकार” की संज्ञा से कसकित है, उपर्युक्त उद्धरण इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि उमरावों और दरबारियों की पत्नियों तक को भी, जिनकी ओर वह आकृष्ट हो जाता था, अकबर अपने हरम में कम-से-कम एक मास तक रहने के लिए बाध्य करता था।

यह निष्कर्ष रणधम्मोर की सन्धि की शर्तों का आकलन करने पर और भी स्पष्ट हो जाता है। विन्सेट स्मिथ द्वारा दी गयी सूची में पहली शर्त थी : “राजपूतों द्वारा (महिला का) डोला शाही हरम में भिजवाकर उनका निरस्कार करने के रिवाज से बंदी के (किले के स्वत्वाधिकारी) सरदारों को छूट देना।” यह प्रदर्शित करता है कि पराभूत शत्रुओं के घरों से मन-पसन्द महिलाओं को अपने हरम में भरती कर लेने का अपकारी रिवाज अकबर ने खानू कर रखा था। इस प्रकार अकबर द्वारा विजित प्रदेशों की महिलाएँ, चाहे वे साधारण परिवारों से हों, चाहे उमरावों अथवा राज-कुमारों से, अकबर की रति-विषयक दया पर निर्भर रहती थीं।

अकबर की स्त्रियों-विषयक घोर दुर्बलता का उल्लेख करता हुआ स्मिथ पृष्ठ-६७ पर कहता है : “जनवरी सन् १५६४ के प्रारम्भ में अकबर दिल्ली की ओर गया। जब वह एक सड़क से गुजर रहा था, तब सड़क के किनारे बनी इमारत के एक छान्ने से एक पुरुष ने एक तीर मारा जिससे अकबर का एक कन्धा घायल हो गया।” प्रतीत होता है, अकबर ने हत्यारे के नामाङ्कियों का पना लगाने के प्रयत्नों को निरन्तराहित किया था। अकबर उस समय दिल्ली-परिवारों की महिलाओं में विवाह करने की योजना में लगा हुआ था, तथा उसने एक शत्रु को अपनी पत्नी अकबर को समर्पित करने के लिए बाध्य किया था। अकबर की हत्या का प्रयत्न “सम्भवतः, अकबर द्वारा परिवारों के सम्मान के हरण के विरुद्ध रोष का प्रतिफल था। पत्नियों और खालों के मामलों में अकबर ने स्वयं को पर्याप्त छूट दे रखी थी।”

इस कुत्सित वर्णन से यह स्पष्ट मालूम देता है कि चूंकि अकबर की आँख बैरमखाँ की पत्नी पर लग गई थी और उसने बैरमखाँ की हत्या के बाद उसकी पत्नी से शादी भी कर ली थी, अपने पूर्वकालीन संरक्षक की मृणम और दुःखान्त समाप्ति भी अकबर ने ही करवायी होगी।

३७वें पृष्ठ पर स्मिथ ने वर्णन किया है कि किस प्रकार अकबर के सेना-पति आधमखाँ ने माण्डवगढ़ के शासक बाजबहादुर को पराजित करने के पश्चात् ‘अपने लिए महिलाओं तथा लूट-खसोट की अन्य वस्तुओं को सुरक्षित रखते हुए’ अकबर के पास ‘केवल हाथियों के और कुछ नहीं भेजा।’ अकबर ने आगरा से २७ अप्रैल, सन् १५६१ को प्रस्थान किया, और बाज-बहादुर के हरम की महिलाओं को अपने हरम में प्रविष्ट करने के लिए विशाल बलशाली सेनाओं में बाजबहादुर को धर देवाया। इस प्रकार अकबर का हरम सैकड़ों महिलाओं से निरन्तर वर्धमान होता रहता था। उन महिलाओं की दशा का केवल अनुमान ही लगाया जा सकता है। कल्पना की जा सकती है कि उनका जीवन भी अन्यो की तरह उत्तम नहीं रहा होगा। वे तो केवल पशु-समूहों की भाँति रही होंगी, और इसलिए अबुल फजल का बलपूर्वक उच्च स्वर से यह घोषित करना, कि उन महिलाओं के लिए पृथक्-पृथक् आवास दिए गये, मुस्लिम-चाटुकारिता का सामान्य अंश प्रतीत होता है।

विन्सेट स्मिथ पृष्ठ-१६३ पर एक अन्य घटना का उल्लेख करता है जो फिर अकबर की सम्भोगेच्छा की ओर संकेत करती है। राजा भगवानदास का सम्बन्धी जयमल एक अल्पकालिक शास्त्रा पर भेजा गया था। उन भया-वह दिनों में जीवित रहने की कामना न रखने के कारण उसकी विधवा पत्नी ने अपने पति के शव के साथ अग्नि की भेंट चढ़ जाने की तैयारी की। अकबर ने उस विधवा के साथ जाने वालों का पीछा करने एवं उनको पकड़ने के पश्चात् बन्दी बनाने के कार्य में कोई देर न की। ओड़िसे भी अन्वेषण द्वारा यह दर्शाया जाता सम्भव हो सकता है कि जयमल को जान-बूझकर मार डाला गया हो, और उसकी विधवा पत्नी को अकबर के हरम में ठूस दिया गया हो।

१८५वें पृष्ठ पर स्मिथ का कहना है कि, “हिमन का यह कथन कि



अकबर एकनिष्ठ बलि रहा, तथा उसने रखैलों को अन्य दरबारियों में वितरित कर दिया था, अन्य खोलों से पृष्ठ नहीं होता।" अकबर को कामुकता में यह एक बड़ा अध्याय जुड़ जाता है क्योंकि यह प्रदर्शित करता है कि किस प्रकार अकबर और उसके दरबारियों के मध्य महिलाएँ केवल ऊपर विनिमय की जाने वाली व्यभिचार की सामग्री-मात्र समझी जाती थी। उन उपन्यासों की स्थिति मास-बाजार में स्थित उन मेमनों की-सी रही थी जिनकी व्यावसायिक-समझौते के निर्णय तक विक्रेता और ग्राहक के मध्य बार-बार इधर-से-उधर तक घसीटा जाता है।

इसके साथ ही सीता बाजार नाम की कुख्यात प्रथा थी जिसके अनुसार नव-वर्ष के दिन सब घरों की महिलाओं को अकबर की रुचि के अनुसार चबन किया जाने के लिए उसके सामने से समूह में निकाला जाता था। अकबर के शासन के वर्षों में ये कामुकता के सभी सम्भव रूपों की ऐसी दुःखदायी अन्वेषण किये बिना ही संख्या में चाहें उपलब्ध की जा सकती हैं।

### अकबर की क्रूरता

क्रूरता में अकबर की गणना इतिहास के शोचनीय क्रूर-सम्भोगियों में की जानी चाहिये।

पृष्ठ १० पर विन्सेंट स्मिथ कहता है, कि "स्वानियर में सन् १५६५ में कामरान के युद्ध (अर्थात् अकबर के अपने भाई) को निजी रूप में मार डालने के अकबर के कार्य ने अत्यन्त घृणित उदाहरण प्रस्तुत किया जिनकी नज़र उनके अनुवर्ती शाहजहाँ और औरंगजेब ने खूब की।" इस प्रकार, शाहजहाँ और औरंगजेब द्वारा किए गये अत्याचार उनकी अपनी नवीन कल्पनाएँ न होकर उनके धर्मस्वी (१) पूर्वज अकबर द्वारा भली-भाँति गंभीर प्रशिक्षण से उनकी विनमन में सिखाए गये थे। यह साधारण-सा तथ्य ही भारतीय इतिहास के तथाकथित विद्वानों द्वारा उपेक्षित कर दिया गया है, तथा भी वे अकबर की महाव्रता के अमजान की स्मरण बनाए हुए हैं।

अकबर के युद्ध के पञ्चांग ६ नवम्बर, १५५६ के दिन जब अकबर

के सम्मुख घायल तथा अर्ध-चेतनावस्था में हेमू को लाया गया तब "अकबर ने अपनी टेढ़ी तलवार से उसकी गर्दन पर प्रहार किया।" —स्मिथ का कथन है। अकबर उस समय केवल १४ वर्ष का था। उन छोटी आयु में ही उसने कायरों की भाँति अपने पराभूत तथा असहाय शत्रुओं को हत्या करने का यत्न अजित किया था। इस प्रकार का उसका लालन-पालन था।

पानीपत की लड़ाई के बाद अकबर की विजयी सेनाएँ "मौखी दिग्गी की ओर कूच कर गयीं, जहाँ उनके लिए द्वार खोल दिए गए। अकबर राज्य में जा घुसा। आधरा भी उसी के अधीन आ गया। उस काल की पैशाचिक-प्रथा के अनुसार कत्ल किये गए व्यक्तियों के सिरों का एक स्तम्भ बनाया गया। हेमू के परिवार के साथ ही विपुल कोष भी ले लिया गया था। हेमू का वृद्ध पिता मौत के घाट उतार दिया गया।" (स्मिथ की पुस्तक का पृष्ठ ३०)।

खान जमन के विद्रोह को दबाने के अवसर पर उसके विश्वासपात्र मोहम्मद मिरक को वधस्थल पर पाँच दिन तक निरन्तर बातनाएँ दी गईं। प्रत्येक दिन एक लकड़ी के कटघरे में उसकी मुश्कें बाँधकर उसको हाथी के सामने लाया जाता था। हाथी उसे सँझ से पकड़ता था, झकझोरता था, और एक ओर से दूसरी ओर उछालता था.....अबुल फ़जल ने इस लोमहर्षक बर्बरता का उल्लेख, भर्त्सना का एक भी शब्द कहे बिना किया है, (पृष्ठ-५२)।

पृष्ठ-६४ पर स्मिथ का कहना है कि चित्तौड़ के अधिग्रहण के पश्चात् अपनी सेनाओं के सतत प्रतिरोध किये जाने से कुपित होकर अकबर ने दुर्ग-रक्षक सेना तथा जनता के साथ क्रूरतम निर्ममता का व्यवहार किया..... शाहशाह ने कल्लेआम का सार्वजनिक आदेश दे दिया, जिसके परिणामस्वरूप ३०,००० लोग मारे गये। बहुत से लोग बन्दी बनाये गये।

अकबर के ऊपर सबसे बड़ा लाछन, कदाचित्, महान् इतिहासकार कर्नेल टाड के इन शब्दों में प्रस्तुत है, कि "चित्तौड़ में शाहशाह की गति-विधियाँ सर्वाधिक निर्मम निपट अत्याचारों से भरी गड़ी हैं।"

सन् १५७२ के नवम्बर मास में जब अकबर अहमदाबाद के शानक



मुजफ्फरशाह को हराकर बन्दी बना चुका था, तब उसने आज्ञा दी थी कि विद्रोहियों को हाथियों के पैरों तले रौंदकर मार डाला जाय।

सन् १५७३ में सूरत का घेरा बालने वाली अकबर की सेनाओं के सेना-नायक हमजबान को उसकी जबान काटकर घोर बर्बरतापूर्ण दण्ड दिया गया।

“अकबर के निकट सम्बन्धी मसूद हुसैन मिर्जा की आँखों को सुई से सी दिया गया था जबकि वह उसके विरुद्ध बगावत करने के बाद पकड़ा गया था। उनके अन्य ३०० सहायकों के चेहरों पर गधों, भेड़ों और कुत्तों की आँतें चढ़ाकर अकबर के सम्मुख घसीटकर लाया गया था। उनमें से कुछ को अत्यन्त घणित क्रूर-कर्मों सहित मार डाला गया। अकबर को अपने आतुरी पूर्वजों से पतृक-रूप में यहीत ऐसी बर्बरताओं की अनुमति देते हुए देखकर अत्यन्त दुःखावश जो ऊब जाता है—।” स्मिथ ने कहा है।

पृष्ठ ८६ के अनुसार, जब अहमदाबाद के युद्ध में २ सितम्बर, सन् १५७३ को मिर्जा पराजित कर दिया गया था, तब विद्रोहियों के २००० से अधिक सिरों में एक स्तूप बनाया गया था।

बगाल का शासक दाऊद खाँ जब पराजित कर दिया गया, तब उस समय के बर्बरतापूर्ण रिवाजों का अनुसरण करते हुए (अकबर के सेनानायक मुनीर खाँ ने) बन्दी लोगों को मौत के घाट उतार दिया। उन लोगों के कटे हुए सिरों की सख्या आकाश को छूने वाले आठ ऊँचे-ऊँचे मीनारों को बनाने के लिए पर्याप्त थी (देखिये, अकबरनामा—३, पृष्ठ १८०)। प्यास से जाकुन होने पर जब दाऊद खाँ ने पाने के लिए पानी माँगा, तब उन लोगों ने “उसकी जड़ियों में पानी भरकर उसके सामने पेश कर दिया।”

वे उदाहरण पाठक को इन बात का विश्वास दिलाने के लिए पर्याप्त होने चाहिये कि अकबर का शासन ऐसी निर्मम क्रूरताओं की कभी समाप्त न होने वाली कथा है।

### अकबर की प्रवृत्ति

स्मिथ द्वारा वर्णित अकबर के शासन में अकबर की धोखेबाजी के अनेक उदाहरण मिलते हैं। ५७वें पृष्ठ पर यह लिखता है : “दिन्नी के

उत्तर में हिन्दुओं के प्रसिद्ध तीर्थस्थान यानेश्वर में घटी असाधारण घटना, जबकि शाही सेना वहाँ लगा हुआ था, अकबर के चरित्र पर अत्यन्त अशुभ प्रकाश डालती है।”

“पवित्र कुण्ड पर एकत्र संन्यासी कुरु एवं पुरी वाले दो भागों में बँट हुए थे। पुरी वालों ने बादशाह से शिकायत की कि चूँकि कुरु वालों ने, अवैध रूप में, पुरी वालों का बैठने का स्थान हथिया लिया था, इसलिए वे तो जनता से दान-ग्रहण करने से वंचित रह गये थे।” उन लोगों से (बादशाह द्वारा) कहा गया कि आपस में युद्ध करके निर्णय कर लो। दोनों ओर के लोगों को शस्त्रास्त्रों से लैस कराकर लड़ाया गया। इस लड़ाई में दोनों पक्षों ने तलवारों, तीर-कमानों का खुलकर प्रयोग किया। “यह देखते हुए कि पुरी वालों का पलड़ा भारी था, अकबर ने अपने और भी खंखार जंगली सेवकों को आदेश दिया कि वे निर्वल पक्ष की ओर मिल जायें।” यह तो रोटी के टुकड़े पर झगड़ने वाली दो बिल्लियों तथा उनका हिस्सा बराबर-बराबर बाँटने को आये बन्दर वाली ईसप की कथा से भी बदतर है। हिन्दू-संन्यासी-वर्गों के मध्य हुए इस झगड़े में अकबर वही कार्य करता रहा कि अन्त में दोनों ही वर्गों के लोग अकबर के बर्बर सैनिकों द्वारा पूर्णतः समाप्त कर दिये गये। स्मिथ ने उल्लेख किया है कि : “अकबर के वृत्तलेखक ने चिकनी-चुपड़ी बातें बनाकर लिखा है कि इस खेल से अकबर को अत्यन्त हादिक प्रसन्नता हुई थी।”

हल्दीघाटी के युद्ध में, जब समरांगण में राणा प्रताप की विशाल सेना के विरुद्ध अकबर की सेना भी सन्नद्ध खड़ी थी, तब यह वास्तव में राजपूत के विरुद्ध राजपूत का ही युद्ध था, क्योंकि अकबर ने अपने आतंकित करने वाले अत्याचारों से अनेक राजपूत-प्रमुखों को अपने सम्मुख समर्पण करने के लिए बाध्य कर दिया था, तथा अब उन्हीं के द्वारा उनमें सर्वाधिक स्वाभिमानी महाराणा प्रताप का मस्तक नीचा करना चाहता था। एक अवसर पर जबकि दोनों पक्ष घमासान युद्ध में लगे हुए थे, और यह पहचानना कठिन था कि कौन-सा राजपूत अकबर की सेना का है, और कौन-सा राणा प्रताप का, अकबर की ओर से लड़ रहे बदायूनी ने अकबर के सेनानायक से पूछा कि वह कहाँ गोली चलाए, जिससे केवल शत्रु ही मर पाये। सेनानायक



मोक्ष अन्वाधुन्य मोक्षियों की डोहारा करना शुरू कर दिया।  
कालेस टाट का कहना है कि चित्तोड़ का अधिग्रहण कर लेने के पश्चात्  
पहले बिहनाओ द्वारा जितने भी स्मारक बच पाये थे, अकबर ने उनमें से  
अनेक को नष्ट कर दिया। बहुत समय तक अकबर की गणना गहाबुद्दीन,  
अब्बास और अन्य मुस्लिमों के साथ की जाती रही, तथा प्रत्येक  
अब्बास-टाट के साथ तथा इन्हीं के समान, उनमें (राजपूतों के पैतृक उपास्य-  
देव) 'शक्रिय' की देवपूति को तोड़कर मस्जिद में कुरान पढ़ने के लिए  
जामान (मिम्बान) इत्यादि।" यह तथ्य उस भरसक प्रयत्नपूर्वक प्रचारित  
कान्वास की झूठा सिद्ध करता है जिसमें कहा जाता है कि अकबर हिन्दुओं  
के प्रति अत्यन्त सहिष्णु था एवं उनके देवी-देवताओं का सम्मान करता  
था।

दस १८५७-१८६१ तक स्थिति परीक्षण करता है—“पुर्तगालियों के प्रति अकबर की नीति अत्यन्त कटिना एवं घृतेतापूर्ण थी। मित्रतापूर्वक सम्बन्ध स्थापित किए जाने पर जब अग्ने-प्रचारक उसके दरबार में पहुँचने ही काम के, तब उसी अग्न कर्मिण हमने यूरोपियनों के किलों को हस्तगत करने का विश्वास जताया तब पूरी नीति का समर्थन कर दिया था। अकबर की दोमली नीति के अन्तर्गत अकबर ईसाई-धर्म प्रचारक अत्यन्त चिन्तित हुए थे—... उसका अर्थ भी अकबर मित्रता की दृष्टि का होना करता था, और

सन् १६०० के अगस्त मास में जब अकबर की फौजों ने असीरगढ़ किले को घेर तो लिया था किन्तु उसको विजित करने की कोई आशा न रही थी, तब विन्सेंट स्मिथ का २०वें पृष्ठ पर कहना है, "अकबर ने अपने दस उपायों—अभिसन्धि तथा धूर्तता—का सहारा लेने का निश्चय किया। इसलिये उसने (असीरगढ़ के) राजा मिरान बहादुर को परम्पर वातचीन के लिए आमंत्रित किया तथा स्वयं अपनी ही कसम खाकर विश्वास दिलाया कि प्रागन्तुक को शान्तिपूर्वक अपने घर वापिस जाने दिया जायेगा। तदनुसार मिरान बहादुर समर्पण का भाव प्रदर्शित करते हुए दुपट्टा ओढ़कर बाहर आया.....अकबर बुत की भांति निश्चल बैठा रहा.....मिरान बहादुर तीन बार सम्मान प्रदर्शित कर ज्यों ही अकबर की ओर बढ़ रहा था कि एक मुगल अधिकारी ने उसको गर्दन से पकड़ लिया और नीचे पटक कर भूमि पर साफ्टांग प्रणाम करने के लिए विवश कर दिया.....यह ऐसी पद्धति थी जिसपर अकबर बहुत बल देता था। उसको बन्दी बना लिया गया और कहा गया कि वह किले के सेनापति को समर्पण करने के लिए लिखित आदेश दे। सेनापति ने समर्पण करना स्वीकार नहीं किया, और राजा की मुक्ति के लिए उसने अपने बेटे को भेज दिया। उस युवक से पूछा गया कि क्या इसका पिता समर्पण के लिए उद्यत था। इस प्रश्न का मंह नाइ उत्तर देने पर उसके पेट में छुरा भोंक दिया गया। दुर्ग के सेना-नायक को सूचित कर दिया गया कि उसका पुत्र उस समय मार डाला गया था जबकि वह स्वयं तो मंथि एवं समर्पण के लिए तत्पर हो गया था किन्तु दुर्गरथको को भाषण कर रहा था कि आखिरी व्यक्ति के रक्त की अन्तिम बंद तक युद्ध लड़ा जायेगा।" यह उदाहरण सिद्ध करेगा कि अकबर की नीचता में सभी बातें व्याप्य थीं और छल-कपट घृण्य सीमाओं से भी बड़ सकता था।

अकबर की विजयी का प्रमुख उद्देश्य धन-सम्पत्ति, स्त्री, क्षेत्र तथा सत्ता को सांत्वना थी। रणसम्भार की सन्धि में हम देख चुके हैं कि पराजित



बोम सदा ही अपनी महिमाओं अकबर को सौंप देने के लिए बाध्य किये जाते रहे हैं। बाब बहादुर के विरुद्ध अकबर की बढ़ाई में हम पहले ही पर्यवेक्षण कर चुके हैं कि शिष्टों के प्रति अकबर की हृदय-लोलुपता ने ही उसको जागर से दूर चलकर आधम खां के विरुद्ध सशस्त्र सेनाओं भेजकर, आदम खां द्वारा बाब बहादुर की महिला-वर्ग की महिलाओं को अनुचित रूप से हड़प लेने के कारण उपयुक्त कार्यवाही के लिए बाध्य किया।

बुन्देलखण्ड की रानी दुर्गावती के विरुद्ध अकबर की बढ़ाई के सम्बन्ध में स्मिथ ने (पृष्ठ ५०-५१ पर) विलाप करते हुए कहा है—“इतनी सन्धिरात्रा में स्मिथ ने (पृष्ठ ५०-५१ पर) विलाप करते हुए कहा है—“इतनी सन्धिरात्रा में भी कामनाओं से हीन था। पर्याप्त शक्ति से सम्पन्न सामान्य राजोचित महत्वाकांक्षा के परिणामस्वरूप ही अकबर की विजय हुई। रानी दुर्गावती की अनुत्तम सरकार के ऊपर नैतिक न्याय के अभाव का आक्रमण उन सिद्धान्तों को मानकर हुआ था जिनके फलस्वरूप कश्मीर, अहमदनगर तथा अन्य राज्यों की विजय की गयी। किसी भी युद्ध को प्रारम्भ करने में अकबर को कभी भी कोई संकोच, सज्जा का अनुभव नहीं हुआ, और एक बार जबहा प्रारम्भ कर देने के पश्चात् वह शत्रु पर अत्यन्त निर्दयतापूर्वक प्रहार करता था—“उसकी गतिविधियाँ अन्य योग्य, महत्वाकांक्षी तथा निष्ठुर राजाओं की भाँति थी।”

मेवाड़ के महाराणा प्रताप के विरुद्ध भीषण निरंकुश आक्रमण का वर्णन करते हुए स्मिथ ने पृष्ठ १०७ पर उल्लेख किया है : “राणा पर आक्रमण करने के लिए किसी विशेष घटना को कारण मानना कोई आवश्यक बात नहीं है। सन् १५७६ की बढ़ाई राणा का नाश करने के लिए एवं अकबर के साम्राज्य में बाह्य स्वाधीनता को कुचल देने के लिए की गई थी। अकबर ने राणा की मृत्यु तथा उसके क्षेत्र को हड़प लेने की कामना की थी।”

राणा प्रताप और अकबर के मध्य परस्पर संघर्ष की सही समझ ही किसी भी विश्वस्तरीय वैश्व की परम महान् ने रूप में माने जाने वाले अकबर की विजय करने के लिए पर्याप्त होनी चाहिये। चूंकि दोनों ही

परस्पर विरोधी कार्य में लगे हुए थे तथा एक-दूसरे के प्राण लेने के लिए संघर्षरत थे, इतिहास का कोई भी विद्यार्थी उनमें से एक को अन्याय, अत्याचार तथा दमन का प्रतिनिधि मानने का उत्तरदायित्व दूर नहीं कर सकता। चूंकि राणा प्रताप तो अनुत्तेजित आक्रमण के विरुद्ध सदाई से संलग्न इस भूमि की सन्तान था, अतः वह निष्कर्ष स्वतः निकलता है कि एक सामन्त-राज्य के पश्चात् दूसरे सामन्त-राज्य पर आक्रमण कर निरंकुश-नरसंहार तथा अन्य अपराधों के लिए अकबर पर दोष लगाना ही चाहिये। फिर भी, पर्याप्त विचित्रता यह है कि अकबर को देवदूत के रूप में पन्तु करने वाली अनेक स्तुतियों से भारतीय इतिहास बुरी तरह से लदा पड़ा है।

### अकबर का धर्माडम्बर

भारतीय इतिहास में प्रविष्ट अनेक गहित तथा कल्पित बातों में से एक यह है कि अकबर का देवदूत-स्तरीय गुण इस बात में सिद्ध होता है कि उसने ‘दीन-इलाही’ नामक एक लौकिक धर्म की स्थापना की थी। यह स्वयं का पूर्ण अपभ्रंश है। अकबर की गरम-मिजाजी और बड़प्पन की भावना इस सीमा तक पहुँच चुकी थी कि वह धर्म के नाम पर जनता द्वारा मुल्लाओं और मौलवियों की अवज्ञा सहन नहीं कर सकता था। अकबर इस बात पर स्वयं बल देता था कि वह स्वयं ही देवांश था—“सर्वोच्च लौकिक तथा आध्यात्मिक-सत्ता था, तथा अन्य किसी भी व्यक्ति के प्रति सम्मान-प्रदर्शन किसी भी कारणवश नहीं किया जाना चाहिये। ऐसा हठ करना तो समस्त धर्मों का अस्वीकरण था, तथा स्त्री-पुरुषों के भाग्यों पर लम्पट और निरंकुश-सत्ता स्वयं में केन्द्रित करने का यत्न-मात्र था।

उस दशा में उसने लोगों को बाध्य किया कि वह एक-दूसरे से मिलकर ‘अल्ला-हो-अकबर’ कहकर सम्बोधन करें जिसका एक अर्थ यह है कि ‘ईश्वर शक्तिमान है’, किन्तु अधिक सूक्ष्मतम विचार करने पर ऐसा धर्म वात होता है कि “अकबर स्वयं ही अल्लाह है।”

पृष्ठ-१२७ पर स्मिथ ने व्याख्या की है : “अनेकार्थकशब्द ‘अल्ला-हो-अकबर’ के प्रयोग ने अत्यन्त कटु आलोचनाओं को अवसर दिया। अवृत्त फजल भी स्वीकार करता है कि इस नये तारे ने उस भावनाओं को जन्म



दिया। अनेक अवसरों पर वह (अकबर) स्वयं को ऐसा व्यक्ति प्रस्तुत किया था जिसने अन्त और अनन्त के मध्य की खाई पाट दी हो।"

करने धर्म-प्रचार की अक्षमता पर दुःखित हुदय हो पादरी-मनसरैट ने (पृष्ठ १४० पर) वर्णन किया है— "यह सन्देह किया जा सकता है कि जहाँ-वादीयों को, जहाँ-वादी (अकबर) द्वारा किसी उदार भावना से प्रेरित होकर नहीं, अणिह उल्लुखता-वश अथवा आत्माओं के सर्वनाश के लिए किसी नयी धरतु का आरम्भ करने के लिए बुलाया गया था।"

मिथ ने पृष्ठ १२५ पर वर्णन किया है कि पादरियों द्वारा भेंट में दी गई वस्तुओं किस प्रकार "अकबर ने बहुत दिनों बाद वापिस लौटा दी थी।"

मिथ ने पृष्ठ १२३ पर पर्यवेक्षण किया है— "सत्य यह है कि अकबर के सभी धर्म का अस्तित्व, अणभंगुर तथा आध्यात्मिक दोनों ही प्रकार के स्वरूप पर अपनी प्रभुसत्ता प्रस्थापित करने में ही है। शहंशाह अकबर के जैन शक्ति प्रदर्शित करने की चार धर्मियाँ सम्पत्ति, जीवन, सम्मान तथा धर्म का वितरण करने में समझी जाती थीं। (पृष्ठ १२४)।"

"साक्षात् सहनशीलता के सुन्दर वाक्यों के होते हुए भी, जोकि अबुल-फजल की रचनाओं तथा अकबर के कथनों में अत्यन्त विपुल मात्रा में उपलब्ध होते हैं, (अकबर द्वारा) अत्यन्त असहनशीलता के अनेक क्रूर-कर्म किये गये हैं। (पृष्ठ १६६)।"

अकबर के राजनीतिक धर्मोद्धार के सम्बन्ध में मिथ ने (पृष्ठ १६० पर) कहा है— "सम्पूर्ण योजना उपहासास्पद मिथ्याभिमान तथा निरंकुश स्वच्छाचारिता के राक्षसी विकास का परिणाम थी।"

### अकबर ने हिन्दुओं का सदैव तिरस्कार किया

अकबर के दरबार में उपस्थित ईसाई पादरी जेवियर ने अकबर द्वारा स्वयं-पूजा की घोषणा (पर्वों को धोने के पश्चात् अवशिष्ट मैला जल) जैन-साधकों को पिप्लास के विशिष्ट उदाहरण का उल्लेख किया है। मिथ ने (पृष्ठ २०२ पर) कहा है कि जेवियर ने लिखा है कि, "अकबर अपने स्वयं की ईश्वरता की शक्ति प्रस्तुत पंथित करता था। इसके लिए जनता को

मान लेना होता था कि उसके चरणों की धोवन (जल) पी लेने में रोटी, अकबर के देवदूत-सदृश चमत्कार से, ठीक हो जाते हैं।" उसी पृष्ठ पर लिखी हुई पद-टीप में तत्कालीन वृत्त-लेखक बदार्थनी के उल्लेखानुसार कहा गया है कि इस विशेष प्रकार का अपमानजनक व्यवहार केवल मात्र हिन्दुओं के लिए ही सुरक्षित था। बदार्थनी कहता है— "यदि हिन्दुओं के अतिरिक्त और लोग आते तथा किसी भी मूल्य पर अकबर की भक्ति की इच्छा प्रकट करते, तो अकबर उनको झिड़क देता था।"

पूर्णरूपेण दुरावस्था तथा अत्यन्त दीना-हीना होने पर सर्वस्व-अपहृत महिलाएँ यातना-ग्रस्त हो अन्तिम उपाय के रूप में ही अकबर के चरणों में अपने बच्चों को लिटा देती थीं तथा दया की भीग माँगती थीं। जैसाकि ऊपर पहिले ही लिखा जा चुका है, अनेक रूपों में दमन की प्रक्रिया निरन्तर ही की जाती होने के कारण, अकबर के दरबार के द्वार पर महिलाओं और बच्चों की अपार भीड़ हुआ करती थी। किन्तु अकबरी-दरबार के धुने सरदारों ने उन पादरियों को इसकी व्याख्या में ऐसे समझाया मानो अकबर को महान् फकीर मानकर वे उसका आशीर्वाद लेने के लिए एकत्र हों। 'आशीर्वाद' के लिए तो वे निश्चय ही प्रार्थना करते थे, किन्तु उस भावना से नहीं, जिस भावना के साथ इसका छद्मपूर्वक सम्बन्ध जोड़ दिया गया है। उन लोगों के ऊपर बीत रहे उत्पीड़न तथा नारकीय-यातना से मुक्ति के लिए वे महिलाएँ एवं बच्चे कुछ छुटकारा चाहते थे।

अकबर द्वारा अनेक राजपूत महिलाओं से विवाह को बहुधा तोड़-मरोड़कर उसकी तथाकथित सहयोग और सहनशीलता की भावना के अन्ध उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। यह जले पर नमक छिड़कना तथा कामुकता (लम्पटता) को प्रोत्साहन देना ही है। यह भली-भाँति ज्ञात दिखाया जा चुका है कि अकबर अपने सम्पूर्ण राज्य को बड़ा भारी हरम समझता था, तथा सभी पराभूत नरेशों की महिलाओं को, उन नरेशों पर और-अबदेस्ती कर, उन्हें बाध्य कर, अपने अधीन कर लेता था। अपने शिकार व्यक्तियों का पूर्ण तिरस्कार करने के लिए यह उसके अनेक उपायों में से एक था। हिन्दू-महिलाओं को बलपूर्वक अपने हरम में ठूस लेना सभी आक्रमणकारियों की धृष्ट अधमाधव परम्परा रही है। अनेक कारणों से



अकबर को इस ओर विशेष ज्ञान था। अतः इस बात को एक विशेष गुण कहकर प्रस्तुत करना उस घट्टता, मिथ्यावाद और बागडोर की पराकाष्ठा है जिसे भारतीय इतिहास कुरी तरह घस्त है।  
क्या अकबर ने अपने घर की एक भी (मुगल) महिला कभी किसी हिन्दू को विवाह में दी?

### जजिया-कर

अकबर के शासनों के वर्णन के सम्बन्ध में जिस सफ़ेद झूठ को बार-बार दुहराया जाता है, वह यह है कि उसने जान-लेवा जजिया-कर समाप्त करवा दिया था। यह कर भारत के विदेशी-मुस्लिम शासकों द्वारा यहाँ की बहुसंख्यक हिन्दू-जनता पर इस आधार पर लगाया जाता था कि भारत मुस्लिम देश था, तथा चूँकि उदारता एवं सहिष्णुता की भावना से ही शासन सुनिश्चित देना था, तथा चूँकि उदारता एवं सहिष्णुता की भावना से ही शासन ने यहाँ की बहु-संख्या को शासक के धर्म में इनर धर्म को चालू रख सकने की छूट दे रखी थी, इसलिए जनता को उस (शासक) की सहिष्णुता के लिए ईश्वर भी हो सज़ा कर देना ही चाहिये। इस प्रकार वह धार्मिक-भेद निगमने के लिए घूँस एवं डकैती के अतिरिक्त कुछ नहीं था, जिसे शासक-कर्त ने जनता असाहाय प्रजा पर बलात् टुँस दिया था।

जजिया से मुक्ति दिलाने वाला तो दूर, अकबर तो स्वयं इसको पूर्ण करने की भावना में बसूल करता था। रणथम्भोर की सन्धि की एक शर्त में खंडी के शासक को जजिया-कर से विशेष छूट देने की व्यवस्था की गई थी। (पृष्ठ १२० पर वर्णित) जैन मुनि हीर विजयमुरि की यात्रा के सम्बन्ध में हम मुक्त हैं कि हमने फिर जजिया-कर से मुक्ति के लिए कहा था। ये बातें निहड रमती हैं कि जजिया-कर से विशेष छूट पान के लिए प्रार्थना करने को जैन आर-भार बाध्य होते थे। हमने भी बहुत-बार बात यह है कि अकबर ने जवा-कदा आर-किनी आगन्तुक को कदाचित् यह विश्वास दिलवाकर वापिस भी भिजवा दिया हो कि उसकी जजिया से विशेष छूट मिल जायेगी, तो भी अब फिर अकबर के इन वचनों को पर्याप्त रूप से जानकर विश्वास करने लगे हैं कि वह बागडोरी घुंटे इत्तमान द्वारा दिया गया केवल खोया आश्वासन मात्र था।

### विश्व का सबसे घृणित व्यक्ति

भारतीय इतिहास में प्रस्तुत किये जा रहे देवदूत के रूप की तो बात ही क्या, अकबर तो, कदाचित्, विश्व भर में सबसे घृणित व्यक्ति था। उसके प्रति रोष इतना अधिक था कि स्वयं उसके अपने लड़के जहाँगीर सहित असंख्य लोगों ने अकबर की हत्या का प्रयत्न किया था।

स्मिथ ने २२०वें पृष्ठ पर वर्णन किया है : "सन् १६०२ के पूरे वर्ष भर शाहजादा सलीम अपना दरबार इलाहाबाद में लगाता रहा, तथा अपने अधीन किए गये प्रान्तों का स्वयं शाही-बादशाह बना रहा। बादशाहत पर अपने दावे का बलपूर्वक प्रदर्शन उसने सोने और ताँबे के सिक्के चलाकर किया; और उसने अपनी घृष्टता का प्रकटीकरण भी उन दोनों सिक्कों के नमूने अकबर के पास भेजकर किया। अकबर के साथ सन्धि-समझौते की बात करने के लिए अपने दूत के रूप में उसने अपने सहायक दोस्त मोहम्मद को कायुन भेजा।" २३०वें पृष्ठ पर स्मिथ हमें बताता है कि, "यदि जहाँगीर का विद्रोह सफल हो जाता तो उसके पिता की मृत्यु विद्रोह का निश्चित परिणाम थी।" अकबर की मृत्यु से सम्बन्धित पृष्ठ २३२ पर दी गई पदटीप में कहा गया है, कि "यह निश्चित है कि जहाँगीर ने अत्यन्त उग्रता-पूर्वक अपने पिता की मृत्यु की कामना की थी।"

पृष्ठ १६१ पर पदटीप में कहा है : "सन् १५६१ में ही जब अकबर पेट-दर्द एवं मरोड़ से पीड़ित था, तब उसने अपना सन्देश स्पष्ट किया था कि हो सकता है उसके बड़े लड़के ने जहर दे दिया हो। ताज़ की इन्तजारी करते रहने से व्यग्र उसके लड़के ने तख्त के लिए अकबर के विरुद्ध की जाने वाली लड़ाई में पुर्तगाली सहायता उपलब्ध करने की कामना की थी।"

स्मिथ पृष्ठ २३६ पर पाठकों को बताता है : "अकबर के सम्मुख प्रायः एक-न-एक विद्रोह उपस्थित रहता ही था। फौजदारों द्वारा संक्षेप में वर्णित तथा प्रान्तों में अव्यवस्था फैलने के अतिरिक्त अवसर अवश्य ही असंख्य रहे होंगे।"

अकबर के अपने समर्थकों में, जिन्होंने एक-एक कर उसके विरुद्ध विद्रोह किया, बैरमखाना, खान जमन, आसफखाना, (उसका वित्त मन्त्री) शाह



संभूर तथा सभी मिर्जा लोग थे—वे मिर्जा लोग जिनका शाही-परिवार ने रक्त-सञ्चय था।

### अकबर द्वारा लोगों का वध

२५०वें पृष्ठ पर स्मिथ ने इतिहासकार खीजर के इस कथन का उल्लेख किया है कि अकबर ने संवेतन एक कर्मचारी रखा हुआ था, जिसका कर्तव्य अकबर से अति अग्रमन्न व्यक्ति को जहर खिला देना भर था। कुछ इतिहासकारों के अनुसार अकबर की मृत्यु जहर की उन गोतियों की भूल से स्वयं का नेत्रों से हुई थी, जो उसने मानसिंह के लिए रखी हुई थी।

२५२वें पृष्ठ पर स्मिथ ने उन लोगों की सूची दी है जिनको अकबर ने छद्म रूप में फाँसी जख्म बिप द्वारा मौत के घाट उतार दिया था—

- (१) सन् १५६५ में ग्वालियर में कामरान के बेटे का वध।
  - (२) मकका से वापिस आए हुए मरदुमे-मुल्क और जेख अब्दुर-नबी को कलन्त मन्दिरावरदा में मृत्यु। इकबालनामा में स्पष्टोक्ति है कि जेख अब्दुर-नबी को अकबर के आदेशों के पालन-हेतु अच्युत फ़जल द्वारा मार डाला गया था।
  - (३) उसी समान रूप में मानूम फरगुबी की सन्देहास्पद मृत्यु।
  - (४) मीर मुहम्मद-मुल्क तथा एक और व्यक्ति की नाव 'दलदल' में डूब जाने के कलन्त मन्दिर मृत्यु।
  - (५) एक के बाद एक उन सभी मुस्लाबी को अकबर ने मौत के पास लेज दिया जिनपर उसे शाक था (बदायूनी-भाग-२, पृष्ठ २८५)।
  - (६) रसकन्दोर दुर्ग में हाजी इब्राहीम की रहस्यमय मृत्यु।
- ऊपर दी गई सूची में, मैं बैरमखान और जयमल की मृत्यु भी सम्मिलित करना चाहूँगा क्योंकि जयमल की पत्नी की और आकृष्ट हुए अकबर के उपाय पर ही यह मृत्युकाण्ड घटा होगा, क्योंकि दोनों की मृत्यु के समय की परिस्थितियों के देना ही प्रतीत होता है।

### अकबर द्वारा दिए गये अत्याचार-पूर्ण दण्ड

अकबर द्वारा दिए गये दण्डों का स्मिथ ने २५०वें पृष्ठ पर 'अत्यन्त भयावह' प्रकार का वर्णन किया है। मृत्युदण्ड के साधनों में सम्मिलित प्रकारों में थे—सूली पर चढ़ाना, हाथियों के पैरों तले रौदवाना, गड़ने उड़ाना, सूली पर लटकाना तथा अन्य प्रकार के मृत्युदण्ड। दण्ड के छोटे रूपों में अंगच्छेदन तथा भयानक कोड़ों की मार का आदेश सामान्य रूप में दे दिया जाता था। नागरिक अथवा अपराधी कार्रवाइयों के कोई अभिलेख नहीं मिले जाते थे। न्यायाधीशों का कार्य सम्पन्न करने वाले व्यक्ति कुरान के नियमों का पालन करना पर्याप्त समझते थे। पुराने दण्ड से निरपराधिता का निर्णय करने को अकबर ने प्रोत्साहित किया। दक्षिण केनसिंगटन में अकबरनामा के समकालीन उदाहरणों में से एक में वधस्थल की भयानकता का वास्तविक मूर्त रूप चित्रित किया गया है।

अकबर का समकालीन मतसरेंट कहता है: "अकबर पर्याप्त कृपण तथा धन को बचाए रखने वाला था।" पृष्ठ २४३ पर स्मिथ कहता है: "बादशाह स्वयं को सारी प्रजा के उत्तराधिकारी के रूप में समझता था, तथा मृतक की सम्पूर्ण सम्पत्ति को निष्ठुरतापूर्वक सहण कर लेता था। बादशाह की कृपा पर मृतक के परिवार को फिर से काम-धन्धा चालू करना पड़ता था (पृष्ठ २५२)। अकबर व्यापार का क्रियाशील व्यक्ति था, न कि भावुक जनमेवक" तथा उसकी सम्पूर्ण नीतियाँ सत्ता और वैभव के अधिग्रहण के प्रयोजन से निर्दिष्ट होती थी। जागीर, अश्वपालन आदि को सभी व्यवस्थाएँ केवल इसी प्रयोजन से की जाती थी—अर्थात् ताज की जवित, यश और वैभव की अभिवृद्धि।"

यद्यपि अकबर की माता अकबर से केवल वर्ष भर पूर्व ही मरी थी—अर्थात् अकबर जब सब विजय कर चुका था तथा बहुत अधिक सौदखी और दमन-चक्र में विपुल धनराशि संग्रहीत कर चुका था, तब भी वह उसकी मृत्यु-समय की इच्छा का अवमानन करने एवं उसकी समस्त सम्पत्ति हड़प कर जाने का लोभ संवरण न कर सका। इसका वर्णन करते हुए स्मिथ ने पृष्ठ २३० पर कहा है: "मृता अपने घर में एक बड़ा भारी कोष एवं वसीयतनामा छोड़ गयी थी, जिसमें आदेश था कि वह कोष उसके पुत्र



बनवाये में बाँट दिया जाय। उसकी सम्पत्ति को अधिग्रहण करने की अकबर को उन्हेच्छा इतनी थी कि वह उसकी सम्पत्ति का लोभ संवरण न कर सका, और अपनी मृता माँ की बर्बादी की शर्तों का ध्यान किये बिना ही उसने सारी सम्पत्ति स्वयं अधिग्रहीत कर ली।

### मुगल बादशाह के—'नवरत्न'

मुस्लिम-पूर्व भारतीय शासकों के वर्णनों से ग्रहीत यज्ञ-गाथाओं से भारत के अन्य देशों शासकों को विभूषित करने के लिए भारत के अपभ्रंश इतिहास में प्रारम्भ से ही भरमक प्रयत्न किया गया है। ऐसी ही अपभ्रंश कथा का एक उल्लेखनीय उदाहरण अकबर के राज्य के वर्णनों में मिलता है। महाराजा विहमादित्य के सम्बन्ध में जो कुछ कहा जाता है, उसीकी नकल करते हुए भारत के मध्यकालीन इतिहास में जोड़ दिया गया एक झानक तत्त्व यह है कि अकबर के पास भी ऐसे ही विशेष प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्तियों का समूह था, जिसको अकबर के दरबार के 'नवरत्न' कहते थे। अकबर उनको मुर्तियों के समूह से अधिक कुछ नहीं समझता था—'यह अकबर शान उल्लेख किए गए इस विशिष्ट मन्दिर में स्पष्ट है जिसमें वह (पृष्ठ २१२) कहता है: 'यह भगवान् की अनुकम्पा ही थी कि मुझे कोई योग्य कर्त्ता न मिला था, अन्यथा लोग यही समझते कि मेरे उपाय उन लोगों के शान ही निवर्तित थे।'

इतना ही नहीं, इतने अधिक प्रचारित व्यक्ति भी किसी योग्य न थे। शेरमल बनसा से अतः समूल करने की उस प्रणाली के निर्माण में लगा हुआ था जिसमें उनसे अतः समूलों के लिए उनकी कोई लगाये जाते थे अन्यथा उन्हें अपनी पत्नी तथा बच्चे बेचने पड़ते थे। अबुल फजल 'निलज्ज चापलूस' का काल टीका भाग पर लगा चुका था और स्वयं शाहजादा सलीम द्वारा मरवा डाला गया था। अकाल-मृत्यु प्राप्त फ़ैज़ी मामूली-मा कवि था जिसको एक ऐसे दरबार में इकट्ठा दिया गया था जहाँ परले दर्जों की परान्नभोजी आनन्दगी प्रचलित थी। उसके सम्बन्ध में स्मिथ ने पृष्ठ ३०१-३०२ पर कहा है: 'लोचमन ने कहा है कि दिल्ली के अमीर खुसरो के पश्चात् मुहम्मदी भारत में किसी से बढ़कर 'कोई अन्य कवि नहीं हुआ है'—'लोचमन

के निर्णय की न्याय्यता को स्वीकार करते हुए मैं केवल यही कह सकता हूँ कि मुहम्मदी भारत के अन्य कवियों का स्तर अवश्य ही बहुत निम्न रहा होगा।' वीरबल युद्ध में हत हुआ। विचार किया जाता है कि उसे एक जागीर दी गई थी, जिसका सुखोपभोग उसे कभी प्राप्त नहीं हुआ। उसके नाम पर सुप्रसिद्ध बुद्धि-चातुर्य, हास-व्यंग्य एवं हाज़िर-जवाबी की कथाएँ वास्तव में किसी अज्ञात व्यक्ति का कला-कोशल हैं जो वीरबल के नाम एवं दरबार-संगति के नाम का लाभ उठाता था। तथाकथित वित्तमन्त्री ग़ाह मनुन का वध तो स्वयं अबुल-फ़जल ने अकबर के ही आदेश पर किया था। इस प्रकार प्रारम्भ से अन्त तक यह एक ऐसी दुःखान्त कथा है किये सुप्रचारित नवरत्न ऐसे असहाय व्यक्ति सिद्ध होते हैं जो एक भ्रष्ट एवं दमनकारी प्रणामन के तारकीय-यन्त्र में ग्रस्त थे।

अपनी महिलाओं, पुत्रों तथा भाई-भतीजों की प्रमुख संख्या अकबर की सेवा में नियुक्त कर देने के पश्चात् भी बदले में निन्द्य व्यवहार प्राप्त होने से अपनी विपन्नस्थिति से क्लान्त हो राजा भगवानदास ने एक बार स्वयं ही अपना छुरा अपने पैर में भोंक लिया था। शराब के नशे में मस्त अकबर द्वारा एक बार मानसिंह का गला दबाया गया था, और फिर जहर भी खिलाया जाना था, किन्तु भूल से अकबर ही स्वयं वे गोलियाँ खा बैठे। मानसिंह की बहन मानबाई, पूर्ण सम्भावना यह है कि, मार डाली गयी थी, क्योंकि जहाँगीर-नामा के एक संस्करण में कहा गया है कि उसने तीन दिन तक अनशन किया था और मर गयी, किन्तु दूसरे संस्करण में लिखा है कि उसने विष खा लिया और मर गयी। यह भली-भाँति ज्ञात है कि किसी को नागने के लिए तीन दिन का अनशन पर्याप्त नहीं है; इसके साथ ही जहाँगीर-नामा स्वयं भी झूठ का पिढारा कुख्यात है। स्वयं जहाँगीर भी अत्यन्त क्रूर तथा कुमन्त्रणाकारी बादशाह माना जाता है जिसने अपने बाप को जहर दिया, नूरजहाँ के प्रथम पति शेर अफ़ग़ान को मरवा डाला तथा जो जीवित व्यक्ति की खाल खिचवाने के दृश्य को अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक देख सकता था।

अकबर के दरबार के एक बिलकार दसबन्त ने अपनी हत्या छुरा भोंक-कर कर ली थी। हिन्दुओं द्वारा ऐसी समस्त आत्महत्याएँ, तत्कालीन मुस्लिम



अभिलेखों में, पागलपन के दौरों में की गयी वर्णित है। यह वर्णन दूसरे रूप में शब्दक सत्य है—अर्थात् मुगल दरबारों में स्थिति इतनी असह्य थी कि अपने जीवन, सम्मान, महिलाओं, घर की पवित्रता तथा धार्मिक-मान्यताओं के अपहरण से विक्षुब्ध हिन्दू लोग भगनाणा, पागलपन तथा मृत्यु को प्राप्त होने लगे। प्रजा की जान डतार लेने वाली कर-व्यवस्था की रचना कर टोडरमल ने यद्यपि अपनी आत्मा को अकबर के हाथों बेच दिया था, तथापि उसके भी उस पूजा-स्वयं को (अकबर द्वारा) हटवा दिया गया, जिसमें वे मूर्तियाँ भी सम्मिलित थीं जिनकी वह पूजा करता था, और हिन्दू के नाते अत्यन्त श्रद्धा रखता था। उन दिनों के रुढ़िगत हिन्दू को, जबकि स्वयं उसने ही घरेलू लोग भी बिना स्नान किये तथा बिना पवित्र परिधान धारण किये उसकी मूर्तियों का स्पर्श नहीं कर सकते, तब मूर्ति-पूजा के विरोधी मुस्लिमों द्वारा बिना आज्ञा-प्रीति से उन मूर्तियों का हटा दिया जाना मृत्यु-समान अपवित्रीकरण हो था। फिर भी, ऐसे कार्य अकबर द्वारा करवाये जाते थे। इनके शिकार होने से टोडरमल आदि जैसे व्यक्ति भी अछूते न रहे। जिन्होंने अकबर की सेवा में अपना सम्पूर्ण जीवन, सम्पूर्ण सम्मान निर्यात कर दिया था, तथा उसको गँवा भी बैठे थे। इसीसे विक्षुब्ध हो जाने पर टोडरमल ने आत्मघात कर दिया था, और वह बनारस चला गया था।

### अकबर ने प्रयाग और वाराणसी को ध्वस्त किया

पृष्ठ १८७ पर निम्न कहता है: "अकबर तब प्रयाग की ओर गया जो वहाँ से बसारा—जिसको उसने पूर्ण रूप में ध्वस्त कर दिया क्योंकि उसने अपने उत्पीड़न से कि उन्होंने अपने दाम बन्द कर लिये थे।"

इसमें यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रयाग में नदी के घाट तथा पुराने भवन बर्बाद नहीं हैं। आज प्रयाग (इलाहाबाद) में जो भी कुछ है, वह अधिवक्ताओं के विधोर्गमन का फल है। इनके अतिरिक्त, इलाहाबाद पूर्ण रूप में उजाड़ हुआ है। इस बाद पर बल देने की आवश्यकता नहीं है कि पुरानी पूजा-मूर्तियाँ हटाने के कारण, भयंकर विरोध के साथ प्रवाहित होने वाली यमुना और गंगा के दोनों तटों पर सुन्दरतम और ऊँचे-ऊँचे घाट थे। बनारस में

६। घाटों की छटा को निष्प्रभ करने वाले प्रयाग-स्थित नव्य उच्च-घाटों को धूल-धूसरित कर देने का पूर्ण कलंक अकबर के माथे पर ही लगेगा। यह भी हुआ हो कि प्रचलित विश्वास के विपरीत बनारस-स्थित प्रसिद्ध काशी-विश्वनाथ-मन्दिर सबसे पहिले अकबर द्वारा ही जप्ट किया गया हो, जबकि उसने वहाँ की जनता से भीषण बदला लिया। तथ्य रूप में, बदले का भी कोई प्रश्न नहीं उठता। राज-परिवार के प्रति अनन्य भक्ति के लिए भारतीय लोग परम्परागत रूप से विख्यात हैं। यदि अकबर की मात्रा अनिष्ट-शून्य रही होती, तो इसने बनारस-निवासियों के हृदयों में गहलतम श्रद्धा के अतिरिक्त अन्य भावनाओं को अवसर ही नहीं दिया होता। किन्तु इसी एक तथ्य से, कि अकबर के विरुद्ध उन निवासियों ने अपने-अपने द्वार बन्द कर लिये थे, यह सिद्ध होता है कि बनारस में अकबर का प्रवेश अवश्य ही लम्पटता तथा सर्वग्राहिता के प्रयोजन से हुआ होगा।

### दासता अपने निकृष्टतम रूप में थी

हम पहले देख चुके हैं कि अकबर अपने सम्मुख सभी लोगों के पूर्ण पराभव का आग्रही था। अपने पैरों को धोने के बाद उस जल को अन्य लोगों को पीने के लिए उसने जनता को बाध्य किया। गुप्त प्रायना के पश्चात् बचा हुआ जल भी उसने अन्य लोगों को पिलाया। तत्कालीन एक अंग्रेज प्रवासी राल्फ फिच ने उल्लेख किया है, कि "अकबर के दरबार के अंग्रेज-जाहूरी विलियम जीड्स को एक मकान और ५ गुलाम दिये गये।" पृष्ठ १४७ पर स्मिथ ने कहा है, "ईसाई पादरी अक्वावीवा को जबतक वह दरबार की सेवा में रहा, केवल मात्र जीवनाधार खाद्य ही मिला। इसलिए विदा होते समय जो विशेष अनुग्रह उसने अकबर से चाहा, वह था एक रुसी गुलाम-परिवार को अपने साथ ले जाना (जिनमें पिता, माता, दो बच्चे तथा कुछ विशेष व्यक्ति थे जो सदैव मुसलमानों में से ही थे, यद्यपि नाम भर में वे लोग ईसाई होते थे)।"

यह प्रदर्शित करता है कि अकबर ने विभिन्न राष्ट्रीयता वाले असंख्य लोग गुलाम बना रखे थे। पृष्ठ १५६ पर, स्मिथ दावे के साथ कहता है कि, "तब १५८१-८२ के वर्षों में स्पष्ट रूप में नयी पद्धति का विरोध करने वाले



में जो और कबीरे की एक भारी संख्या को अधिकतर कांधार की ओर देश-निकास दे दिया गया था, जहाँ के सम्भवतः गुलाम बनाकर रखे गये, और उनके बदले में छोटे करीदे गये थे।" स्मिथ ने यह भी वर्णन किया है कि लोही-दान के साथ-साथ चलने वाले हरम की स्त्रियाँ किस प्रकार स्वर्ण-रोपित पित्रों में बन्द रखी जाती थीं। यह भी सामान्य व्यवहार था कि कुछ के पश्चात् बन्दी बनाये गये सभी लोगों को गुलाम समझा जाता था।

अकबर द्वारा व्यवहृत तथा जिससे अत्यन्त रोष उत्पन्न हो गया था वह राजता का ऐसा विचित्र प्रकार था जिसमें प्रत्येक घोड़े के माथे पर एक फूल लगाया जाता था। इन प्रकार जिस भी किसी के पास फूल लगा हुआ घोड़ा होता था, वह स्वतः अकबर की अधीनता में आ जाता था; राज्य भर में जहाँ भी सही घोड़े पाये जाते थे, वे चिह्नित कर दिये जाते थे। इस प्रकार घोड़ा रखने वाले प्रत्येक व्यक्ति के सम्मुख एक और गहरा कुर्बा और दूसरी ओर भयंकर बाई थी। यदि वह व्यक्ति अकबर की पराधीनता से मुक्त होना चाहता था, तो उसके सम्मुख एक ही मार्ग था कि वह घोड़े को छोड़ दे। ऐसा करने पर उन जानदमय दिनों में उसे अपने एकमात्र सहारे और साथी को को देना पड़ता था। और यदि वह व्यक्ति घोड़ा रखता ही था, तो उसके घोड़े के मस्तक पर लगा निशान उसको नदैव स्मरण दिलाना रहता था कि अन्तर्गत कृतार्थक धृतिता के साथ वह व्यावहारिक अर्थादामत्व का निवार हो चुका था।

### भयंकर दुर्भिक्ष

अकबर के विजयवासी तथा समस्तकारी शासन ने प्रभूतपूर्व अकाल प्रसन्न किया। सन् १५५१-५२ में दिल्ली विश्वम हो गई थी तथा असह्य मौतें हुई थी। (पृष्ठ २८८)। बदायूनी ने स्वयं अपनी ही आँखों से देखा था कि जलवायु-बादलों की ही मात्रा का रहा था, और दुर्भिक्ष-पीड़ितों की आहुतिवादी दृष्टि का ही चक्रों की कठिनाई में ही कोई उनकी ओर देखा करता था। "मार्ग देश उजाड़ पराधन बन चुका था, और पूर्वी की ओर के बाँस नाल ही नहीं रहे थे।" भारत के समृद्धतम प्रांतों में से एक तथा दुर्भिक्ष की शोकका से नदैव अछूता रहने के लिए प्रजापित भुजराज

में भी सन् १५७३-७४ के छः मास तक दुर्भिक्ष रहा। सदा की भौति भुज-मरी के पश्चात् महामारी फैली जिसके कारण धनी और निर्धन, सभी निवासी प्रदेश छोड़कर भाग गये और इधर-उधर सर्वत्र फैल गये। विशिष्ट अस्पष्टता के साथ अबुल फजल उल्लेख करता है कि सन् १५८३ और १५८४ में वर्ष भर सूखा पड़ जाने के कारण चूँकि दाम ऊँचे थे, इसलिए अनेक लोगों का उदर-पोषण कर पाना समाप्ति पर आ गया। (स्मिथ कहता है, कि) सन् १५६५-६८ की अवधि में हुए महान् विपत्तिकाल का उसके द्वारा हुआ अपरिष्कृत वर्णन यदि हम ठीक से जाँचें, तो हम निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि सन् १५८३-८४ का दुर्भिक्ष-भयंकर था। अन्य इत-लेखकों द्वारा इसका उल्लेख अथवा संकेत-मात्र भी किया गया प्रतीत नहीं होता।"

"सन् १५६५ से प्रारम्भ होकर सन् १५६६ तक, तीन-चार वर्ष चलने वाला दुर्भिक्ष अपनी भयंकरता में उस दुर्भिक्ष के समान था जो सिंहासनाब्द होने के वर्ष में पड़ा था, और अपनी दीर्घावधि के कारण उस दैव-दुर्बिपाक से भी बदतर था। बाढ़ें और महामारियाँ अकबर के शासन को प्रायः ग्रस्त करते थे (पृष्ठ २८६)।"

स्मिथ ने अवलोकन किया है कि जब अकबर मरा, तब केवल आगरा दुर्ग में ही वह अपने पीछे दो करोड़ स्टलिंग की नकद-राशि छोड़ गया था। इसी प्रकार की जमा-राशि अन्य छः नगरों में भी थी। फिर भी, ऐसा प्रतीत होता है कि दुर्भिक्ष से छुटकारा दिलाने वाले कोई भी पग अकबर ने नहीं उठाये। अबुल फजल द्वारा प्रस्तुत इनके विपरीत वर्णनों को केवल मात्र चापलूसी कहकर रह कर दिया जाता है।

### अकबर की शादियाँ दूसरों की विपन्नावस्था का अनुचित लाभ है

यह बिल्कुल झूठी और गलत बात है कि अकबर की, राजपूत राज-कुमारियों से शादियाँ साम्प्रदायिक एकता और सींहादे बनावे रखने के महान् उद्देश्य का फल थी। इस वैद्विमानिपूर्ण दावे का खण्डन यह प्रश्न कर नुग्न किया जा सकता है कि क्या अकबर ने भी अपनी किसी पुत्री या निकट सम्बन्धी एक भी कन्या का विवाह किसी हिन्दू से किया था?



दूसरी बात यह है कि यह मानना भी बिल्कुल बेहूदगी है कि अत्यन्त दय्य, बम्बट और कामुक विदेशी उपस्थितियों के हाथों में अपनी महिलाएँ मारने के स्थान पर उनकी अग्नि की भेंट बड़ा देने वाले, जीवित ही जोहर की स्वाताओं के हाथ देने वाले और राजपूतों को अपनी कन्याएँ अकबर को उनके सम्मुख समर्पण करने की शर्त लगा दी थी।

साथ ही जयपुर राजघराने का उदाहरण ले — जिस परिवार को अली उनके भगाने भुगत शासकों को सौंप देनी पड़ी थी।

यह पूर्ण विवरण, कि किस प्रकार बाध्य होकर जयपुर-नरेशों को अपनी कन्याएँ मुगल बादशाहों के हाथों में भेंटनी पड़ती थी, डा० श्रीवास्तव ने अपने पुस्तक की "अकबर-संहिता" नामक पुस्तक के भाग-१ (एक) के पृष्ठ ६१ से ६३ पर उल्लेख है।

भारतीय इतिहास-विद्वानों की मूल विपत्ति यह है कि वे भी सही सुनिश्चितता बिना ही निराले में तर्कों तथा अयोग्यता रही है। डा० श्रीवास्तव द्वारा उल्लेख अकबर का जयपुर की कन्या को अपने अधीन कर लेना एक विशिष्ट उदाहरण है।

उस तरह कहा कि किस प्रकार अकबर ने जयपुर के राजघराने की अपनी प्रिय पुत्री को मुगलों के दक्षिण-हस्त में सुरक्षा पहिनाकर प्रेषित करा देने के लिए आतंकित किया, इसी सावधानीपूर्वक तोड़-भरोड़कर अकबर के जयपुरागम के आह्वान-चिह्नों से सजोकर रखा गया है। इस ओझल पर ही यह कथा के ताने-बाने को हम एकत्र करेंगे।

शर्फुद्दीन अकबर के सेनापतियों में से एक था। उसने आमेर (प्राचीन जयपुर) के तत्कालीन नरेश राजा भारमल के विरुद्ध अनेक बार आक्रमण किया। बहुत कुछ छल-जुद्ध केने के अनिवार्य शर्फुद्दीन ने भारमल के तीन नरेशों को पकड़ लिए। इनके नाम थे तगनाथ, राजमिह और खंगर। उनकी कन्याएँ के रूप में रखा गया, और सांभर नामक निर्जन स्थान पर भरा हुआ बर दिए जाने से उनकी इरादा-अवस्था गया। डा० श्रीवास्तव ने लिखा है, "अकबरशाह-जयपुर भाग्य के सम्मुख सर्वनाश उपस्थित था, और शर्फुद्दीन, अकबर समक्षवाचक से अपने अकबर द्वारा मध्यस्थता और

उसके साथ समझौता चाहा।" यह स्पष्ट प्रदर्शित करता है कि भारमल के तीनों भतीजों की मुक्ति के लिए अकबर ने एक निर्दोष, असहाय राजकुमारी का उसके सम्मुख समर्पण करने की शर्त लगा दी थी।

इसके अनुसार ही, सांभर नामक स्थान पर राजकुमारी अकबर को सौंप दी गयी, और उसके बदले में तीनों राजकुमारों का छुटकारा सम्भव हो पाया। वे छूट गये। किन्तु इसके साथ-साथ बहुत बड़ी धनराशि फिर भी देनी पड़ी थी। स्पष्ट ही है कि जयपुर राजघराने की ओर से इस अपमान-जनक कथा को विवाह के रूप में प्रस्तुत करना पड़ा और दण्डस्वरूप दिये गये विशाल धन को छद्मरूप में दहेज का नाम दिया गया। किन्तु ऐसा कोई कारण नहीं है कि आज के विद्वान् भी उसी भ्रमजाल में फँसे रहे।

डा० श्रीवास्तव ने आगे चलकर कहा है, "सांभर में एक दिन रुकने के बाद अकबर तेजी से आमेर चला गया।" "रणथम्भोर नामक स्थान पर भारमल के पुत्रों, पौत्रों तथा अन्य सम्बन्धियों का अकबर से परिचय कराया गया।" इन अस्वाभाविक विवरणों ने समस्त कथा का भंडाफोड़ कर दिया। यह तो सुविदित ही है कि १६वीं शताब्दी में राजघरानों का विवाह ऐसा चहल-पहल पूर्ण कार्य था जो महीनों तक चला करता था। और फिर भी अकबर को केवल मात्र एक दिन भर रुकने के और समय ही नहीं मिला कि इस छद्म-विवाह को सुशोभित कर पाता। और यह भी स्पष्ट है कि भारमल का कोई भी सम्बन्धी उस राजकुमारी के सम्मान और कीमती-अपहरण के अपमानजनक समर्पण के अवसर पर सम्मिलित नहीं हुआ, जो इस तथ्य से स्पष्ट है कि रणथम्भोर नामक स्थान पर ही भारमल के पुत्रों, पौत्रों तथा अन्य सम्बन्धियों का अकबर से परिचय कराया गया था।

यही प्रारम्भिक विवाह-विवशता थी जिससे बाधित होकर जयपुर राजघराने की भविष्य में मांग होने पर भी अपनी कन्याएँ मुगलों को सौंपनी पड़ी थीं।

ज्यों ही भारमल द्वारा अपनी कन्या अकबर के सुपुर्द कर दी गयी, त्यों ही अकबर ने अपने सेनापति शर्फुद्दीन को इसी प्रकार के दूसरे कार्य अर्थात् मेड़ता की रियासत की धूल में मिला देने के लिए भेज दिया।

दूसरे राजपूत शासकों के घरानों से विवाह-सम्बन्ध भी इसी प्रकार



की समान विषमता का परिणाम थे। इतिहास ऐसे उदाहरणों से भरा पड़ा है जहाँ अकबर के अनुचर मानसिंह तथा अन्य लोगों ने असहाय तथा सकोची माता-पिता की आँखों के सामने ही उनकी असहाय तथा सकोची पुत्रियों को बलात् छीन लिया था। इन अपहरणों और बलात्कारों को इतिहास में चाँद लगाकर वर्णन किया गया है कि ये तो शान्ति, सौहार्द और एकता स्थापित करने के महान् उद्देश्य से प्रेरित, अकबर द्वारा अन्तर्जातीय विवाह थे।

### भारतीय विश्वविद्यालयों का कर्तव्य

समस्त अदालतों को देखते हुए भारतीय विश्वविद्यालयों का कर्तव्य है कि जिस-सम्बन्धी सभी पाठ्य-पुस्तकों में से अकबर की महानता के सम्बन्ध में नन्दनों को निकाल फेंके, और अकबर के अत्याचारी शासन के भयावह सत्य बाहर निकालकर जनता के समक्ष प्रस्तुत करने वाले अधिकारी व्यक्ति नियुक्त करें। स्मिथ द्वारा दिए गये वर्णनों से बिल्कुल स्पष्ट है कि अकबर की शानति विश्व के सर्वाधिक निन्दनीय व्यक्तियों में करनी चाहिये।

### आधार ग्रन्थ-सूची

- (१) 'अकबर, दि ग्रेट मुगल', वाइ किन्सेट स्मिथ।
- (२) 'अकबर दि ग्रेट', वाल्थूम—१, वाइ डॉ॰ आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव।
- (३) 'अकबर' वाइ डे॰ एम॰ जैलान।
- (४) 'अकबरनामा' वाइ अबुल फजल, बिज्जिओधीका सीरीज।
- (५) कमेन्टेरियस।
- (६) 'राज्यस आऊ राजस्याम' वाइ कर्नल टाड।
- (७) 'हिस्टोरी ऑफ़ रिज्म वाइ टट्स अनि हिस्टोरियन्स'।
- (८) रिज्मट एण्ड टासन; वाल्थूम १ से २ तक।

भयंकर भूल : क्रमांक—३

## मध्यकालीन तिथिवृत्तों में अनावश्यक विश्वास

भारतीय इतिहास परिशोध की अन्य भयंकर भूल मध्यकालीन तिथिवृत्तों में अनावश्यक आस्था, विश्वास है। ये तिथिवृत्त अधिकांशतः चाटुकारिता के भण्डार हैं, जिनमें सत्य का अल्पांश भी कठिनता से समाविष्ट हुआ होगा। मध्यकालीन-युग ऐसा बीभत्स कालखण्ड था जिसमें शाही-दरबार से सम्बन्ध रखने वाले अल्प शिक्षित व्यक्तियों को अपने जीवन, परिवार और धन-सम्पत्ति की सुरक्षार्थ अपने संरक्षकों की निपट चापलूसी में संलग्न रहना पड़ता था। अतः मध्यकालीन तिथिवृत्तों को इतिहास-ग्रन्थ समझने की अपेक्षा 'अरेबियन नाइट्स' ग्रन्थों का पूरक-समझना चाहिये। यदि उनमें कुछ भी इतिहास-सम्बन्धी सामग्री उपलब्ध होती है, तो वह केवल घटनावश ही मिल जाती है। और, इसीलिए उसका अत्यन्त सावधानी से परखा जाना आवश्यक है। स्वतन्त्र साक्ष्यों से भी उनकी पुष्टि होनी चाहिये। ऐसे सत्य का पता लगाना काजल की कोठरी में काली बिल्ली को खोजना अथवा भूसे के ढेर में सुई ढूँढ़ने के बराबर ही कठिन कार्य होगा।

इस प्रकार की चेतावनी निष्पक्ष तथा गम्भीर प्रकृति के इतिहासकारों ने पहले भी दी है, किन्तु उनकी ओर ध्यान नहीं दिया गया। उदाहरण के लिए, मध्यकालीन तिथिवृत्तों के समालोचनात्मक अध्ययन के आठ भागों वाले ग्रन्थ के आमुख में स्वर्गीय सर एच॰ एम॰ इलियट ने कहा है कि भारत में मुस्लिम-कालखण्ड का इतिहास एक 'जानबूझकर किया गया रोजक धोखा है।'

इसी प्रकार सन् १९३८ में भारतीय इतिहास परिवद् के इनाहाबाद-



सब में डा० सुरेन्द्रनाथ सेन ने अपने विभाग के अध्यक्षीय अभिभाषण में कहा था—“मैं एक बात के लिए सावधान करना आवश्यक समझता हूँ। कुछ विशेष क्षेत्रों में यह प्रवृत्ति है कि फ़ारसी में लिखा हुआ जो भी कुछ मिलता है, उसीको इतिहास का प्राथमिक आधार मान लेते हैं...। इससे अधिक उपहासस्पद और कुछ नहीं हो सकता। वृत्त लेखकों की रुचि प्रमुख रूप से दरबार तथा सैनिक कुतूहल में थी। उनमें से कुछ तो जान-बूझ-कर ही शासनकर्ता सुल्तान और प्रमुख सरदारों के संरक्षण प्राप्त करते थे। मुस्लिम लेखक धार्मिक-पूर्वाग्रहों से कदाचित् ही कभी अछूते रहे हों। इससे उनमें हिन्दुओं की संस्कृति के प्रति उपेक्षा-भाव भर गया। हिन्दू तो भ्रमित कल्पविश्वासी था जिसको नारकीय-यातना में सदैव जीवन बिताना था। यह छेद की बात है कि इन दोषों के होते हुए भी फ़ारसी इतिहास-वृत्त अभी तक भारत के ऐतिहासिक ग्रन्थों पर प्रभाव जमाए हुए हैं।”

फिर डॉ० सेन ने इटली के महान् विद्वान् डॉ० टेसिटोरी का उद्धरण प्रस्तुत किया जिसमें कहा गया था, “मध्यकालीन भारत का इतिहास प्रमुख रूप में मुस्लिम इतिहासकारों के ग्रन्थों के आधार पर लिखा गया है, जिन्होंने राजपूत राजाओं को एक अत्यन्त भद्दे रूप में प्रस्तुत किया है, काफ़िर-कुत्ते, दुर्गन्ध बिखेरी आदि कहा है। इस प्रकार की अमैत्रीपूर्ण भावना रखने के कारण शाही चढ़ाइयों के समय राजपूत राजाओं द्वारा किए गये कार्यों के महत्वपूर्ण अंश की ओर ये मुसलमान इतिहासकार कभी भी पूर्ण न्याय नहीं कर पाते।”

इसपर दो उद्धरण मध्यकालीन मुस्लिम तिथिवृत्तों की दो बड़ी वृत्तियों पर प्रकाश डालने के लिए पर्याप्त समझे जाने चाहिए: प्रथम वृत्ति यह रही कि इन लोगों ने अपने तिथिवृत्त भावी पीढ़ियों को तत्कालीन घटनाओं के सन्दर्भापूर्ण वर्णन प्रस्तुत करने के लिए किसी आन्तरिक प्रेरणा से बाधित-रूढ़न नहीं किया—अर्थात् केवल अपना हित-साधन ही उनके सम्मुख था। वे अपनी स्वायत्त-मिद्वि के लिए बादशाह या सुल्तान का अनुग्रह

प्राप्त कर पाने में ही रुचि रखते थे। उनकी दूसरी वृत्ति यह थी कि उन्होंने स्थानीय जनता के प्रति ईर्ष्या, घृणा और इस देश के धर्म और संस्कृति के प्रति असम्मान की भावना से लिखा। इसके कारण सच्चे इतिहासकार के आवश्यक गुणों—निष्पक्षता, सत्यनिष्ठा और मत-स्वातन्त्र्य—का लोप ही हो गया।

इन दो विकारी तत्त्वों के होते हुए भी उन्हीं मध्यकालीन मुस्लिम तिथिवृत्तों तथा शासकों के स्मृति-ग्रन्थों पर ही हमारे मध्यकालीन इतिहास-ग्रन्थ पूर्ण रूप में आधारित हैं, ऐसा वे स्वयं स्वीकार करते हैं। इस प्रकार, उदाहरण के लिए, जहाँगीर अथवा अकबर सम्बन्धी ग्रन्थों के आमुख में सभी लेखक स्वीकार करते हैं कि जहाँगीर अथवा अकबर के शासन के सम्बन्ध में रचित इतिहास के लिए हमारा मुख्य स्रोत जहाँगीरनामा अथवा अकबरनामा रहा है। यहाँ मैं यह स्पष्ट करना चाहता हूँ कि स्वयं शासकों द्वारा लिखे गये स्मृति-ग्रन्थ; यथा जहाँगीर का जहाँगीरनामा, अथवा शासकों के निर्देशानुसार उनके अधीनस्थों द्वारा लिखे गये उनके शासनकाल के तथा-कथित वर्णन; यथा शाहजहाँ के शासनकाल का वर्णन समाविष्ट करने वाला मुल्ला अब्दुल हमीद द्वारा लिखित ‘बादशाहनामा’ ग्रन्थ—मूल रूप में छद्म ग्रन्थ है क्योंकि उन लेखकों का प्रमुख उद्देश्य उन आलमगीरों की सार्व-भौम-सत्ता और अवर्णनीय विशाल धन-सम्पत्ति का अतिरंजित वर्णन करना तथा अपने शासकों के अनेक अपकृत्यों पर पर्दा डालना था।

अतः इन मध्यकालीन मुस्लिम तिथिवृत्तों तथा शासकों के स्मृति-ग्रन्थों को यद्यपि सर्वाधिक सावधानीपूर्वक देखना-भालना चाहिये था तथापि, मुझे मालूम पड़ता है कि हमारे इतिहास-ग्रन्थों में इन सन्दिग्ध अभिलेखों पर पूर्ण आस्था व विश्वास जमाया है। उनमें लिखित प्रत्येक शब्द को स्वीकार करने से पूर्व ठीक रूप में स्पष्ट करना और सत्यापित करना आवश्यक है। ज्ञात यह होगा कि अनेक बार इन अभिलेखों में उलटे निष्कर्ष निकालने की अपेक्षित सामग्री मिल जाती है। कई बार उन वर्णनों में जिन बातों पर बल दिया जाता है, वे हमें कड़वे घूंट जैसे लगते हैं, कहीं वे हमें भूतपूर्व राजपूत शासकों की गल-गाथाओं के सूत्र उपलब्ध कराते हैं, तथा अनेक बार उनमें

१. बादशाहनामा में सन् १६३० से हुई भारतीय इतिहास परिषद् की कार्यवाही।



बर्णित बातों को हमें अनट-बलट कर देखना और सावधानीपूर्वक समीक्षण करना पड़ता है।

मध्यकालीन मुस्लिम लिखितों तथा शासकों के स्मृति-ग्रन्थों में अभी तक जो अन्धविश्वास तथा जविकेक रखा गया, उसके कारण भारतीय इतिहास में अनेक भ्रान्तियाँ अनायास ही समाविष्ट हो गयी हैं। न्याय की दृष्टि पर सब इतरने वाला ऐसा कोई भी साक्ष्य उपलब्ध नहीं होगा जो सिद्ध करे कि आज दिन कितनी, महलों, नगरों और नहरों के निर्माण का श्रेय अकबर को दिया जाता है, वे उसीके बनाए हुए हैं—अथवा शाहजहाँ श्रेय अकबर को दिया जाता है, वे उसीके बनाए हुए हैं—केवल सही समाने तादमूल्य अथवा विस्तार का ताल-किला बनवाया। केवल सही समाने चोचना भर की आवश्यकता है। जैसे मसफइस्त अफवाहें एक-दूसरे के नामों-पाम देते जाते हैं, इसी प्रकार बार-बार गढ़े जाने पर ये बातें भी ऐसी लगती हैं, मानो कहीं लिखित आधार से ली हों। यदि इतिहासकार इन आत्मत्यागपुस्तक दावों का आधार खोजने का जरा-सा भी कष्ट करे, या उनको मानुम यह ज्ञान कि वे दावे निराधार हैं।

अपनी उपर्युक्त धारणा के समर्थन में, अब मैं, सभी महत्त्वपूर्ण मुस्लिम लिखित लेखकों और उनके अति-प्रशंसित ग्रन्थों का विराट् सर्वेक्षण आप लोगों के सम्मुख प्रस्तुत करूँगा। इससे पता चलेगा कि निष्पक्ष इतिहासकार सभी बार-बार इन लेखकों और उनके रचित ग्रन्थों की पूर्ण अविश्वसनीयता की ओर संकेत करते थे। और यह भी ज्ञात हो जायेगा कि भारतीय मध्य-कालीन इतिहास का छन्द, इन चेतावनियों की विद्यमानता में भी, हमारे स्कूलों, विद्यालयों और परिशोध-संस्थानों में मन्त्री से चलता जा रहा है। उसे अपने झूठे और अमुरीखन पहियों की भी खबर नहीं है।

आइये, इस अलबरूनी का पर्यवेक्षण करें। मध्यकालीन इतिहास के सम्बन्ध में जैसा अन्य लेखकों के बारे में उसी प्रकार अलबरूनी के लिए हमें बतलाया जाता है कि उसके द्वारा वर्णित घटनाओं के लिए अलबरूनी द्वारा लिखित ग्रन्थ ही हमारे एकमात्र सूचना-स्रोत है। और, कुछ ही समय बाद हमें बतलाया जाता है कि अलबरूनी की मृत्यु के प्रति लेखमात्र भी निष्ठा नहीं की। इस सम्बन्ध में, सुप्रसिद्ध विद्वान् इतिहासज्ञ डॉ० एडवर्ड सी० सचाऊ के विचार हैं, "ऐतिहासिक श्रुतता नष्ट हो जाने पर, हमें

जानकारी का केवल मात्र एक ही स्रोत—अलबरूनी का स्रोत—उपलब्ध है।<sup>१</sup> जिस समय अलबरूनी ने इस ग्रन्थ की रचना की, उस समय मकनी के बादशाह महमूद को मरे हुए कुछ सप्ताह ही बीते थे। एक जागरूक राज-नीतिज्ञ की भाँति उसने दोनों उत्तराधिकारी महमूद और मसूद के प्रान के निष्कारे की प्रतीक्षा की, और जब मसूद अपने पिता की गद्दी पर सुदृढ़ता से आसीन हो गया, तब अलबरूनी अपने जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य 'मसूद का फतवा' उसको समर्पित करने के लिए दौड़ पड़ा। यदि उसके हृदय में मृत बादशाह के प्रति कुछ भी सत्यनिष्ठा की भावना रही होती, तो उसने उसकी प्रशंसा की होती और कृतज्ञता प्रदर्शित करते हुए अपने ग्रन्थ उसी की स्मृति में समर्पित किए होते। उसने ऐसा नहीं किया, और जिस अप-भ्राम में उसने महमूद का उल्लेख सम्पूर्ण पुस्तक में किया है, वह ऐसी नहीं है जिसमें अपने हितकारी किसी मृत व्यक्ति का वर्णन करना अभीष्ट हो। उसने उसका उल्लेख केवल अमीर महमूद कहकर ही किया है (यद्यपि दिल्ली के मुगल बादशाहों के दरबार में पूर्वीय लेखकों के प्राक्कथन ही निरर्थकता की सीमा को छू लिया करते थे)। लेखक ने जिस ढंग से मृत बादशाह का उल्लेख किया वह पूर्णरूप में निराशामय है, उसके गुणगान के शब्द भी अत्यल्प एवं कठोर हैं। उसने महमूद के सम्बन्ध में कहा है, "उसने (भारत) देश की समृद्धि को पूर्ण रूप से नष्ट किया, और इतने आश्चर्य-कारों गोपण किये कि इसके कारण धूलि-कणों के समान हिन्दू चारों ओर बिखर गये, इस प्रकार जैसे कोई पुरानी कहानी लोगों के परस्पर वार्तालाप से सभी जगह पहुँच जाती है।" बादशाहों के प्रति ऐसी निष्ठा रखते हुए लिखना किसी भी प्रकार अलबरूनी के नैतिक सिद्धान्तों के प्रतिकूल नहीं था, यह उसके दो अन्य ग्रन्थों से स्पष्ट प्रतीत होता है। इसमें उस युग की वैजन्नियामीली का पूर्ण परिपालन किया गया है। (एडवर्ड सी० सचाऊ द्वारा

१. बर्लिन विश्वविद्यालय में प्राध्यापक डॉ० एडवर्ड सी० सचाऊ द्वारा सम्पादित तथा एस० चाँद एण्ड को०, नयी दिल्ली द्वारा प्रकाशित सन् १९६५ के पुनर्मुद्रित प्रथम भारतीय संस्करण "अलबरूनी का भारत" का आमुक्त।



डॉ० सबाऊ यह भी कहते हैं, कि "अजबसती इस्लाम पर आघात करने का साहस नहीं करता, किन्तु अरब लोगों की बड़ आलोचना करता है। अजब-मियाँ-मिर्दा पर लिखे गये अपने ग्रन्थ में ईरान की पुरानी सभ्यताएँ

(४) चौथी बात—जिसका यश व ध्येय अलबरूनी ने महमूद गज़नी को दिया है—अर्थात् हिन्दुओं को चकनाचूर कर उनको धूल में मिलाकर



सभी ओर बिखेर देना तो कम-से-कम औरंगजेब के शासन के अन्तकाल तक चलता ही रहा है। उसके बाद ही मुस्लिम शासन-सत्ता अनिष्ट हीनता के स्तर तक आ पायी थी।

डा० सत्ताऊ द्वारा फिरदौसी के मृत्याकत से यह स्पष्ट है कि (यद्यपि भारत के सम्बन्ध में उसने कुछ लिखा नहीं है तथापि) वह भी सत्यवादिता के सम्बन्ध में किसी भी अजबलुनी से बढ़कर नहीं था, क्योंकि शासकों से ऐसा अच्छा या बुरा व्यवहार उसे प्राप्त हुआ उसीके अनुरूप उसने उनकी प्रशंसा बयान किया की है। डा० सत्ताऊ ने उसी आमुख के पृष्ठ viii में कहा है—“अमर फिरदौसी को, हाथी के पैरों तले कुचले जाकर मिलने वाली शारकीय मौत से बच निकलने के लिए भेष बदलकर भागना पड़ा था। जबान बादशाह के गद्दी पर बैठने के एक साल बाद अर्थात् सन् ६६८ में उसके भाग्योदय में आकर्षित हो जाने पर वह पुनः दरबार में आ गया मानून पहला है। किन्तु जब उसने ‘शाहनामा’ समाप्त किया और पारि-लौकिक जाने की आशा धूमिल हो गयी, तब उसने अपना सुप्रसिद्ध व्यंग्य प्रस्तुत किया और सदा के लिए (सन् १०१० में) देश-निकाला हो गया। अतः पूर्व साक्षात्कृत वैभवों को संहत कर लेने वाले महमूद को कदाचित् ज्ञात न हो पाया कि अमरत्व को प्राप्त शायर का किस प्रकार सम्मान किया जाए।” बौद्ध मुस्लिम शासन सर्वे सभ्यताओं में महमूद गजनी का अनु-करण करता रहा है, अतः फिरदौसी का उदाहरण सभी कलाओं और विद्वानों की सह्य मुस्लिम संरक्षण और प्रोत्साहन देने का पूर्ण अस्वीकरण है। जो भी कुछ संरक्षण दिया गया वह चापलूसों और मद्योन्मत्तता व विचारी के साथ-साथ चलने वाले नृत्य और संगीत के भद्दे प्रकार को था।

यहाँ तक बद्राजुनी का सम्बन्ध है, यह तो सर्व ज्ञात ही है कि वह तो हिन्दू दरबारियों और शासकों की मृत्यु की परिस्थिति का ही, और भी अल्प ज्ञानयोग्य भाषा में वर्णन करता है, जिनका अर्थ होता है, “वह भारतीय कीर्त्यामा जहन्नूम पहुँच गया।”

अबुल फजल के बारे में हमें बालूम है कि सभी निष्पक्ष यूरोपियन इति-हासकारों ने उसे ‘अजबलुनी का सरदार’ कहा है। अबुल फजल के आईने-अकबरी का सबसे अधिक अलुभार करने वाले थी एच० ब्लोचमन ने इसकी पुष्टि

की है, जब वे आमुख में कहते हैं कि, “अपने मालिक का यश कलंकित करने वाले कुकर्मों (तथ्यों) को जानबूझ कर छिपाने तथा खूब चापलूसी करने का आरोप प्रायः सभी यूरोपियन लेखकों ने अबुल फजल पर लगाया है।” अबुल फजल प्रायः सभी इतिहासकारों की आँखों में धूल झोंकने और उनको यह विश्वास दिलाने के यत्न में बखूबी सफल हुआ है कि अकबर जैसा अखण-नीय बादशाह इतिहास के सार्वकालिक महान् पुरुषों में से एक था। बद्राजुनी जैसे समकालीन व्यक्तियों ने भी स्पष्ट लिखा है कि केवल मात्र चाटुकारिता के ही बल पर अबुल फजल की पहुँच सीधी अकबर तक भली-भाँति हो गई

१. ‘बिब्लिओचीका इंडीका कलैक्शन ऑफ ओरिएण्टल बक्स’—मूल फ़ारसी-संघ अबुल फजल के ‘आईने-अकबरी’ से एच० ब्लोचमन, एम० ए०, कलकत्ता, मद्रास द्वारा अनूदित। डी० सी० फिल्लौर, ले० कनल एम० ए०, पी-एच० डी०, फैलो ऑफ एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल द्वारा संशोधित, १ पार्क स्ट्रीट की रायल एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल द्वारा प्रकाशित दूसरा संस्करण, प्रथम संस्करण का आमुख।

२. समकालीन दरबारी लोग और जहाँगीर जानते थे कि अबुल फजल धूर्त व्यक्ति था—ऐसा उल्लेख ‘अकबरनामा’ के प्रथम भाग में दी हुई अबुल फजल की जीवनी में है। लेखक कहता है—“दरबारी-लोग और जहाँगीर अबुल फजल के विरुद्ध थे। एक बार अचानक जहाँगीर अबुल फजल के घर जा पहुँचा। जहाँ उसे अबुल फजल पर धोखेबाजी का आरोप लगाने का सुनहरी मौका मिल गया। घर में घुसने पर उसने देखा कि ४० लेखक कुरान की व्याख्याएँ तैयार कर रहे हैं। उनको तुरन्त अपने पीछे आने का आदेश देकर, वह उनको बादशाह के पास ले गया। बादशाह को वे तैयारी की हुई कविताएँ दिखाकर जहाँगीर बोला, “अबुल फजल मुझे कुछ पढ़ाता है, और घर में कुछ और ही लिखता-पढ़ता है। दोनों परस्पर विरोधी हैं।” कहते हैं, कि इस घटना से अकबर और अबुल फजल में अस्थायी मनमुटाव हो गया था।



थी, और उस पद-स्थान के कारण वह किसी को आँखें दिखा सकता था।<sup>१</sup> स्वयं राज्य का उत्तराधिकारी जहांगीर भी स्पष्ट रूप में अबुल फजल की निरंकुश सत्ता में प्रभावित हो अपनी स्थिति इतनी अधिक असह्य मान बैठा था कि बिना होकर उसे अबुल फजल को मरवा डालने का कार्य करना ही पड़ा।<sup>२</sup>

हमें अबुल फजल को वह आत्म-स्वीकरण प्राप्त है कि वह स्वार्थी और अकबरवादी था। प्रथम संस्करण की भूमिका में श्री ब्लोचमन ने अकबर-नामा में उद्धृत कर अबुल फजल के अपने शब्दों का उद्धरण दिया है जिसमें यह कहता है—“जब पहले भाग्य ने मेरा साथ नहीं दिया (अर्थात् जब वह अकबर का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने में असफल रहा) तब मैं पूर्ण रूप में स्वार्थी और उद्धत हो गया। ज्ञान-प्राप्ति का मूल्य मेरे मानस को विक्षिप्त कर चुका था। मेरे पिता का परामर्श कठिनाई से ही मेरी अज्ञानता को प्रकट होने से रोक सका।”

अकबरनामा के पदोपों के अनुसार अबुल फजल ऐसा पैटू व्यक्ति था जो प्रतिदिन लगभग २२ सेर भोजन करता था। किसी भद्र इतिहासकार तथा विद्वान् पुरुष का तो लक्षण यह निश्चित रूप से नहीं हो सकता।

१. अकबरनामा के प्रथम भाग के पृष्ठ-१७८ पर श्री ब्लोचमन ने अबुल फजल के सम्बन्ध में बदार्युनी का विचार उद्धृत किया है। बदार्युनी कहता है—“जब अबुल फजल एक बार बादशाह का कृपा-पात्र बन गया तो (जैसा अनपेक्षित रूप से सेवा करने वाला, मौका परस्त, प्रयत्नशील, निष्ठाहीन, सदैव जहांगीर की मुद्राओं का अध्ययन करने वाला, सभी प्रकार का पूर्ण चापलूस वह था ही) उसने निर्लज्ज होकर लाली-लाली करने का कोई मौका छोड़ा नहीं।” उसके इस यत्न व क्षति पर बहुत कम प्रकाश डाला गया है।

२. अकबरनामा के प्रथम भाग में संतप्त अबुल फजल की जीवनी में लेखक कहता है कि—“जहांगीर अपने स्मृति-यंत्रों में स्पष्ट रूप में स्वीकार करता है कि मैंने ही अबुल फजल की हत्या करवायी थी क्योंकि वह मेरा दुश्मन था।”

अकबर भी अबुल फजल को केवल अपना आश्रित और जिविर का अनुचर ही समझता था, इससे अधिक और कुछ नहीं। इस तथ्य की पुष्टि इस घटना से होती है कि अबुल फजल की हत्या के समाचार पर अकबर ने न तो अपनी आंखें ही उठायी और न ही उंगली तक हिलायी। जैसाकि हमें विश्वास करने को कहा जाता है, यदि अकबर सचमुच ही न्यायप्रिय तथा महान् शासक रहा होता तो उसने जहांगीर पर इसका कलंक लगाया होता।

अपनी आजीवन सुरक्षा, समृद्धि और दरबार में आधिकारिक-सत्ता प्राप्त कर पाने के लिए ही अपने को अकबर का पिछलगू बना देना, यही सबसे बड़ी बात अबुल फजल के सम्मुख ध्येय रूप में थी। अकबरनामा का ठीक-ठीक मूल्यांकन करने के लिए अबुल फजल के इस नाटकीय अभिनय का स्पष्ट ज्ञान होना आवश्यक है।

यह स्पष्ट रूप में समझ लेने की बात है कि अपनी सांसारिक आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए ही अबुल फजल ने अकबरनामा को साधन या उपकरण बनाया। इस ग्रंथ को इससे अधिक कुछ भी समझना भूल है। अतः यदि कुछ भी ऐतिहासिक सामग्री इसमें समाविष्ट है, तो वह केवल घटनावश ही है। यही तो स्पष्टीकरण करना है कि इसके भरपूर पृष्ठों में अकबर के शासन के समुचित तथा सविस्तार वर्णन के अतिरिक्त संसार भर की सभी वस्तुओं का लेखा है। यह तो डेनमार्क के युवराज के बिना ही हेमलेट है। अकबरनामा लिखने में उसका एकमात्र प्रयोजन ही यह था कि जबतक वह या अकबर न मर जाय, तबतक यह कार्य निरन्तर चलता रहे—अपने लिए एक ऐसा धंधा खोज लेना था। यह तो भानमती का पिटारा-सा बन गया है, तभी तो इसमें शामयाने की सजावटी वस्तुओं से लेकर व्यापार-दरें और धातुकामिक क्रियाओं से लेकर बाजारू गण्ये, सभी कुछ छिन्न-भिन्न वस्तुओं का विचित्र संगम है।

अकबरनामा और इसके लेखक को ठीक से न समझ पाने का दुष्परिणाम ही अकबर के राज्य एवं उसके व्यक्तित्व के सम्बन्ध में गलत कहानियाँ हैं।



१४२

अबुल फजल की साक्षी के अनुसार ही अकबर पक्का अफ्रीमची<sup>१</sup>, शराबी<sup>२</sup> और ऐसा बादशाह था जो सैकड़ों शादी-शुदा बीवियों के होते हुए भी १,००० से ऊपर महिलाओं का हरम रखता था।<sup>३</sup>

१. अकबरनामा प्रथम भाग के पृष्ठ ६६ पर अबुल फजल लिखता है—

“जब भी कभी जहाँपनाह शराब, अफ्रीम या कुकनार का सेवन करते हैं (अन्तिम की वह ‘सबरस’ कहता है—अर्थात् वह सर्वोत्कृष्ट-रस जिसमें सभी जड़ी-बूटियों का तत्व हो), तब उपस्थित सेवक-प्रमुख जिसमें सभी जड़ी-बूटियों का तत्व हो), तब उपस्थित सेवक-प्रमुख सर्वप्रथम उनके सम्मुख आधार-वस्तु रख देते हैं।” शराबी, नशीली वस्तुओं और स्त्रियों के प्रति अतिशय व्यसनी होने का केवलमात्र परिणाम अकबर की असहाय प्रजा के प्रति निर्मम क्रूरता और जल्पाचार ही हो सकता था—न कि उत्कृष्ट न्याय, निष्पक्षता, शुद्ध व्यवहार, दयाशीलता तथा उदारता जैसा कि दावा किया जाता है। स्लैट रूम में, वह दूसरा ‘मीरो’ था।

इसी के साथ-साथ, अकबर की प्रजा और दरबारियों के अपने-अपने श्री ब्लोचमन द्वारा अनूदित अकबरनामा के प्रथम भाग के २७वें पृष्ठ पर अबुल फजल लिखता है कि—“अकबर अधिक पीता नहीं किन्तु इन वस्तुओं की ओर ध्यान बहुत देता है। अबतक, अबुल फजल की पूर्ण अविश्वसनीयता से भरी प्रकार परिचित हो जाने के बाद, ऊपर दिये गये वाक्य का अर्थ अकबर की अत्यधिक मद्यपता के प्रति अकाट्य साक्षी है। ऊपर दिये गये वाक्य के अन्तिम भाग में अबुल फजल इस ओर ध्यान दिखाना चाहता है कि अकबर अपने शराब के स्तम्भ पर मुद्रक बोया करता था। साथ ही, हमें यह तथ्य भी ध्यान रखना चाहिये कि चाँकि अकबर के पूर्वज और अनुज, दोनों ही, चिरकालिक अविश्वसनीय होने के कारण, वह भी उनसे भिन्न नहीं हो सकता था—विशेष रूप से तब जबकि उसके अपने दरबारी वृत्त-लेखक अबुल फजल का कथन हमारे सम्मुख है।”

२. “शाही हरम” से सम्बन्धित पन्द्रहवें आईन (अध्याय) में अबुल फजल पाठक को बताना है कि, “शहंशाह ने भव्य भवनों से युक्त एक सुन्दर

इर्नाके साथ-साथ, अकबर की प्रजा और दरबारियों के अपने-अपने महिला-वर्ग को भी उसके हरम में एक मास भर के लिए आने की विवशता दी।<sup>१</sup> हमारे सम्मुख जहाँगीर का बचन है जो सिद्ध करता है कि अकबर

विशाल वृत्त बना रखा है, जहाँ वे आराम करमाते हैं। यद्यपि ५,००० से अधिक महिलाएँ हैं, तथापि उनमें से प्रत्येक को पृथक्-पृथक् एक कमरा दे रखा है। आश्चर्य की बात तो यह है कि अबुल फजल ने इस हरम का निर्माण-स्थान नहीं बताया है। यह तो एक बड़ा विशाल-भवन-सकुल होना चाहिये था जिनमें एक शक्तिशाली सम्राट की ५००० रखैलों को शाही सुविधाओं से सम्पन्न रखा जाना था। किन्तु आज कोई ऐसा भवन विद्यमान नहीं है, जिससे यही सिद्ध होता है कि इन असहाय महिलाओं को अत्यन्त दुरावस्था में पशुओं के समान ही किसी बाड़े में एकत्र रखा गया होगा, जो शहंशाह की पाशविक भूख मिटाने भर की यत्न थीं।

२. अकबरनामा के प्रथम भाग के ४७वें पृष्ठ पर अबुल फजल कहता है कि, “जब भी कभी वेगमें अथवा उमरावों की पत्नियाँ या ब्रह्म-चारिणियाँ उपहृत होने की इच्छा रखती हैं, तब उनको अपनी इच्छा की सूचना सबसे पहले वासनालय के सेवकों को देनी पड़ती है, और फिर उत्तर की प्रतीक्षा करनी पड़ती है। वहाँ से उनको प्रार्थना महल के अधिकारियों के पास भेज दी जाती है, जिसके पश्चात् उनमें से उपयुक्तों को हरम में प्रविष्ट होने की अनुमति दे दी जाती है। उच्च-वर्ग की कुछ महिलाएँ वहाँ एक मास तक रहने की अनुमति प्राप्त कर लेती हैं।” महिलाओं की प्रकृति का जहाँ तक हमको ज्ञान है, उसके अनुसार यह विश्वास करना असम्भव है कि उच्च तथा सम्प्रान्त वर्ग की महिलाएँ, सुशील महिलाएँ तथा उमरावों की बीवियाँ किसी भी प्रकार अकबर की कामुकता का शिकार होने की प्रार्थना करतीं। इस सब का एक तथा एकमेव निष्कर्ष यह निकलता है कि अपनी असंख्य पत्नियों और ५००० से भी अधिक रखैलों से भी तृप्त न होने के कारण अकबर ने अपनी प्रजा तथा दरबारियों की पत्नियों को भी अपनी कामुक-दृष्टि से बहसा नहीं। बादशाह अकबर के सैन्य-सामर्थ्य से युक्त ऐसे लम्पट व्यवहार के ही कारण वे त्रासदियाँ हुयीं जिनमें मुगल-घरानों में विवाहित राजपूत कन्याएँ या तो पामल हो गयीं अथवा उन्होंने आत्महत्या कर ली। राजा मानसिंह विधिवत हो गया तथा राजा टोडरमल स्वैच्छिक अवकाश ग्रहण कर बनारस चला गया।



निपट निरक्षर था। वह न तो एक अक्षर पढ़ सकता था, और न ही एक को अक्षर लिख सकता था। इसके विपरीत अबुल फजल चाहता है कि उसके माऊल यह विश्वास करने लगे कि वह बहिर्मुखी व्यक्ति, जिसने स्थिर जीवन व्यतीत किया तथा जो महाराणा प्रताप जैसे राष्ट्रभक्त को धूल की ढाल के लिए सम्पूर्ण जीवन अवसरत युद्ध में सज्जन रहा, एक सन्त व्यक्ति था कि जबकि अबुल फजल अमानवीय चमत्कार किया करता था, और वह 'सर्गों का अग्रिणी प्रणेता' तथा असंख्य छोटे-छोटे यन्त्रों, उपायों व प्रणालियों-प्रक्रियाओं का अत्युत्तम श्रेणी का सृष्टि-कर्ता था। उपर्युक्त परस्पर-विरोधी वक्तव्य-वाक्यों में किसी भी प्रतिभा-सम्पन्न तथा जागरूक इतिहासज्ञ और साधारण-ज्ञानान्वय व्यक्ति को भी यह स्पष्ट दृष्टिगोचर हो जाना चाहिये कि ये सगुणावलिनी स्व-रचित, काल्पनिक और डेरो-डेरो केवल अक्षर की भरपूर चाटुकारिता करने और अबुल फजल के स्वयं के लिए यह-सुरक्षा को सुदृढ़ करने की चेष्टा-भाव है।

किसी भी व्यक्ति को समझ में नहीं आता कि केवल शेखियों तथा जनशिकार दावों के ही बल पर इतिहासकारों ने यह कैसे मान लिया कि जबकि महान् था, जबकि इस निष्कर्ष की पुष्टि के लिए आवश्यक साक्ष्य का एक भी दूब उपलब्ध नहीं है। जिन लोगों ने मध्यकालीन मुस्लिम विधि-वृत्तों और शासकों के स्मृति-ग्रंथों को पढ़ा है, वे सभी जानते हैं कि उन सभी शासकों के ये धिसे-पिटे दावे सभी लोगों के पक्ष में किये गये हैं कि उन्होंने नहरे खुदवायी, सराय-धर्मनाक्षाएँ बनवायी, कुएँ खुदवाये और नहरे बनवाये क्योंकि उनके पास सदैव जी-हुजूरी करने वाले अति चाटु-कारों की कमी न थी। यह तो पता ही है कि वे सब क्रूर सम्भोगी तथा निर्मम अत्याचारी दुष्टात्मा थे जो सार्वजनिक नरसंहारों और महिलाओं व बच्चों के प्रति अत्यन्त निरुद्ध व्यवहार में लिप्त रहते थे। इन सब बातों के दान दान भी, चाटुकार विधि-वृत्त लेखकों ने दावे किये हैं कि उनके संरक्षक

१. अक्षर की इन मानवेतर तथा देव-सदृश विशेषताओं और देवांगानु-  
प्राप्तता के वर्णन अर्धिन (अध्याय) १६, १८, १९, २१, २६, २७,  
३० आदि में उपलब्ध है।

बादशाह लोग तो महान् अन्वेषक, कुशल निर्माता, उद्यानों के सृजनहार, कला के सुधम-धारणी तथा मयधक और पृथ्वी पर ईश्वर में भयभीत होने वाले अत्यन्त दयानु-हृदय व्यक्ति थे।

अब हम जहाँगीरनामा का विवेचन करेंगे, जिसके सम्बन्ध में मान्यता है कि जहाँगीर के शासन-काल का लेखा इसमें स्वयं बादशाह जहाँगीर के कर-कमलों से लिखा गया है। जहाँगीरनामा पर सर एच० एम० इल्लियट द्वारा मरणोपरान्त प्रकाशित तथा प्रोफेसर जान डाउसन द्वारा सम्पादित लेख तथाकथित तिथिवृत्त जहाँगीरनामा का अद्वितीय समालोचनात्मक अध्ययन है। आदि से अन्त तक सर एच० एम० इल्लियट के पर्यवेक्षण इस तथ्य की पुष्टि करते हैं कि जहाँगीर के स्मृति-ग्रन्थ झूठ के पिटारे हैं।

प्रारम्भ में ही विख्यात ब्रिटिश इतिहासकार सर एच० एम० इल्लियट और प्रोफेसर जान डाउसन ने जहाँगीर के इस दावे की झुठला दिया है कि उसने स्वयं अपने हाथ से यह (जहाँगीरनामा) लिखा है। क्योंकि, जैसा कि विद्वान् इतिहासकारों ने लिखा है, जहाँगीर ऐसा व्यक्ति नहीं था जो ऐतिहासिक-संग्रह लिखने का धर्म कर सकता। तत्कालीन वर्णनों में लिखा है कि जहाँगीर अनेक अवसरों पर मूर्च्छाकारी ओषधियों और शराब की अत्यधिक मात्रा का सेवन कर लेने के कारण अचेतनावस्था में रहा करता था।

शाही जवाहरातों और सम्पत्ति के अतिशय मूल्यांकन के सम्बन्ध में दोनों ब्रिटिश इतिहासकारों ने बड़ी गम्भीरतापूर्वक कहा है, कि "यह विवरण

१. जहाँगीर के स्मृति-ग्रन्थ की भूमिका : (स्वर्गीय सर एच० एम० इल्लियट के मरणोपरान्त प्रकाशित लेख; प्रोफेसर जान डाउसन द्वारा सम्पादित)। सम्पादक का कहना है : "जहाँगीर के शासन का इतिहास पूर्ण रूप में उन स्मृति-ग्रन्थों पर निर्भर है जो जहाँगीर ने स्वयं लिखे अथवा उसके निर्देशानुसार लिखे गये हैं" बहुत जल्दी में ही यह धारणा बना ली गयी है कि जहाँगीर ने स्वयं अपने ही हाथों से स्मृति-ग्रन्थ लिखे हैं, क्योंकि जहाँगीर एक ऐसा आदमी नहीं था जो इतना शारीरिक धम-भार अपने ऊपर लेता।"



तो बादशाह के वर्णन की अपेक्षा जोहरी का प्रतिवेदन अधिक सम्पन्न प्रतीत होता है।<sup>१</sup>

रब जहाँगीर आगरा में न्याय की पुकार करने के लिए स्वर्ण-शृंगला स्थापित करने का दावा करता है, जो आलोचक ब्रिटिश इतिहासकारों ने 'कहवादी' कहकर उसके दावे की अवहेलना की है।<sup>२</sup>

अत्यधिक प्रशंसित १२ संस्थानों की, जिनके सम्बन्ध में जहाँगीर का कहना है कि यही उसके शासन के आधार-सूत्र है, विवेचना करते हुए सर एच० एम० इल्लियट का कहना है कि इनको प्रत्येक मुगल शासन ने

१. जहाँगीरनामा के आमुख में सम्पादक कहता है : "मेजर प्राइस के मत का खतम सर एच० एम० इल्लियट ने यह कहकर किया है कि बादशाह की अपेक्षा उसका वर्णन एक जोहरी की दुकान का अधिक सत्य प्रतीत होता है। जिस बनावटी यथार्थता और सूक्ष्मता के साथ स्वर्ण, रजत और बहुमुख्य मणिबज्रों का वर्णन किया जाता है और मुल्कों का विवरण जिस ज्ञान के साथ बढ़ा-चढ़ाकर कहा जाता है, वह एलिअस और शानामनशार की कथाओं के समान ही है।"

२. 'आधुनिक विश्व इतिहास' (माडर्न यूनिवर्सल हिस्ट्री), भाग ७ के पृष्ठ २०६ पर लिखा है : "बादशाह कहता है कि उसने आगरा-स्थित किले में जमुना के निकट प्रस्तर स्तम्भ से एक न्याय-शृंगला बाँधी थी। इन संदर्भ में मालूम पड़ता है कि इसे कभी हिलाया भी नहीं गया था और सम्भवतः आदम्बर के अतिरिक्त इसका अन्य कोई प्रयोजन था ही नहीं। यह वाक्य 'हु तू' नामक पूर्वकालीन चीनी-सम्राट् की कथन बनाने मात्र था।" मौर खुमरू की 'मूह सीफोर' भाग-३, ऑरिएण्टल सम्पादन के पृष्ठ ५६५ पर कहा गया है कि, "यह कार्य तो राजा अकबराल ने दिल्ली में पहले ही किया था।" यह इस बात का स्पष्ट सूचक है कि मुस्लिम बादशाहों का तो यह स्वभाव ही था कि पूर्वकालीन राजपूतों को धन-भाषाओं को वे अपने नाम के साथ जोड़ लिया करते थे। अब यद्यपि मुस्लिम जामकों ने बड़े ढंग से सभी राजपूतों अजितकों को नष्ट कर दिया है, तथापि मुस्लिम तिथि-वृत्तों और जामकों के स्मृति-पत्रों में ऐसी असंगतियाँ हमें किसी सीमा तक या कल्पने राजपूत-जामकों के इतिहास के पुनर्निर्माण में सहायक होती हैं।

दुहराया है और कहा है कि मुझसे पूर्व विद्यमान अतिशय भ्रष्टाचार को दूर करने के लिए मैंने ये न्याय-सिद्धान्त स्थापित किए थे। इस प्रकार ये स्मृति-ग्रन्थ और तिथि-वृत्त स्वयं में ही कुतुबुद्दीन से लेकर बहादुरशाह जफर तक व्याप्त भ्रष्टाचार की गहनता की साक्षी का लङ्घनदाता पक्ष प्रस्तुत करते हैं।

यात्रियों की सुविधा के लिए सरायें बनाने, कुएँ खोदने और अन्य सुविधाएँ देने के जहाँगीर के दावे को सर एच० एम० इल्लियट ने निन्दनीय शब्दों में यह कहकर तिरस्कृत कर दिया है कि इस पर विचार करने की आवश्यकता ही नहीं है क्योंकि उसके समस्त पूर्वज भी अपने खाते में इसी प्रकार के थोड़े तथा निराधार दावे यन्त्रवत् लिखने के अभ्यासी थे।<sup>३</sup>

जहाँगीर के इस दावे का, कि वह अपनी समस्त प्रजा की सम्पत्ति को अनतिक्रम्य समझता था, उपहास करते हुए सर एच० एम० इल्लियट ने लिखा है कि एक बार शाहजादा परवेज़ के लिए आवास की आवश्यकता पड़ी थी तो जहाँगीर के आदेशों पर ही उसके एक सेनापति मोहब्बत खाँ का परिवार बिना किसी सोच-विचार के उस समय निवास-स्थान से निर्दयतापूर्वक निकाल दिया गया था, जबकि मोहब्बतखाँ जहाँगीर की ओर से काबुल में लड़ाई पर गया हुआ था।<sup>४</sup> यह घटना संयोगवश यह भी

१. जहाँगीर के पंचम संस्थान पर सर एच० एम० इल्लियट की समीक्षा।
२. जहाँगीर के तृतीय संस्थान पर जिसमें दावा किया गया है कि सम्पत्ति के सभी उत्तराधिकारियों को मृतक की सम्पत्ति के निर्वाहित उपयोग का आश्वासन दिया जाता था, समीक्षा करते हुए सर एच० एम० इल्लियट ने पर्यवेक्षण किया है : "उत्तराधिकार के द्वारा सम्पत्ति उत्तराधिकारियों को देना तैमूर के संस्थान का ही दुहराना मात्र है (डेवी एण्ड ह्वाइट, इन्स्टीट्यूट ऑफ़ तैमूर, पृष्ठ ३७३)। किन्तु इसका कितना पालन होता था, इसके लिए जहाँगीर के पीछे औरंगजेब के शासन के इतिहास की ओर देखना पड़ेगा जिसमें फिर से मृतकों की सम्पत्ति हड़प करने की रिवाज को समाप्त करने का दावा किया गया है। यह रिवाज, उसके अनुसार, उसके पूर्वजों द्वारा निरन्तर अभ्यास में लाया जाता था (मिरत उन्-ल आलम)।



सिद्ध करती है कि मुस्लिम लोगों को आवास की कितनी कमी रहा करती थी, और इसीसे उन मृतकों के महान् और कुशल भवन-निर्माता होने के सम्मानार्थ शब्दों का शोधापन भी सिद्ध हो जाता है। ब्रिटिश विद्वानों के ये निवेदन जहाँगीरनामा की सत्यता और विश्वसनीयता को लगभग शून्य ही कर देते हैं।

आइये हम अपना ध्यान अब बादशाहनामा अर्थात् लाहौर के मुल्ला अब्दुल हमीद द्वारा शाहजहाँ के कहने पर लिखे गये शाहजहाँ के शासनकाल के लेखों की ओर ले चलें। यहाँ, सर्वप्रथम यह कह दिया जाये कि जबसे अब्दुल फजल अपना 'अकबरनामा' लिखकर छोड़ गया था, तब से परवर्ती मुसलमानों उसी प्रकार के तिथि-वृत्त-लेखकों की भरसक खोज में थे जो अपनी रक्षापत्ती लेखनों में धूँपित, निर्मम और अत्याचारी शासनकाल को जायजमान्य, धर्मान्वा-राज्य और उदारतापूर्ण शासनकाल के रूप में प्रस्तुत कर सकें, जैसा कि अब्दुल फजल ने बड़ी सफलतापूर्वक कर दिखाया था। शाहजहाँ को उपयुक्त व्यक्ति मुल्ला अब्दुल हमीद मिल गया, यह इस उम्र से स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है कि बिना किसी भी प्रकार का प्रमाण प्रस्तुत किए ही वह हमें यह विश्वास दिलाने में प्रलोभित कर पाया कि शाहजहाँ ने जाममहल तथा दिल्ली का लालकिला बनवाया और मयूर-निहासन का आदेश दिया।<sup>१</sup> शाहजहाँ के पक्ष में घोर असंगतियों और

१. शाहजहाँ के शासन के तिथि-वृत्तों से सम्बन्ध रखने वाले स्वर्गीय सर एच० एम० इल्लियट के मरणोपरान्त प्रकाशित पत्रों में वह मुल्ला अब्दुल हमीद के उद्धरण से कहता है कि बादशाह शाहजहाँ ने इच्छा व्यक्त की थी कि अब्दुल फजल की जैली में ही मेरे शासन का इतिहास लिखने वाला कोई व्यक्ति मिल जाय। शाहजहाँ के शासन से सम्बन्धित अब्दुल हमीद के तिथि-वृत्त की ओर प्ररोध-निर्देश करते हुए सर एच० एम० इल्लियट ने दुरस्त सूचना दी कि "इस रचना के प्रति सर्वाधिक आलोचनात्मक बात यह है कि लेखक की जैली उस अवधिभित्र जहाँगीर की है जो भारत में स्पष्ट रूप में अब्दुल फजल और फौजी, दोनों काटवा से वंचित की थी। इसकी जैली उसके गुरु (अब्दुल फजल) के समान ही जाममहल, लालकिला और दिल्ली है।"

असम्भावित दुर्घटनाओं पर उसका बल देना अन्य सभी प्रकार के निष्पक्ष तथा संशयशील इतिहासकारों द्वारा ईश्वरीय सत्य के रूप में ही माना जाता रहा है।

"शाहजहाँ को ऐसे आदेश देने में कोई सकोच, लज्जा नहीं आती थी कि विश्वास-योग्य वर्णन लिखे जायँ"—यह इस तथ्य से स्पष्ट है कि जहाँगीर की मृत्यु के ३ वर्ष पश्चात् शाहजहाँ ने आज्ञा दी थी कि एक नकली जहाँगीरनामा लिखा जाय और सभी दरबारियों और कर्मचारियों को जबरदस्ती दिया जाय और उनको असली जहाँगीरनामा की मूल-प्रतियों राज्य को वापिस दे देने को कहा जाय।<sup>१</sup> ऐसा इसलिए किया गया था क्योंकि 'जहाँगीरनामा' के संस्करण में शाहजहाँ के सम्बन्ध में अत्यन्त निन्दा और निकृष्ट भाषा में उल्लेख हैं क्योंकि शाहजहाँ जहाँगीर के लिए न केवल समस्यात्मक शिशु तथा उद्विग्न पुत्र सिद्ध हुआ था, अपितु एक विद्रोही भी बन बैठा था जिसने अपने शासक-पिता के विरुद्ध बगावत का झण्डा खड़ा कर दिया था। इस तथ्य के होते हुए भी क्या यह बल देने की आवश्यकता अभी भी है कि शाहजहाँ के कहने पर मुल्ला अब्दुल हमीद द्वारा लिखा हुआ शाहजहाँ के शासन का लेखा प्रवचन के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

सुलतान फिरोजशाह तुगलक के शासन से सम्बन्ध रखने वाली, शम्से-शीराज-अलीफ़ द्वारा लिखित 'तारीख़ फिरोजशाही' रचना मध्यकालीन मुस्लिम तिथि-वृत्तों में इतिहास-लेखन के समस्त नियमों की उपेक्षा करने

१. जहाँगीर के शासन के तिथि-वृत्तों से सम्बन्ध रखने वाले, स्वर्गीय सर एच० एम० इल्लियट के मरणोपरान्त प्रकाशित पत्रों में 'मा-असीरी-जहाँगीरी' के लेखक कामगार खाँ का उद्धरण देते हुए कहा गया है कि अपने शासनकाल के तीसरे वर्ष में वह शाहजहाँ की प्रेरणा पर यह कार्य करने को उद्यत हो गया था (यह कार्य था कि जहाँगीर के निन्दा शब्दों ने शाहजहाँ की ओर कुछ हानि की थी—क्योंकि शाहजहाँ ने अपने शासक-पिता के विरुद्ध बगावत का झण्डा खड़ा कर दिया था—उसको समाप्त कर दिया जाय)।



११०

और मल्ल में नर्बन्दा असम्बद्ध होने के कारण अपने आप में अद्वितीय है।

लेखक हमें बताता है कि वह स्वयं १२ वर्ष का था जब सुलतान फ़िरोज़शाह सिखक हमें बताता है कि वह स्वयं १२ वर्ष का था जब सुलतान फ़िरोज़शाह ने दो अशोक (प्रस्तर) स्तम्भ लगवाए। लेखक का पितामह सुलतान फ़िरोज़शाह की आनु का ही था। अतः उसके अपने ही स्वर में लेखक का वृत्त सुस्पष्ट हो जाता है क्योंकि यह सुनी-सुनायी बातों पर आधारित है। लेखक कहता है कि, मेरे पिता ने मुझे बताया है "कि सुलतान फ़िरोज़ ने दलुना के एक और नतलुज नदी से दूसरी, ऐसी दो नहरें सिचाई के लिए खुदवायी थीं, उसने कई नगरों की स्थापना की थी, राजमहल बनवाए थे और बौनियाँ हरे-भरे उद्यानों की व्यवस्था की थी। ये गर्वोक्तियाँ उसी प्रकार की हैं जैसी हम अपने बच्चों को सुनाते समय परियों की कथा कहने में प्रसन्न होकर कहते हैं। यदि ये ध्याओक्तिपूर्ण कथन सत्य होते तो लेखक महोदय ने अपने पिता का नाम लेने की अपेक्षा श्रेष्ठ सूत्रों का उल्लेख किया होता। अफवाहें फैलाने वाले व्यक्ति सदैव किसी और की ओर इशारा कर दिशा करते हैं।

फिरोजशाह, जेरशाह अथवा अकबर जिन नहरों, सरायों, किलों, राज-महलों तथा नगरों के निर्माण का दावा करते हैं, वे तो उनसे शताब्दियों पूर्व किया मान्य है। निष्पक्ष तथा भविवेक अध्ययन से किसी भी निराग्रही तथा निष्पक्ष पाठक को यह विश्वास हो जाना चाहिये कि वह मूल कारण, जिनने अकब्र हींकर वे अन्वदेशीय आक्रमणकारी भारतीय-उपमहाद्वीप में आक्रमणों के और सङ्ग्रहों के आण, शोषण, उत्पीड़न और नरसंहार हीं हैं। 'तारिखे-फिरोजशाही' और 'फतुहते-फिरोजशाही' में इसके पर्याप्त प्रमाण हैं।

सत्यवादीय संस्थाओं की सत्य के प्रति पूर्ण अज्ञाता के एक उदाहरण के रूप में उनका ध्यान स्वयं 'पुनर्जाति-फिराङ्गनाही' के शीर्षक की ओर आकर्षित करता कहना है। 'पुनर्जाति' फिराङ्गनाही की विजयों का श्रोतक है।

१. जन्म-श्रीराज-वर्णित की निम्नी तारीखे-फ़िरोज़शाही से सम्बन्धित, मर १५०० ई. में प्रसिद्ध के मरणोपरान्त प्रकाशित लेख, जो प्रोफ़ेसर राज रावण द्वारा सम्पादित है।

किन्तु आश्चर्यकारी तथ्य यह है कि अपने शासनकाल की चारों बड़ी लड़ाइयों में उसे बुरी तरह पराजित होना पड़ा था—दो बार बंगाल में लखनौटी के विरुद्ध चढ़ाईयों में और दो बार बट्टा के विरुद्ध मुंह की खानी पड़ी थी। उस लेख में ऐसे बेहूदा वर्णन हैं कि किस प्रकार सुल्तान की "बिजयी सेनाएँ पीछे भागती रहें और 'पराजित' शत्रु उनकी जान लेने के लिए बराबर पीछा करता रहा।"

आइये, अब हम शम्से-शीराज-अफ़ीफ़ की तारीख़े-फ़िरोज़शाही का थोड़ा-सा और भी सूक्ष्म अध्ययन करें। उस तिथि-वृत्त में लेखक ने अनेक बार अपने ही विरोधी टिप्पण दिए हैं।<sup>1</sup> एक बार उसने कहा है कि फ़िरोज़-शाह के ४० वर्षीय शासनकाल में जनता ने पूर्ण शान्ति, समृद्धि और सुख का उपभोग किया, किन्तु बाद में लेखक ने असीम कष्टों की स्थिति का वर्णन किया है जबकि खाद्यान्न दो रुपए का एक सेंर भी नहीं मिलता था, और भूख से मरने वाले लोग अन्य किसी पुष्टिकारक खाद्य के अभाव में पुरानी खालों को उबालकर उनका पानी पीने के लिए बाध्य हो गये थे।<sup>2</sup>

सुलतान फिरोजशाह द्वारा मूल स्थान में उखड़वाकर लगवाए गए दो अशोक-स्तम्भों का वर्णन करते हुए लेखक हमें "विख्यात इतिहासज्ञों के प्रमाण-स्वरूप" बताता है कि वे (महाभारत के बलशाली) भीम की धूमने की छड़ियाँ थीं, और उनके द्वारा वह (भीम) पशुओं की रखवाली किया करता था।<sup>3</sup> तारीखे-फिरोजशाही, उसके लेखक और उसके विख्यात प्रमाणों की सर्वथा अविश्वसनीयता का यह एक अन्य प्रमाण है। अपनी जानकारी को वह एक बार पिता के नाम से प्रकट करता है और दूसरी बार अच्छे "इतिहासज्ञों" के आधार पर, किन्तु उन अशोक-स्तम्भों को भीम की छड़ियाँ कहने में अपनी मूर्खता का अनुभव नहीं करता।

उपर्युक्त लेखक उन उद्यानों, राजमहलों, नगरों और भवनों की एक सम्बन्धी सूची भी देता है जो मुलतान फ़िरोजशाह द्वारा प्रस्थापित किए गये

१. तारीखें क्रि.श. १५५० का पृष्ठ = ४ ।

२. " " के पन्ठ ६२ से ६७ ।

का पृष्ठ ६१ ।



वे, और फिर अकस्मात् ही रहस्योद्घाटन कर देता है। वह अपने दावे की निस्सारता को प्रत्यक्ष करने वाला यह टिप्पण अनायास ही दे देता है जिसमें कहा गया है कि सुल्तान ने उन स्तम्भों को अपने मरणोपरान्त स्मारकों के रूप में मृत स्थान से उखड़वाकर लगवाया।<sup>१</sup> बीसियों नगरों, उद्यानों, राजशासकों और दुर्गों की स्थापना करने का दावा करने वाले शासक को अपने स्मारक के लिए 'साफ़िरो' के स्तम्भों को उखड़वाकर लगवाने की आवश्यकता नहीं थी।

तारीखे-फ़िरोज़शाही का लेखक हमको तथा-कथित 'कुतुबमौनार' का भी सहज मूल प्रस्तुत करता है। वह कहता है कि सुल्तान फ़िरोज़ को अपने स्मारक के रूप में अशोक-स्तम्भों की इसलिए आवश्यकता पड़ी क्योंकि सुल्तान अल्तमश ने अपना स्मारक प्रस्तर-स्तम्भ का पहिले ही बना रखा था। यह कथन दो दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। पहली बात यह है कि तारीखे-फ़िरोज़शाही के लेखक ने, जिसको हमसे अधिक जानकारी होनी चाहिए, उन स्तम्भ का क्षेत्र कुतुबुद्दीन को नहीं दिया है। इस बार उस परम्परागत दावे का खण्डन किया है जिसके अनुसार कहा जाता है कि इस स्तम्भ को कुतुबुद्दीन ने बनवाया था। दूसरी बात यह है कि तारीखे-फ़िरोज़शाही का लेखक अग्रत्यक्ष रूप में यह स्वीकार करता है कि अल्तमश ने भी पूर्वकालीन राजपूतों स्तम्भों को अपने नाम में उसी प्रकार लिखवा लिया, जिस प्रकार सुल्तान फ़िरोज़ ने अपने स्मारक के रूप में अशोक-स्तम्भों को लिखा।

विभिन्न वर्गों के मध्यकालीन मुस्लिम तिथि-वृत्तों, शासकों के तिथि-वृत्तों और उनके लेखकों की उन ग्रन्थों को लिखने की प्रेरणाओं का स्थूल विवेचन भी इतिहास के विद्वानों की यह विश्वास दिलाने के लिए पर्याप्त होना चाहिए कि भारतीय इतिहास के ग्रन्थ इन अविश्वसनीय तिथि-वृत्तों पर आधारित होने के कारण सामग्री-विषयक तत्त्व की दृष्टि से घोर वृद्धियों से भर गये हैं। वे तिथि-वृत्त अन्य दृष्टियों से लिखे हुए होने के कारण, यदि कोई ऐतिहासिक सामग्री उनमें है भी, तो वह केवल संयोगवश ही है। वे तो

अवसरवादियों द्वारा स्वार्थ-साधन के लिए लिखे गये थे। इस प्रकार, स्वयं इनके लेखकों ने भी ग्रन्थों को गम्भीर विचारणीय-सामग्री की दृष्टि से नहीं लिखा था। उनका अर्थ तो केवल तत्कालीन प्रयोजन सिद्ध करना था—अर्थात् सत्ताधिकारी का मनोरंजन एवं उनकी कृपा का अंजन। अथवा जहाँ उन तिथि-वृत्तों को बादशाहों द्वारा लिखा गया था उनके निर्देशानुसार लिखवाया गया माना जाता है, वहाँ उनका प्रयोजन सही था कि प्रजा और कर्मचारियों को विवश किया जाय कि वे सरकारी प्रचार और उपोद्देश्यों की घोषणाओं में भयावह अनुभव और दैनंदिन अत्याचार के कष्टों व उनकी स्मृतियों को भुलाकर सरकारी मत को दुहराते रहें। इन जाली, झूठे तिथि-वृत्तों और स्मृति-ग्रन्थों पर आवांछित विश्वास रखने के कारण, यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि हमारी मध्यकालीन इतिहास-पुरतकें भी असंदिग्ध भयंकर भूलों से भरी पड़ी हैं।

मेरा मत यह नहीं है कि मध्यकालीन मुस्लिम तिथि-वृत्तों और शासकों के स्मृति-ग्रन्थों को एकबारगी तिरस्कृत ही कर दिया जाय। तत्कालीन लिखित सामग्री के रूप में वे, मध्यकालीन इतिहास की पुनर्रचना में अत्यधिक सहायक हो सकते हैं। यदि और कुछ न भी हो तो, जैसा कि ऊपर कहा ही जा चुका है, वे उलटे निष्कर्ष के लिए लाभदायक सिद्ध हो ही सकते हैं। अनेक बार जाली दस्तावेज भी अत्यन्त महत्वपूर्ण सुराग का पता दे देते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि वे सत्य-अभिलेखों से कौसों दूर हैं।

अतः, मैं आशा करता हूँ कि सत्य के पक्षपाती तथा मध्यकालीन भारतीय इतिहास के विद्वार्थी व विद्वान् महानुभाव इन मध्यकालीन मुस्लिम तिथि-वृत्तों और शासकों के स्मृति-ग्रन्थों का अत्यन्त सावधानीपूर्वक एवं अत्यन्त सूक्ष्म विवेचन करेंगे। उन ग्रन्थों में जिन-जिन स्थानों पर बल दिया गया है उनकी सूक्ष्म-परीक्षा तथा जाँच-पड़ताल करनी आवश्यक है। चाटुकारिता, आत्म-प्रशंसा और शेखीपूर्ण दावे वाले विवरणों को तब तक स्वीकार नहीं करना चाहिए जब तक कि उनकी पुष्टि अन्य स्वतन्त्र साक्ष्यों से न हो जाय।

यह भूलाना नहीं चाहिए कि वे सभी ग्रन्थ संदिग्ध, धिसे-पिटे दावे करते हैं कि भिन्न-भिन्न शासकों ने अपनी प्रजा पर अत्यन्त उदार सिद्धान्तों से



सम्यक् किया, कि वे जामक महान् अन्वेषक थे, और उन सभी ने नहरे मकबरा, और सराई, सड़कें, राजमहल तथा किले बनवाए।

यदि माध्यकालीन मुस्लिम तिथि-वृत्तों तथा शासकों के स्मृति-ग्रन्थों का उनमें पहिले से खोले गये अन्धविश्वास के स्थान पर यहाँ सुझायी गयी दृष्टि और सावधानी से अध्ययन किया जाय, तो मुझे निश्चित प्रतीत होता है कि भारतीय माध्यकालीन इतिहास को पुनः लिखना आवश्यक होगा।

भयंकर भूल : कमांक—४

## स्थापत्य का भारतीय-जिहादी सिद्धान्त भ्रम-मात्र है

भारतीय इतिहास परिशोध में प्रविष्ट एक अन्य भयंकर भूल तथा-कथित भारतीय जिहादी स्मारकों के अस्तित्व और उन्हीं पर आधारित तथा-कथित सिद्धान्त की रचना में अन्धविश्वास प्रकट करना है।

जैसा हम पहले ही देख चुके हैं, ताजमहल, हुमायूँ का मकबरा, अकबर का मकबरा और तथाकथित कुतुब-मीनार सहित सभी माध्यकालीन स्मारक मुस्लिम-पूर्वकाल के राजपूती भवन हैं। उनमें से कुछ में जो जिहादी तत्त्व है वह केवल 'अरबी' की खुदाई और कुछ अनावश्यक अन्तःक्षेप करने तक सीमित है। यह तो ऐसा है जैसे कोई किसी के भांडे-वर्तन चुरा ले और उस-पर अपना नाम लिखा ले। ऐसा कर लेने पर भी, वस्तु के हथिया लेने के माध्यम से प्राप्त स्वामित्व और उसके परिणामस्वरूप उस पात्र पर नाम की खुदाई-लिखाई होने पर भी उस व्यक्ति को उस पात्र के निर्माण का यश-श्रेय नहीं दिया जाता है। इसी प्रकार, माध्यकालीन स्मारकों को अपने अधीन कर उनमें कुछ परिवर्तन कर देने वालों को स्मारकों के निर्माताओं का श्रेय नहीं दिया जा सकता।

स्थापत्य के भारतीय-जिहादी सिद्धान्त का मूल इस अन्धविश्वास में है कि ताजमहल तथा अन्य स्मारक इस या उस मुस्लिम शासक के द्वारा बनवाए गये थे। चूंकि हम पहिले ही सिद्ध कर चुके हैं कि ताजमहल तथा अन्य मकबरे व मस्जिदें मुस्लिम-पूर्व युगों में भी राजपूत राजमहलों और मन्दिरों के रूप में विद्यमान थीं, अतः स्थापत्य के भारतीय-जिहादी सिद्धान्त का कोई आधार नहीं है।



यदि हम 'भारतीय-जिहादी स्थापत्य सिद्धान्त' का विश्लेषण करें, तो इसका अर्थ होता है 'भारतीय' शब्दों में 'अभारतीय अर्थात् जिहादी' लोगों द्वारा निर्मित स्मारक। इस प्रकार, इस सिद्धान्त की संज्ञा का अन्तर्निहित अर्थ स्वयं यह स्वीकार करता है कि स्मारक पूर्ण रूप में भारतीय, हिन्दू, नाबूत, अदिब जीमों में बने हैं। जब यह स्वीकार कर लिया जाता है, तब ऐसी सत्य की बात शेष इतनी रह जाती है कि ये स्मारक क्या वास्तव में जिहादी लोगों ने बनाए थे, अथवा उनका अस्तित्व इन लोगों के भारत पर आक्रमण करने से पूर्व भी था। और यह सिद्ध करने के लिए हम पहिले ही प्रश्न सजा में सत्य प्रस्तुत कर चुके हैं और अभी भी बहुत सारे अन्य प्रमाण उपलब्ध कर सकते हैं कि जिससे यह सिद्ध होता है कि इन स्मारकों में से प्रत्येक मूलतः पूर्व काल में ही विद्यमान था।

इस अप्रमाण सिद्धान्त ने न केवल भारतीय इतिहास-ग्रन्थों को दूषित किया है, अपितु इसके कीटाणु-स्थापत्य-सम्बन्धी पाठ्य-पुस्तकों में भी प्रविष्ट हो गये हैं। जहाँ इसके सम्बन्ध में झूठी भावुकता को पूर्ण रूप में दूर करना आवश्यक है। अतः पूर्व, वर्तमान तथा भावी वास्तुकला-विशेषज्ञ लोग कदाचित् अपने व्यवसाय की मूल-धारणा को धक्का देने तथा उसको छोड़ने में हताश अनुसर करें। हम उनको आश्वासन देना चाहते हैं कि यह कार्य इतना विज्ञान तथा हुस्वर नहीं है जितना दिखाई पड़ता है। करने की बात केवल इतनी सरल है कि जहाँ भी कहीं भारतीय मध्यकालीन स्थापत्य का सन्दर्भ हो, वहाँ सभी स्थापत्य-पाठ्य-पुस्तकों में 'जिहादी' शब्द को हटा दिया जाए। इस स्थापत्य का विशुद्ध भारतीय मध्यकालीन स्थापत्य समझकर अध्ययन किया जाए, सन्दर्भ दिया जाये और जो भी कुछ थोड़ी-बहुत जिहादी निशानियाँ हैं, वहाँ कच्ची-बूझाई तथा जहाँ-तहाँ कुछ-कुछ लगा देना, उसको बड़े माना जाए कि वह परिवर्तन तब किया गये थे जब नगरों पर चढ़ाई करने समय इन भवनों में कुछ परिवार इधर-उधर गिर गये थे, अथवा धार्मिक-संरक्षणता से किशु दिव्य गये थे।

अनेक अन्य सूक्ष्म विचार भी हैं जो भारतीय-जिहादी स्थापत्य-सिद्धान्त के बुलबुले में सूई बुलेंकर विप्लव करने में हमारी सहायता करते हैं—

(१) नैपुण्य, अभवकला तथा अन्य विदेशियों ने भारतीय नदियों

पर बड़े घाटों और भव्य, श्रेष्ठ और विशाल शिल्प-निर्माणों की देखकर आश्चर्य की भावना व्यक्त की थी। उस आश्चर्य में अन्तर्निहित थी उनके समान भवन-निर्माण की अयोग्यता की भावना।

(२) शिल्पकला में नैपुण्य के लिए पीढ़ियों से पुष्ट और सावधानी-पूर्वक पोषित, अभ्यास की गयी विशिष्ट उच्च-विकसित प्रतिभाएँ पूर्व-कल्पित होती हैं। पूर्व एशिया से आक्रमणकारी के रूप में आए राक्षस तो केवल अशिक्षित, असंस्कृत, जघन्य आततायी थे जो मात्र-युद्ध के अन्य किसी भी मानव-कला से रहित थे।

(३) उच्च शिल्प कलात्मक मेधा के लिए सहज-वृत्ति की एक विशिष्ट सुसंस्कृत-स्थिति, स्तर पूर्व-कल्पित है। अभूतपूर्व बर्बरता के क्रूर-कर्म करने वाले आक्रमणकारी अच्छे, कलात्मकता-सम्पन्न निर्माताओं के लिए मूल रूप में अनिवार्य आवश्यक तत्वों से अछूत थे।

(४) यदि आक्रमणकारी सचमुच ही महान् निर्माता थे, तो निर्माण करने के लिए उनके पास अपने ही विशाल रेतीले भूखण्ड पड़े थे। अन्य भू-प्रदेशों को अपने अधीन करने में अतिक्रमण तथा अत्यन्त घृणा-भाव उत्पन्न करने का जोखिम उन्होंने न उठाया होता।

(५) यदि आक्रमणकारी वास्तव में ही महान् भवन-निर्माता होते, तो उन्होंने भवन-निर्माण की हिन्दू-शैली का अनुकरण न किया होता।

(६) यदि वे स्वयंज्ञान से यथार्थ रूप में ही महान् भवन-निर्माता होते, तो जैसा कि भ्रम-वश समझा जाता है, उन्होंने स्थापत्य की भारतीय शैली पर केवल अपनी तत्कालीन मेहराबों और गुम्बदों को ही न थोपा होता। भारत में, गुम्बदों और मेहराबों की शैली पूर्ण रूप में भारतीय है। इनको भारत में विदेशियों द्वारा नहीं लाया गया। जो भी कोई अपनी गुम्बदों और मेहराबों को लाता, वह उनके नीचे की भवन-संरचना भी साथ-साथ लाता क्योंकि ये दोनों कलाकृतियाँ किसी नीचे की भवन-संरचना पर आधारित हैं। जिहादियों ने केवल गुम्बदों और मेहराबों को ही हवा में तो विकसित नहीं किया होता। यदि उन्होंने वास्तव में गुम्बदों और मेहराबों का अपना कोई विशिष्ट प्रकार विकसित किया होता, तो नीचे से ऊपर की ओर उनका अपना ही विशिष्ट भवन का प्रकार होता।



(०) दक्षिणी एशिया और भारतीय स्मारकों में मिलने वाली कोई भी समानता इस तथ्य के कारण है कि भारत में हिन्दू-भवनों के अनुरूप मकबरे और मस्जिदें बनाने के लिए भारतीय शिल्पियों को मौत के घाट उतार दिए जाने का भय दिखाकर तैमूरलंग तथा अन्य लोग भारी संख्या में उन लोगों को अपने मुल देन में मरे थे। तैमूरलंग ने यह बात आत्म-जीवनों में स्वीकार की है।

(=) बहुत ही अशुभविशेष रूप में कहा जाता है कि चूंकि अधिकांश कारीगर इन्धिया हिन्दू अथवा भारतीय थे, इसीलिए मुस्लिमों द्वारा आज्ञापित होने के सम्बन्ध भी ये स्मारक हिन्दुओं के अंगीभूत लक्षणों और विशेष-ज्ञानों से घरे पड़े हैं। यह केवल वाक्य है। भारत के ब्रिटिश शासकों ने भी हिन्दू और मुस्लिम श्रमिकों तथा कारीगरों द्वारा अपने गिरजाघरों का निर्माण करवाया है, किन्तु उन गिरजाघरों में हिन्दुओं अथवा मुस्लिमों के अंगीभूत लक्षणों का कोई-सा भी चिह्न शेष नहीं है।

(१) मध्यकाल के भारतीय-जिह्वादी सिद्धान्त के प्रचारकों ने कुछ कमविद्याजनक बातों को अपनी दृष्टि से ओझल कर दिया है। अपने इस सामक सिद्धान्त को न्यायोचित ठहराने के लिए वे यह भी कहते थे कि इन स्मारकों के निर्माण की आज्ञा देने वाले मुस्लिम आक्रमणकारियों ने केवल बली-बढ़ी बातें बता दी थी, और जैसा कि हिन्दू कारीगरों और श्रमिकों पर ही छोड़ दी थी कि वे चाहें तो अपनी इच्छा के आलंकारिक नमूने आदि बना दें। जो जगह से भूना दिया जाता है कि ऐसा करना असम्भव है। प्रथमतः वे धर्मोप मुसलमान इन विशेष आदेशानुसार निर्मित भवनों पर हिन्दुओं के किसी भी लक्षण के लिए अनुमति नहीं दे सकते थे, क्योंकि उन्हें पता तो हिन्दू-अंगीभूत-लक्षण, अलंकरण एवं चित्रण करना अभिशाप था। दूसरी बात यह है कि कोई भी कलाकार अथवा वास्तुकलाविद् किसी भी स्मारक की बली-बढ़ी बातें बताकर ही अनुष्ठ नहीं हो सकता। वह तो स्वयं की अन्तिम उत्तरदायित्व, विवरण देना ही। तीसरी बात यह है कि जब किसी स्मारक के निर्माण-कार्य में हजारों श्रमिक व कारीगर काम कर रहे हों, और कोई कुल-कार्य के लिए उनकी ही इच्छा पर शेष काम को छोड़ दिया जाये, तो मध्यकाल के मकबरे और मस्जिदें भ्रम होगा और कुछ नहीं, क्योंकि

हजारों कारीगर तो भिन्न-भिन्न पृष्ठभूमि कलात्मक-परिपक्वता एवं चित्त-वृत्ति के होंगे। इसके अतिरिक्त, वे कारीगर तो हिन्दू और मुसलमान, दोनों, का ही मिश्रण होगा। और यदि उनको अपनी ही इच्छानुसार नमूने की छोटी-मोटी पूति करने की छूट दे दी जाये, तो परिणाम केवल अव्यवस्था ही होगी, और कुछ नहीं।

वास्तुकलाविद् कारीगर को निर्माण योजना का अन्तिम विवरण तक देता है। किसी भी मनुष्य को अपनी इच्छानुसार नमूने और प्रचार में कुछ घटा-बढ़ी करने की अनुमति नहीं दी जाती। यह अव्यावहारिक है। यह भ्रान्ति उन पश्चिमी विद्वानों द्वारा प्रचारित है जो उन तथाकथित मुस्लिम-स्मारकों में पूर्णरूपेण हिन्दू-योजना एवं नमूने के अस्तित्व का स्पष्टीकरण देने में असफल रहे हैं।

(१०) यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि बाजे वाले तो पैसा देने वाले की इच्छा के अनुसार ही संगीत की धुनें बजाते हैं। इसका अर्थ यह है कि अलंकार पूर्ण संरचना के हिन्दू-प्रकार के आदेश किसी भी प्रकार मुस्लिमों द्वारा नहीं दिये जा सकते थे। यदि उन्होंने उन संरचनाओं के निर्माण-आदेश दिए होते, तो निश्चित है कि उन्होंने उन भवनों की शैली-पूर्ण-रूपेण अपनी (मुसलमानी) ही रखी होती।

(११) यदि मध्यकालीन भवन मुस्लिम कलाकृति रही होती, तो उनकी चूड़ियों और अन्य सजावटों के स्थान में उस प्रकार के तोड़-फाड़ के चिह्न न मिलते, जिस प्रकार तथाकथित कुतुबमीनार और उसके आस-पास चारों ओर की संरचनाओं में मिलते हैं।

(१२) तथ्य रूप में पूर्व एशिया स्थित मकबरे और मस्जिदें पूर्व-कालीन भारतीय मन्दिर और राजप्रासाद हैं क्योंकि वह तो पहिले ही सिद्ध किया जा चुका है कि भारतीय शासन कभी अरेबिया तक फैला हुआ था। गमरकन्द-स्थित तथाकथित तैमूरलंग के मकबरे में सूर-सादूल की शिल्पकारी प्रमाण है कि तैमूरलंग तत्कालीन भारतीय राजमहल में इकनाया हुआ है क्योंकि सूर-सादूल तो संस्कृत शब्दावली 'सूर्य-शार्दूल' है जिसका अर्थ सूर्य और सिंह है—जोकि तथ्य रूप में वह शिल्पकारी है ही।

(१३) यदि अन्य देशीय शासकों ने वास्तविक रूप में स्मारक ही



कसते होते, तो उन्होंने केवल मकबरे और मस्जिदें ही न बनाये होते। उनके सम्बन्ध में बहुत भी बनाये होते।

(१४) आक्रमणकारी तो नहीं शोषण और स्वामित्व करने आए थे, वसोला बहाने और परिश्रम करने के लिए तो नहीं।

(१५) अन्दरत आक्रामक तथा प्रतिरक्षात्मक आन्दोलनों, परस्पर विनाशकारी युद्धों और विप्लवों के कारण उत्पन्न घोर अशान्ति और अराजकता का समय ही उनका सम्पूर्ण राज्यकाल रहा है। अतः उन लोगों के पास विकास प्रवृत्ति बनाने के आदेश देने के लिए न तो समय ही था और न ही धन।

(१६) भारत के अन्य देशीय शासकों के पास विशाल भवनों के निर्माण के आदेश देने के लिए विपुल धन था ही नहीं। लूटने-खसोटने तथा लोभाने द्वारा संवर्द्धित समस्त धन अनुचरों, फरियाद करने वाले सरदारों तथा कोषाध्यक्षों द्वारा उनके आधिपत्य के अतिरिक्त व्यय प्रधान चढ़ाइयों की कुतर्कित करने से खोता पड़ता था। जैसाकि बिन्सेट स्मिथ और डॉ० आर्मांडो दी मास घोषान्त में कहा है, एक बार अकबर के कोषागार में केवल १० रुपये की अल्प-राशि भी नहीं रही थी।

(१७) मुस्लिम आक्रान्ता भिन्न-भिन्न राष्ट्रीयता वाले व्यक्ति थे; यथा अफगान, उज्बेक, तुर्क, दख्खन, कजाख, उज्बेक और अब्सीनीनियन। शाहजादे से लेकर पुतलों तक विभिन्न स्तरों के भी होने के कारण सभी लोगों के हृदय में विनाश नकारकों की—सभी मकबरों और मस्जिदों तथा सभी के सब आक्रमणकारी हिन्दू-शैली में—बना देने का आदेश देने के लिए कोई उत्साह तथा शक्ति नहीं ही सकता था। यही तथ्य, कि इस विविध-वर्ग द्वारा लिखे हुक्म सब से अधिक बालबूढ़ में निमित्त विचारित सभी भवन बनाने हैं, अविनाशक रूप से सिद्ध करता है कि वे सब परिवर्तित हिन्दू-भवन हैं।

(१८) यदि अपने भारत में ११०० वर्षों के राज्य में मुस्लिमों में हिन्दू आक्रमणकारी के द्वारा एक विशेष शक्ति उत्पन्न हुई होती, जैसाकि भ्रमवश माना जाता है, तो अवश्य तो यह हमका स्वभाव बन चुका होता और उन सभी आक्रमणकारी में जो हमको ऐसे कुसम्मान मिल जाते जो अपनी

मस्जिदों और अपने मकानों को हिन्दू-मन्दिरों और हिन्दू-घरों के नमूने पर ही बनवाते; किन्तु हमें जो दीख पड़ता है वह बिल्कुल भिन्न है। एक भी आधुनिक मस्जिद में धरातल से लेकर शीर्ष तक कोई भी हिन्दू-अंगीभूत लक्षण या चिह्न दिखाई नहीं पड़ता है। यह तो और भी प्रमाण है कि उन लोगों ने कभी हिन्दू-शैली अपनायी नहीं। अतः आज जो भी हिन्दू-शैली-युक्त मस्जिदें और मकबरे हैं, वे सभी तथ्य रूप में पूर्वकालिक हिन्दू-भवन हैं जो मुस्लिम उपयोग में बलात् ले लिए गये।

(१९) यह तर्क दिया जाता है कि मुस्लिम लोगों ने हिन्दू-भवनों को गिराया और फिर उन्हीं भवनों की सामग्री से अन्य (मुस्लिम) भवन बनवाये। स्थापत्य के भारतीय-जिहादी-सिद्धान्त के पोषकों के सम्मुख जो अव्याख्येय अनेक अयुक्तियाँ प्रस्तुत होती हैं, उनका समाधान करने का यह एक प्रयत्न मात्र है।

आइये, हम थोड़ी देर के लिए मान लें कि तथाकथित कुतुबमीनार एक हिन्दू-भवन है। यदि कोई मुस्लिम विजेता इसको गिराकर, इसी की सामग्री से अन्य भवन-निर्माण का इच्छुक हो, तो या तो वह इसके धरातल में ही इसके शिखर तक को विस्फोट से उड़ा देगा अथवा असमाप्य पंक्ति में कारीगरों को चोटी पर भेजेगा कि वे इसका एक-एक पत्थर उखाड़कर नीचे तक ले आएँ। फिर उसको इनकी क्रमसंख्या लिखनी पड़ेगी तथा इनकी क्रमानुसार पंक्तियाँ व्यवस्थित करनी पड़ेगी। यह दुष्कल्पनाशील मात्र है क्योंकि इसमें शक्ति, समय और धन का अतिव्यय समाविष्ट होगा। उखाड़े हुए पत्थरों में से अधिकांश तो उखाड़ने और धरने की इस प्रक्रिया में ही बिह्वल हो जाएँगे और फिर आम उपयोग के लिए अयोग्य हो जाएँगे। सम्पूर्ण संरचना को गिरा दिए जाने पर, नये प्रकार के भवन के लिए सारी नींव खोदनी पड़ेगी। चूँकि कुतुबमीनार एक गोलाकार संरचना है, इसलिए इसके पत्थर किसी भी वर्गाकार या आयताकार संरचना के अनुपयुक्त रहेंगे। इसका अर्थ यह है कि एक कुतुबमीनार को गिराकर उसके स्थान पर उसी सामग्री से केवल वैसा ही स्तम्भ बनाया जा सकता है। और ऐसा तो कोई निर्बुद्धि एवं महामूर्ख ही होगा जो एक विशाल स्तम्भ को गिराकर उसी के स्थान पर, केवल अपनी धृष्ट मानसिक शान्ति के लिए, एक-एक पत्थर







१। इस बात का स्मरण दिलाना आवश्यक हो जाता है कि उन्होंने यकायक अपना पवित्रा बदल दिया। प्रारम्भ में उनका कहना था कि स्थापत्य शैली इस्लामी है। किन्तु जब उनको जतलाया जाता है कि उन भवनों का निर्माण संस्कृत ग्रन्थों के आधार से हुआ है तो वह कहने लगते हैं कि कारीगर हिन्दू होने के कारण हिन्दू शैली के भवन बनना अनिवार्य था। ऐसे बदलू तक पद्धति को क्या कहा जाये !

(२३) ऊपर दिए गये तर्क-पद्धति में दूसरा एक दोष छिपा हुआ है जो इस्लामधारा की जानकारी में नहीं है। वह दोष इस प्रकार का है कि स्वयं इस्लामी इतिहासकार एक भी इमारत का श्रेय हिन्दू कारीगरी को नहीं देते। मुसलमानों के कहनानुसार सारे ऐतिहासिक भवनों के रचयिता हमीद, एकदी, मेहदिस, अमानतखान आदि मुसलमान थे। जब स्वयं मुसलमान इस बात को नहीं मानते कि कारीगर हिन्दू थे तो अन्य लोगों को अपने जो मन में यह तुक लगाना कि कारीगर हिन्दू होने से शैली हिन्दू बन गई, बुद्धिमानी की बात नहीं है।

(२४) हमारी एक महत्वपूर्ण बात यह है कि कारीगरी तो पैसे देने वाले धनी की मर्जी की होती है। मजदूरी करने वाले कारीगर की वहाँ कोई चुनवाई होती ही नहीं है और न ही कोई कारीगर अपनी मनमानी कर सकता है। धनी के आज्ञानुसार काम करेगा तभी मजदूरी, वेतन इत्यादि पाएगा।

(२५) और एक तर्क यह है कि कारीगर तो इमारतें बनाते-बनाते नगरी के आदेश के विविध भागों में जाते रहते हैं। तत्पश्चात् उनके बनाये भवनों में या मकान-मानिकों से उनको कोई सम्बन्ध नहीं रहता। अतएव किसी एक इमारत का डिजा कारीगरों ने अपने दुराग्रह के अनुसार बनाने में उन्हें नारा जीवन समाधान मिले ऐसी वास्तविकता नहीं है।

(२६) इमारत बनाने वाले कारीगर मकड़ों होते हैं। उनमें से प्रत्येक व्यक्ति यदि अपनी मनमानी से इमारत में जो चाहे परिवर्तन करता रहे तो क्या-क्या जानलक है, इसका निश्चय नहीं हो पाएगा और इस प्रकार कोई कारीगर अपनी राजी कमा नहीं सकेगा। अनन्य मध्ययुगीन कारीगर अपनी

मर्जी के अनुसार इमारत के आकार-प्रकार बनाया करते थे, यह धारणा निराधार है।

(२७) अंग्रेजों के फुट, इंच आदि अपने नाप हैं, हिन्दुओं के 'यव-अंगुल-हस्त' आदि नाप हैं। मुसलमानों के अपने कोई नाप किसी ने कभी मुने हैं ? जिसके अपने कोई नाप न हों वह इमारतें क्या बनाएगा ? मुसलमानों की जलसिंचन यानि फव्वारे बनाना, नहर निकलवाना, नदी किनारों पर घाट बनाने की कला अवगत नहीं थी क्योंकि उनके देशों में पानी का बड़ा अभाव है, बिछा बन्द हो गई थी, मारकाट, लूटपाट, खुशामद या कुरान-पठन यही प्रमुख व्यवसाय रह गये थे, शिल्पकला के उनके कोई ग्रन्थ नहीं थे और न कोई नाप है। ऐसी अवस्था में यह कहना कि उन्होंने नहर खुदवायी, बाग लगवाए, फव्वारे बनवाए और दरगाहें और मस्जिदें बनवाई, इतिहास की बड़ी भूल है। With the Lawrance of Arabia ग्रन्थ के अमरीकी लेखक लिखते हैं कि अरबस्थान के रेतीले, वीरान प्रदेश में अन्तर नापने की परिभाषा water hole में water hole है। यानी एक स्थान से दूसरा स्थान कितनी दूरी पर है यह जतलाते समय वह मार्ग में लगने वाली झीलों का उल्लेख कर कहते हैं कि फलाना स्थान तीन झील या चार झील दूरी पर है। इस्लाम ने मध्य एशिया के देशों के बाशिन्दों को इस तरह पिछड़ी अवस्था में पहुँचा दिया जबकि वे लोग इस्लामपूर्व समय में वैदिक धर्मी होने से बड़े उन्नत थे।

इन तथाकथित ऐतिहासिक, शिल्प-शास्त्रीय तथा पुरातत्त्वीय निपुण व्यक्तियों का मानव-वेधन यह विचार भी नहीं करता कि ये सामान्य अंगीभूत लक्षण तथा शैलियाँ अन्य तत्कालीन मुस्लिम भवनों में संसार में और कहीं भी नहीं मिलती।

इस विषय से सम्बद्ध कुछ पुस्तकों के उद्धरण, मैं आशा करता हूँ प्रत्येक पाठक के अन्तस्थल में भारतीय-जिहादी-सिद्धान्त के निराधार खोजलेपन को स्पष्ट प्रकट कर देंगे।

श्री एस० पद्मराज ने अपनी कृति "दि इण्टेलिजेंट टूरिस्ट्स गाइड टु दि ग्लोरी दैट इज बीजापुर" में पर्यवेक्षण किया है : "(अनेक तथाकथित मकबरों, मस्जिदों आदि तथा सुप्रसिद्ध दूरध्यावी बीधिका वाले नगर)



बीजापुर में किसी भी विदेशी प्रभाव का साक्ष्य नहीं है, अपितु मुस्लिम आराध्यकताओं के अनुरूप स्वयं को डालने वाली हिन्दू-परम्परा के अनेक प्रबल प्रमाण विद्यमान हैं। बीजापुर के भव्य भवनों में ऐसा एक भी विवरण नहीं है जिसको भारतीय जीवमान भवन-कला के सुवित्तयुक्त सम्दर्भ में स्पष्ट न किया जा सकता हो। मुस्लिम (?) बीजापुर को समझने के लिए पाठक को सबसे पहले हिन्दू-विजयनगर (जो मध्यकालीन हिन्दू साम्राज्य की दमिड राजधानी थी,) की ओर ध्यान देना होगा।

दुसरे पूर्व मन्त्री श्री दिवाकरजी को समर्पित "कर्नाटक-दर्शन" नामक पुस्तिका में दूरभावी बीधिका के सम्बन्ध में कहा गया है कि, "उत्तर की दिशा में एक अष्टकोणीय कक्ष है, जो कभी भी उपयोग में लाया गया प्रतीत नहीं होता।"

ताजमहल का वर्णन करते समय यह पर्यवेक्षण पहले ही किया जा चुका है कि अष्टकोण विशुद्ध हिन्दू-आकार है। इसमें भी बढ़कर बात यह है कि अज्ञेय का इस बात का सोचक है कि दूरभावी बीधिका का मुस्लिम मकबरे के रूप में उपयोग पञ्चात्-विचार का परिणाम था, जिसमें पूर्व-कालिक हिन्दू-भवन के प्रत्येक कक्ष का उपयोग किस प्रयोजन से किया जाये, उस परिवर्तनकर्ताओं के मस्तिष्क में समाया नहीं।

श्री वाकूब हसन विरचित "टैम्पल्स, चर्चस एण्ड मोस्क्स" के पृष्ठ-१६५ पर कहा गया है, "जिहादी नाम से पुकारी जाने वाली एक विशिष्ट जैनी का अतिविष्कार किया गया था..... एक देश की मुस्लिम स्थापत्यकला दूसरे देश की मुस्लिम स्थापत्यकला से भिन्न है।"

उपरोक्त वाक्यों में झूठे दावे, समालोचनात्मक-अध्ययन करने पर, स्पष्ट हो जाते हैं। यदि श्री वाकूब हसन दावा करते हैं कि एक नयी जिहादी जैसी विर्भाव की गई थी, तो उनकी ठस जैनी का वाङ्मय प्रस्तुत करना चाहिए। दूसरी बात यह है कि इस बात को स्वीकार करना ही, कि एक देश की मुस्लिम स्थापत्यकला दूसरे देश की मुस्लिम स्थापत्यकला से भिन्न है, इस बात का प्रबल प्रमाण है कि मुस्लिम आक्रमणकारियों ने मूल निवासियों के पुराकालिक भवनों को मस्जिदों और मकबरों के रूप में प्रयुक्त किया और उन भवनों की स्वयं बनाने का झूठा दावा प्रचारित किया।

"इण्डिया सोसायटी" के मुख-पत्र "आर्ट्स एण्ड लैरने" में प्रकाशित "अन्वर-दि मास्टर बिल्डर" शीर्षक लेख में एक विशिष्ट वाक्य प्रमाणित है। इसमें कहा गया है: "दिल्ली में सबसे बड़े मकबरे आकृति में गुताकार अथवा बहुभुजीय है, केन्द्रीय मकबरा-कक्ष तौरणावृत्त-पथ में परिवेष्टित है, यह जैसी आकृति है जिसके मूल अत्यन्त प्राचीन है।"

यह वाक्य भी स्पष्ट करता है कि किस प्रकार पुरातत्त्व और इतिहास के सभी विद्यार्थी, भूल में, प्राचीन हिन्दू-भवनों को मौलिक मुस्लिम कला-कृतियों केवल इसलिए समझते रहे हैं कि उनमें कुछ मुस्लिम कब्रें बना दी गई हैं।

भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट के १९६२ के वर्ष के "विष्णु-ध्वज"..... "रिव्यू" शीर्षक लेख में, भाग-४१, पृष्ठ १३६-१४८ पर लेखकों का कहना है, "काशी, संस्कृत विश्वविद्यालय के अनुसन्धान निदेशक प्रोफेसर के० चट्टोपाध्याय मुझे सूचित करते हैं कि महमूद गजनी दिल्ली-मनार (तथाकथित कुतुबमीनार) के नमूने अपने साथ गजनी ले गया था ताकि वहाँ भी उसी प्रकार की रचना की जा सके। यह मथुरा से हिन्दू-कारीगरों को अपने साथ गजनी में मस्जिदों और महलों को बनाने के लिए ले गया था, और हिन्दू शिल्पशास्त्रियों ने कुतुबमीनार जैसे विरले मनार गजनी में बनाए थे।"

भारतीय इतिहास परिपद् के सन् १९५५ के कलकत्ता अधिवेशन में पढ़े गये अपने शोध-पत्र में सुप्रसिद्ध इतिहासकार श्री व्ही० एस० वेन्ट्रे ने पर्यवेक्षण किया था कि, 'आकाश भैरव कल्प' नामक संस्कृत ग्रन्थ में सविस्तार आयाम (नम्बाई, चौड़ाई व मोटाई आदि) और दुर्ग की विभिन्न प्रकारों की विशेषताओं तथा सामर्थ्य का वर्णन दिया हुआ है। प्राचीरों, स्तम्भों और द्वारों के आयामों का विस्तार परिभाषा-सहित दिया हुआ है; विशेषता यह है कि वे सभी परिमाण आज भी बचे-खुचे ध्वंसावशेषों से सत्य प्रमाणित होते हैं (बम्बई के रुपारेल कॉलेज पब्लिकेशन में प्रकाशित "अर्जेंट नीड फॉर दि स्टडी आफ लिटरेचर ऑन साइन्स एण्ड टेक्नोलॉजी आफ ओल्डन टाइम्स" शीर्षक शोध-प्रबन्ध देखिए)।

इसी प्रकार शोलापुर दुर्ग भी प्राचीन हिन्दू दुर्ग-व्यवस्था के विज्ञान का



परिपूर्ण उदाहरण है, और फिर भी प्रचलित पाठ्य-पुस्तकों झूठा दावा करना ही जाती है कि सन् १४७८ में बीजापुर के मुस्लिम शासक यूसुफ आदिल शाह ने शोलापुर-दुर्ग का निर्माण किया था। इस दावे का बोधोपन कई सूत्रों काह ने शोलापुर-दुर्ग का निर्माण किया था। इस दावे का बोधोपन कई सूत्रों से सिद्ध किया जा सकता है। पहली बात यह है कि इतना विराट् दुर्ग एक जगह में बन ही नहीं सकता। दूसरी बात यह है कि यूसुफ आदिलशाह से पूर्व ही, प्राचीन नगरी शोलापुर में स्मरणातीत युगों से किला था। तीसरी बात यह है कि इस दुर्ग के अन्दर अनेक मन्दिर हैं। एक ही प्रकार के दो मन्दिरों में से एक को मस्जिद में परिवर्तित कर दिया गया है। दूसरा एक और भी शिवमन्दिर है, जो मुस्लिम विजेताओं की मूर्ति-ध्वंसक क्रोधाग्नि से अनन्ना, बुरी तरह अतिशस्त खड़ा है।

प्राचीन भारत की इंजीनियरी-प्रतिभा की परमोत्कृष्टता विश्वप्रसिद्ध सिचार्ड-विजेयन सर विलियम विलकाक्स द्वारा निम्नलिखित शब्दों में प्रमाणित की गई है : "आपके देश की विलक्षण-प्रतिभा का अनुसरण करते हुए ही आपके प्राचीन लेखक भौतिक तथ्यों का ही विवरण प्रस्तुत किया करते थे जब वे पुराणों में आध्यात्मिक भाषा का प्रयोग करते थे, तथापि तथ्य तो सभी समय वे ही रहते थे। दक्षिण दिशा में प्रवाहित होने वाली प्रत्येक नहर, चाहे यह भागीरथी के समान महानदी बन गई हो, अथवा 'मतमंगा' के समान चाहे नहर ही रह गई हो, मूलरूप में एक नहर ही थी। उनकी पंक्तियाँ बनायी गई थी और वे पर्याप्त गहरी समानान्तर खोदी गई थीं। उनको पृथक्-पृथक् रखा गया था, और उतने ही अन्तर पर रखा गया था जितने अन्तर पर नहरों को बनाना चाहिए था। मुझे भली-भाँति स्मरण है कि जब देश में सिचार्ड के लिए नहरों की प्रणाली में प्रारम्भ करने लगा, तब मुझे यह बात उपलब्ध कर इतना आश्चर्य हुआ था कि मानचित्र पर दिखाई गई प्रत्येक तथाकथित 'गुप्त नदी' उसी स्थान पर थी जहाँ पर एक नहर सामान्य में होनी चाहिए थी।"

इसके इतिहासकारों की आँखें इस तथ्य की ओर खुल जानी चाहिये कि तारीखें छोड़कर भी वे मुस्लिम-तियाज्जुतों में किये गये ये दावे झूठे हैं कि विदेशी मुस्लिम शासकों ने इस भारत देश में नहरें खुदवायीं। जिन नहरों की ओर वे संकेत करते हैं, उनका निर्माण तो भारतीय शासकों द्वारा

मुस्लिम आक्रमणों के पूर्व ही हुआ था। सम्पूर्ण भारत भूमि को अपने पैरों तले रौंदने वाले बर्बर राक्षसों के रूप में तो उनमें साधारण प्रारम्भिक शिक्षा का लेशमात्र भी नहीं था, उच्चस्तरीय विकसित-प्रतिभा तथा तकनीकी जानकारी का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

नगर-योजना के विषय में भारतीय नैपुण्य के सम्बन्ध में अपनी "टाउन प्लानिंग इन ऐन्शैण्ट इक्वकन" शीर्षक पुस्तक में श्री व्ही० आर० आटयर ने कन्जीवरम् के सम्बन्ध में प्रसिद्ध नगर-योजनाकार श्री गेड्डीज का उद्धरण दिया है कि, "यह नगर महान् मन्दिरों से सम्पन्न तथा समृद्ध, एवं असंख्य छोटे-छोटे सुन्दर मन्दिरों से परिपूर्ण मात्र नहीं है; मैं तो आनन्दविभोर इस तथ्य की उपलब्धि से होता हूँ कि यहाँ पर असामान्य रूप में सुव्यवस्थित एवं विशद नगर-योजना की अनुभूति है, और यह भी अत्यन्त भव्य-प्रकार में, जिसमें वैयक्तिक तथा कलात्मक स्वतन्त्रता साथ-साथ है। ऐसा कोई अन्य नगर आज सम्पूर्ण विश्व में विद्यमान है, मैं नाम स्मरण नहीं कर सकता।"

यदि इसी प्रकार, इतिहासकार और पुरातत्त्व-विशारद पुरानी दिल्ली का अध्ययन करेंगे, तो उन्हें ज्ञात होगा कि इसमें नगर-योजना की सामान्य प्राचीन भारतीय पद्धति है। एक प्रमुख धुरीयमार्ग, उसपर आवासीय वीथियाँ एक सुरक्षात्मक-कोष बनाती हैं जो परिधीय-प्राचीर से संरक्षित होता है। पुरानी दिल्ली में, चाँदनी चौक धुरीय मार्ग है जिसके एक छोर पर राजा का प्रासाद (लालकिला) और दूसरी ओर उनके कुल-देवता का मन्दिर था—जो नगर का संरक्षक-अधिष्ठाता देवता भी था ('अब फतहपुरी मस्जिद में परिवर्तित हो चुका है), जिसके चारों ओर मुगल बादशाह शाहजहाँ से शताब्दियों-पूर्व ही पुरानी दिल्ली का निर्माण हुआ था।

यह धारणा, कि शाहजहाँ ही पुरानी दिल्ली की स्थापना करने वाला व्यक्ति था, आधारहीन है। यही बात सभी प्राचीन प्राचीरयुक्त नगरों के सम्बन्ध में सही उतरती है जो आज भी विद्यमान हैं, तथा उन हजारों के बारे में भी ठीक है जो मुस्लिम आक्रमणकारियों के विरुद्ध भारत के दुर्धन-संघर्ष में नष्ट-भ्रष्ट तथा अग्नि-समर्पित कर दिये गये।

ऊपर बताए गये विचार स्थापत्य के तथाकथित भारतीय-जिहादी-सिद्धान्त की असुक्ति तथा भ्रामकता को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त होने चाहिये। भारत में किसी भी प्रकार की कोई भी मध्यकालीन जिहादी स्थापत्य-कला उपलब्ध नहीं है।



भयंकर भूल : क्रमांक—५

## मुगल-चित्रकला की भ्रान्ति

यह मान्यता निराधार है कि चित्रकला की मुगल-शैली जैसी कोई विशिष्ट कल्पनात्मक है। आज मुगल चित्रकला के नाम से पुकारी जाने वाली यह चित्रकला गैरी युगों-प्राचीन राजपूती चित्रकला-शैली ही है, जो निरंतर चली आ रही है। मुगल-दरबारों सहित, भारत में विदेशी सभी मध्यकालीन शासकों के दरबार लौड़ेबाजी, मछपानोत्सवों, कामवासनामय रंगरेलियों, नर्तनकला, बहूपत्नी और प्रति-बहूपत्नी, हत्याओं, नरमेधों, विनाशक तथा ध्वंसकारी प्रचंडता से आकण्ठ पूरित रहते थे। ऐसे घृणित वातावरण में तो यहाँ कला के विद्यार्थी को भी अपना ध्यान केन्द्रित करना असंभव होता। यह मानना कि ऐसे वातावरण में रेखांकन व चित्रांकन जैसी बहुमुखी एवं लौकिक कलाएँ किसी विशेष प्रोत्साहन एवं संरक्षण में फली-फूलीं, अनभीष्ट निष्कर्ष होगा क्योंकि उनके अध्ययन एवं संवर्धनादि के लिए शान्ति, समृद्धि, विज्ञा, मानसिक-एकाग्रचित्तता एवं तल्लीनता की आवश्यकता होती है, जिन वस्तुओं का मुगलदरबारों में सर्वथा अभाव था।

भारत में मुस्लिम-शासन का दैनंदिन जीवन घृणा, अत्याचार और नर-पत्नी से आप्लावित था। ऐसे वातावरण में ललित कलाएँ कभी उन्नत नहीं हो सकतीं। कुछ दूने-गिने कलाकार जो चित्रण तथा शिल्पकला का अभ्यास कर किसी प्रकार अपना जीवनसाधन भर कर पाते थे, वे तो प्राचीन-कला की ही आरंभ बिन्दुएँ हैं, जिनके लिए "मुगल-कला" संज्ञा देना भयंकर भूल है।

अपनी जीवित प्राणी का चित्र बनाने पर कुरान ने कड़ा प्रतिबन्ध लगा दिया है। मनाएँ जैसे-जैसे लोग बलात् मुसलमान बनाए जाते रहे उन्हें

अपनी पारम्परिक चित्रकारी छोड़ देनी पड़ती थी। तथापि कुछ चन्द व्यक्ति ऐसे होते थे जिन्हें जीवन का कोई अन्य सहारा न होने के कारण मुसलमान बनाए जाने पर भी वे सुल्तान, बादशाह या दरबारियों के आश्रित बनकर चित्रकला से ही अपना पेट पाजते। उनकी चित्रकारी ठेठ हिंदू, राजपूत प्रथा की होने के कारण ही मध्ययुगीन चित्रकला की शैली सर्वत्र एक ही समान ढंग की है चाहे उसे कांगड़े की कहें, राजपूती कहें या मुगली कहें।

अरबस्थान, ईरान, तुर्कस्थान आदि देशों में इस्लाम-पूर्व समय में सर्वत्र हिंदू, वैदिक, आर्य, मनातन धर्म ही प्रस्थापित था। रामायण, महाभारत आदि हिंदू धर्मग्रन्थों में प्रसंगानुसार चित्रकारी होती है। ठेठ उसी प्रथा के अनुसार अरबस्थान, ईरान, तुर्कस्थान आदि देशों में लोगों को छल-बल से मुसलमान बनाए जाने पर भी सैकड़ों वर्ष तक हिंदू प्रथाएँ चलती रहीं। कुछ आज भी प्रचलित हैं; जैसे रुद्रार्क्षों की जापमाला लेकर (अल्लाह) ईश्वर का नामोन्च्चार करने बैठना। उस प्रारम्भिक समय के कुरानों के पृष्ठों के चारों ओर हाथी या बेलबूटे की चित्रकारी कर दी जाती। कई पृष्ठों पर तो स्वयं मोहम्मद पैगम्बर का चित्र भी बना है किंतु उनका चेहरा सफेद रंग से मिटा दिया गया है। Emil Esin द्वारा लिखे गये Mecca the Sacred and Madina the Radiant नाम के ग्रन्थ कुरानों के उस चित्रकारी के नमूने प्रकाशित किये गये हैं।

इससे यह पता लगता है कि चित्रकारी और अन्य कलाएँ वहीं वर्धित होती हैं जहाँ वैदिक धर्म होता है। मूर्तिकारी का तिरस्कार और निरपराध प्रजाजनों की मारकाट करने वाले ईसाई और इस्लामी प्रथा में चित्रकारी, संगीत या नृत्यकला का बिकास असंभव होता है। अतः अरबस्थान, ईरान, तुर्कस्थान, अफगानिस्तान आदि देशों में जितना-जितना इस्लाम फैलता गया और इस्लामी धर्माधिता बढ़ती गई उसी मात्रा में वहाँ का कलात्मक जीवन समाप्त होता गया। इससे यह हिसाब लगाया जा सकता है कि जहाँ जितना कट्टर इस्लाम फैला हो, वहाँ-वहाँ से उसी मात्रा में सब प्रकार के कला का अन्त होता जाता है। इसपर यदि कोई ऐसा आक्षेप उठाए कि मुसलमान सुल्तान बादशाहों के और दरबारियों के बाड़ों में नाच-गाना तो बच चलता है तो उन्हें यह समझना चाहिए कि अधिकार और कूरता के भय



से डोल के ताल में और शरु के तसे में चूर होकर बेध्याएँ नचवाना कला मोटे-ही होती है ? आम इस्लामी जनता में कला-जीवन समाप्त किये जाने का प्रमाण सारा जीवन पर्दे में बाँधकर बन्द कर दिए गये उनके नारीसमाज की दुर्दशा से जाना जा सकता है। नारी ईश्वर की एक कला प्रतिमा है। उसे बन्द रखने वाला समाज कला का शत्रु होता है।

भयंकर भूल : क्रमांक—६

## मध्यकालीन मुस्लिम-दरबारों में संगीतोन्नति की भ्रान्ति

चित्रकला के सम्बन्ध में जो बात सत्य है, वही संगीत कला के लिए भी सत्य है। एक मात्र महान् संगीतज्ञ जो किसी भी मध्यकालीन विदेशी शासक के दरबार से सम्बन्धित था वह केवल तानसेन है। किन्तु उसकी उपलब्धियों के लिए अकबर किसी भी प्रकार यश का भागीदार नहीं है। अपने तत्कालीन राजपूत संरक्षक द्वारा विवशकर्ता परिस्थितियों में बाध्य होकर अकबर के सम्मुख सौंप दिये जाने से पूर्व ही तानसेन एक सुप्रसिद्ध एवं निष्णात संगीतज्ञ बन चुका था। जैसाकि पहिले ही पर्यवेक्षण किया जा चुका है, मध्यकालीन मुगल-शासकों के दरबार सभी बुराईयों के वातावरण से अत्यन्त दुर्गन्धमय हो रहे थे जिनमें कोई भी श्रेष्ठ कला उन्नत नहीं हो सकती थी। ललित कलाओं की समृद्धि होना तो दूर, वे तो निकृष्टतम स्तर तक गिरकर अधोगति को प्राप्त हुईं। रामायण, महाभारत तथा परवर्ती क्षत्रिय-शासकों के वर्णनों से हमें भली-भाँति ज्ञात है कि नृत्य, चित्र, संगीत, काव्य तथा शिल्प-कलाएँ शालीनता एवं कुशल-प्रतिभा की द्योतक समझी जाती थीं, जिनसे महान् योद्धा एवं विद्वान् भी सुशोभित-होते थे। किन्तु आज इस अपने युग में भी हम देखते हैं कि माता-पिता को अपनी पुत्रियाँ संगीत और चित्रकला की कलाओं में भेजने में संकोच होता है। अपने उच्च, पवित्र सिंहासन से इन ललित कलाओं का आज के घृणा और सन्देह के अधोस्तर पर आ जाने का यह महान् परिवर्तन, पतन तथा सिंहासन-भ्रंश भारत में मध्यकालीन मुस्लिम शासन के समय इन कलाओं का दुष्प्रयोजन, मद्यपानोत्सवों में उनका



दुष्प्रयोग तथा साहचर्य होने और कामवासनामय रंगरेलियों में शृङ्गारप्रिय मोलों में उनका समावेश हो जाने से ही हुआ।

वर्तमान समय में प्रसिद्ध गायकों में अनेकानेक मुसलमान नाम लोगों को प्राप्त है। इनसे वे अनुमान लगाते हैं कि संगीत का निर्माण और प्रसार इस्लाम धर्म के कारण हुआ। इसीसे आम जनता की एक और ऐसी निरा-कार कल्पना भी बन जाती है कि इस्लामी आक्रमकों ने भारत में एक सहस्र वर्ष तक बसे कितनी ही कल्ले या अत्याचार, व्यभिचार आदि किये हों, फिर भी उन्होंने जो संगीत, नृत्य, चित्रकारी आदि कलाओं के निर्माण में योगदान दिया वह बेजोड़ है। इसी कारण हिन्दुओं को इस्लाम का आभारी होना अनिवार्य है। स्वतन्त्र भारत के कांग्रेसी शासन में ऊपर वर्णित ऐतिहासिक सूत्र को ही बार-बार दोहराए जाने के कारण आम जनता को वह कथन सही और सत्य लगता है।

वर्तमान में गायन-वादन के लिए प्रसिद्ध ऐसे जो भी इस्लामी नाम सुनाई देते हैं वे सारे हिन्दुओं की सन्तान हैं। एक सहस्र वर्ष तक इस्लामी शासनकाल में गायन-वादन कला को इस्लामी दरबार में प्रस्तुत करने पर वह संगीतकार बाध्य किये जाते थे। दारु, बेथ्याएँ आदि से भरे इस्लामी दरबारी बानावरण में दिन-रात बिताते-बिताते ये हिन्दू कलाकार इस्लाम की लपेट में आकर छल, बल और कपट से मोहम्मदी बना दिये जाते थे।

तानसेन का ही उदाहरण लें। सूर्योदयपूर्व स्नान-संध्या, सूर्यनमस्कार, कौटुम्बिक, भक्त-पूजन आदि हिन्दू जीवन परम्परा में पला प्रसिद्ध गायक तानसेन गैला नगर में राजा रामचन्द्र का दरबारी गायक था।

राजा रामचन्द्र की नियामत पर भीषण आक्रमण के कारण अकबर ने सन्धि करने पर जब राजा रामचन्द्र विवश हो गये तो सन्धि की शर्तों में अकबर ने तानसेन को भी माग लिया। राजा रामचन्द्र के चरण पकड़कर तानसेन रो रहे कि, "महाराज, मैं आपको छोड़कर नहीं जाना चाहता। दुर्लभनी मृगय दरबार में मेरी दायनीय अवस्था हो जायेगी।" राजा रामचन्द्र बल कर सकते हैं वे स्वयं अकबर की शरण हो गये थे। जब तानसेन ने राजा रामचन्द्र के दरबार में जाने से साफ इन्कार किया तो अकबर ने

एक इस्लामी सेनानी के नेतृत्व में मुगली सेना की एक टुकड़ी भेजकर रीवा से तानसेन को बन्दी बनाकर ले जाया गया।

उसी दिन से धीरे-धीरे तानसेन का पवित्र हिन्दू जीवन समाप्त होने लगा। दरबार में गाने समय तान लेने के लिए जब तानसेन का मुख खुलता तो कोई शराबी, शराबी इस्लामी दरबारी "वा मियाँ...वाह मियाँ" कहते हुए अपने मुँह में आधा चबाया पान तानसेन के मुँह में ठूस देते। वेचारा तानसेन क्या करता? वाह मियाँ, वाह मियाँ कहलाते-कहलाते तानसेन 'मियाँ तानसेन' कहलाने लगे। वह इस्लामी दरबार की प्रथा थी। किन्तु तानसेन कभी मुसलमान नहीं बने। अन्त तक वह हिन्दू ही रहे। क्या मुसलमान को श्रृक लिखवाए जाने पर या बलात् गोमांस खिलाए जाने पर भी हिन्दू व्यक्ति हिन्दू रह सकता है? क्या वह मुसलमान नहीं बन जाता? उसपर बीर विनायक दामोदर सावरकरजी का प्रसिद्ध उत्तर मननीय है कि, 'मेरा हिन्दुत्व क्या इतना निबल-दुबल है कि जो एक इस्लामी धक्के से गिर जाये! मैं दस मुसलमानों को चबा जाऊँ तो भी मैं सशक्त हिन्दू रहूँगा। तानसेन का भी वही दृढ़ विश्वास रहा, अतः इस्लामी दरबार के ताने-बाने में जीवन का उत्तरार्द्ध बिताने पर भी तानसेन पूर्णतया हिन्दू रहे। उनकी मृत्यु लाहौर में हुई थी और उनका अग्निसंस्कार वहीं हुआ। ग्वालियर में जो उनकी कब्र बताई जाती है, वह नकली है।

इन सब बातों को न जानते हुए बम्बई के कुछ संगीत प्रेमी व्यक्तियों ने तानसेन की स्मृति में अच्छे गायकी के लिए जो पुरस्कार रक्खा है उसे 'मियाँ तानसेन' पुरस्कार नाम दे डाला। इतिहास के अज्ञान के कारण लोग मृत व्यक्ति पर भी कितना अन्याय करते हैं, इसका यह एक अनोखा उदाहरण है। जिस तानसेन को मुगल दरबार भी मुसलमान न बना सका, उसकी नकली कब्र के सम्मुख प्रतिवर्ष एक संगीत सम्मेलन आयोजित करने वाले और 'मियाँ' कहकर तानसेन का उल्लेख करने वाले आजकल के संगीतप्रेमी जन इतिहास के अज्ञान के कारण पवित्र संगीत कला का बड़ा अपमान कर रहे हैं।

संगीत और इस्लाम का कोई पवित्र रिश्ता है ही नहीं। भारत में कई दरगाहों पर तबला और बाजे के साथ जो गजलों और कव्वालियाँ गाई जाती हैं वह इसलिए कि वे स्थल सागे मन्दिर थे और गाने वाले लोग कुछ पीढ़ियों



196  
 है पूर्व हिन्दू थे। कब्जाली के कहाने उसी मन्दिर में भूतपूर्व हिन्दुओं की  
 बाल-गायन की परम्परा अलग-थलग चलती आ रही है। कब्जाली शब्द भी  
 'कब्जाली' ऐसा संस्कृत है। अरबस्थान आदि इस्लामी देशों के लोग भारत  
 के मुसलमानों को कब के सम्मुख किए गायकों को धर्म-विपरीत मानते हैं।  
 कि मुसलमानों को कब के सम्मुख किए गायकों को धर्म-विपरीत मानते हैं।  
 कि मुसलमानों को कब के सम्मुख किए गायकों को धर्म-विपरीत मानते हैं।

कि मुसलमानों की कद के सम्मुख निराला  
कुछ व्यक्तियों ने ऐसी एक अफवाह फैला रखी है कि मृदंग हिन्दुओं का  
बाद्य रहा है किन्तु जगौर दूसरो ने मृदंग को बीच से काटकर तबला और  
डग्गा ऐसे उर्वने दो भाग किया। यह एक निराधार इस्लामी प्रचार है, जिसे  
ज्ञानवान् अन्य लोग भी मत्त्व समझे बैठे हैं। तबला-डग्गा उत्तरे ही पुराने  
हिन्दू बाद्य है जितना मृदंग। मृदंग के ही यदि वे दो भाग होते तो तबला  
चिट्टी मा लकड़ी का ओर डग्गा धातु का ऐसी उनकी बनावट भिन्न नहीं  
होगी। कुशामदी इस्लामी इतिहासकारो ने सुल्तान-बादशाह और मुसल-  
मान दरबारियो के सामने ऐसे अनेकानेक गोध जान-वृक्ष कर गड़ दिए हैं। बाघों  
जान रागी के नाम गारे संस्कृत है। संगीतशास्त्र का उद्गम सामवेद से  
है। योनि भी अधिकतर कृष्णतीता से सम्बन्धित है। और मुसलमानों नाम  
उपलब्ध करने वाले भार्य व्यक्ति हिन्दू वंश की सन्तान हैं। ऐसी अवस्था में  
नर्गीत क्या को इस्लाम को देन समझना बड़ी भूल है। इस्लाम ने संगीत  
को बड़ा अधनत किया है। हिन्दू परम्परा में संगीत, नृत्य और गायन का  
सम्बन्ध साहित्यिक और पवित्र देशभक्ति से था। इस्लामी शासनकाल में हिन्दू,  
बौद्ध संगीत अपने स्वर्गीय स्तर से घसीटा गया और उसे चोर, दुर्व्यसनी  
आनाकरण ने बेइया और शहर से संगीत का दामन बाँधा गया। इसीको  
काँठ मुसलमानों का संगीत मे योगदान कहना हो तो वह अवश्य ही दुर्गति  
और अधभक्त करवाने का योगदान है।

इस दृष्टिकोण को हम धारणा का, कि मध्यकालीन मुगल शासन के  
सन्दर्भ में नस्लिय दबावों को किसी प्रकार का प्रोत्साहन मिला, न केवल परि-  
ष्कार देना चाहिए, अपितु इस धारणा को प्रत्यावर्तित करना चाहिए  
आज कहना चाहिए कि सन्नति के स्थान पर, य कलाएँ उस अवधि में पूर्ण  
आरम्भ के रूप में पर प्रभावित हो चुकी थी ।

कहा वह भी उन्मुख योग्य है कि मितार जैसे तार-युक्त एवं अन्य  
जलीनोत्पन्न का उपयोग कर के भवन निर्माण का प्रयोग करना उसी प्रकार

प्रचार का एक अंश मात्र है जिसमें गत १००० वर्षों के मध्य किए गये सभी अत्याचारों और यातनाओं की वास्तविकता को काल्पनिक यज्ञ-अणस्तियों और उपलब्धियों के माध्यम से दृष्टि-भ्रोजन करने का यत्न किया गया है। उदाहरण के लिए, सितार, संज्ञा संस्कृत शब्द "सत्त-तार" से व्युत्पन्न है जिसका अर्थ सात तारों वाला यन्त्र है। इस प्रकार, यह एक अति प्राचीन यन्त्र है।

भारतीय संगीत इतना अधिक प्राचीनकालीन है कि हम इसका रचना-काल खोज पाने में असमर्थ हैं। युगों पूर्व से ही, हम इसको विकसित कला के रूप में ही पाते हैं। यह कहना अयुक्ति-युक्त है कि इस प्रकार अत्युन्नत कला को मध्यकालीन मुस्लिम दरबारों के निकृष्ट वातावरण से किसी प्रकार का विशेष प्रोत्साहन मिला था।



## मुगल उद्यान-कला भ्रान्ति

विभिन्न-विधन राष्ट्रपति-भवन में उद्यान को 'मुगल-उद्यान' संज्ञा देना अवृद्ध है। हम यहिने ही पर्यवेक्षण कर चुके हैं कि भारत में सभी मध्य-कालीन म्याङ्क, चाहे वे मकबरे हों अथवा मस्जिदें, पूर्वकालीन राजपूती महल और मन्दिर हैं। अतः उनके चहुँ ओर बने रेखागणितीय पद्धति वाले उद्यान राजपूती पद्धति की उद्यान-कला का प्रतिनिधित्व करते हैं, न कि मुगल उद्यान-कला का। इतिहास-ग्रन्थ हमें बताते हैं कि आज रेगिस्तान टोक पड़ने वाले अरेबिया और तिब्बत से जब भारतीय क्षत्रियों के कामनागत वे, तब पत्नी-भ्रांति हरे-भरे और जलयुक्त प्रदेश थे। ऐसा समय ईसा-युग के प्रारम्भ में ही था। किन्तु उसके तुरन्त पश्चात् जब विदेशियों के आक्रमणों का ताँता बँधने लगा, और विध्वंस का काल प्रारम्भ होने लगा, तब कृषि और जलसम्पत्तियों के वैज्ञानिक उपायों की उपेक्षा होने लगी। जीवन और करीर नुट-नसोट, विध्वंस और अमरुता का शिकार हो जाने के कारण सभी शिष्ट जीवन और उसकी प्रतिभा अवरुद्ध हो स्थिर हो गयी। अपनी सुरक्षा के लिए लोगों की बस्तियों में भाग जाना पड़ता था। इतिहास-ग्रन्थों से हमें यह भी ज्ञात होता है कि ताहौर ने आगरा तक का एक भली-भाँति व्यवस्थित ४०० मील लम्बा राजमार्ग या जो दोनों ओर लम्बे-ऊँचे, बने छायादार वृक्षों से आच्छादित होने के कारण लगभग सौरणावृत्त पथ ही मान्य होता था। उन दुर्लभ आक्रमणकारियों ने ऊँचे वृक्षों को आवास और जीवन पथाने के लिए निर्ममतापूर्वक काट डाला, और विशाल राज-पथ को व्यवस्थित रखने की ओर कभी ध्यान नहीं दिया। परिणाम यह है कि वह महान् राजमार्ग आज केवल नाम के लिए ही शेष है। मोहम्मद

क़ासिम से प्रारम्भ कर, भारत में मुस्लिम शासकों के विगत एक हजार वर्षों में भारतीय सभ्यता और समृद्धि किस प्रकार पद-दलित हुई और नष्ट हुई, उसका यह एक विशिष्ट उदाहरण मात्र है। भारतीयों को उसके भव्य भवनों से निकालकर भयानक जंगलों में, एकान्त भू-प्रदेशों में जाकर शरण लेने के लिए खदेड़ दिया गया। उनको उनके घरों से मूषकों और सर्पों की भ्रांति निर्दयता से निकाल दिया गया। विध्वंस और अनुत्पादकता की निष्क्रिय ११०० वर्षों की यह दीर्घाविधि ही भारत की वर्तमान निःसत्य अर्थव्यवस्था के लिए उत्तरदायी है जो भरसक प्रयत्न करने पर भी आर्थिक स्वस्थता का परिणाम सम्मुख नहीं रहा, क्योंकि समस्त साधनों के आकण्ट शोषण एवं रक्तपातमय दुष्कृत्यों द्वारा की गई कमी कुछ पंचवर्षीय योजनाओं द्वारा दूर नहीं की जा सकती है।

प्राचीन वर्णनों में हमें पढ़ने को मिलता है कि सिन्ध, अफ़ग़ानिस्तान, फारस और अरेबिया में सरस उद्यान तथा समृद्ध फलों के बगीचे हुआ करते थे। मुस्लिम विध्वंस के शताब्दियों के शासनकाल द्वारा जलहीन कर दिये जाने से पूर्व इन प्रदेशों में ऐसी ही समृद्ध स्थिति थी। जैसा कि इस पुस्तक में अन्यत्र बताया गया है, ये क्षेत्र हरे-भरे मैदानों और सुन्दर उद्यानों से सुशोभित होने के कारण अपना शीश सगर्व ऊँचा रखते थे।

इस्लामी आक्रमणों से भारत को एक नयी संस्कृति के संगम का लाभ हुआ—इस प्रकार का बड़ा झूठा, तर्क दुष्ट और हानिकारक सिद्धान्त कायर और स्वार्थी विद्वज्जनों ने भारत में रुढ़ कर रखा है। इसी कथन के अन्तर्गत लोगों को यह कहा जाता है कि कश्मीर में निशात-शालीमार, पंजाब प्रदेश का पिजोर आदि कतिपय बाग भारत में मुसलमानों ने लगवाये।

तथापि वह कथन पूर्णतया मिथ्या है। ऐसे जितने उद्यानों का उल्लेख किया जाता है वे सारे प्राचीन काल से हिन्दुओं के उद्यान रहे हैं। उनमें मन्दिर आदि जो इस्लामी आक्रमकों ने तोड़े, उनके अवशेष (इलाहाबाद के प्रयाग के तथाकथित खुसरूबाग में, आगरे के तेजोमहालय (ताजमहल के उद्यान) में, पिजोर में आदि विपुल मात्रा में मिले हैं। आक्रमक जो हमला करता है उससे बगीचे उजड़ जाते हैं या सुन्दर-सुन्दर बाग उमने लगते हैं? मोहम्मद गजनवी, गौरी, तैमूरलंग, बाबर, नादिरशाह, अहमदशाह अब्दाली



आदि कुँआर आश्रयक क्या पानी के जो भारत में बाग लगवाने आये थे ? रशिया पर नेपोलियन और हिटलर ने क्या इस कारण आक्रमण किया कि रशियन लोग उनके अपने अतिविशाल देश में फूल-पत्ती ठीक प्रकार से उगा नहीं पा रहे थे ? क्या फ्रेच और जर्मन सेनाओं ने रशिया से अपनी देनाएँ तभी हटा ली जब उन्हें समाधान हुआ कि रशियन जनता एवं अधिकांश कृषिपत्नी उगाने में आत्मनिर्भर हो गये हैं ? हम यदि इंग्लैंड परकारी अब कृषिपत्नी उगाने में आत्मनिर्भर हो गये हैं ? हम यदि इंग्लैंड पर आक्रमण करता सोचें तो क्या वह इसलिए होगा कि लन्दन के Hyde Park में अनेक लोग इतनी अच्छी फूल-पत्ती नहीं उगा पा रहे हैं जैसी हम उन्हें निरूपाने के लिए बेचते हैं ?

उन विवरण से यह समझ लेना चाहिए कि आक्रमणकारी नये उद्यान बनाने के लिए नहीं, अपितु विद्यमान उद्यान उजाड़ने के लिए आक्रमण करते हैं। अतः जो भी निरक्षर अपने छात्रवर्ग को इस्लामी पुष्पवाटिकाओं का मर्यादित वर्णन पढ़ाता है वह असत्य प्रचार का अपराधी तथा देशद्रोही भी समझा जाना चाहिए। क्योंकि यह एक प्रकार से आक्रामकों द्वारा किये गये प्रचार को उद्यान-भोरव कहकर स्वदेश को लगे घाव पर कटु असत्य का स्पर्क भी छिड़क रहा है।

बौरान ब्रटेनो ने आये इस्लामी आक्रामक गंगा-यमुना वाले देश के सिन्दुओं को उद्यानरुता भजा क्या सिखाते ? आगरे के रामबाग महल को जीतकर वहाँ आराम करने वाले बाबर ने वहाँ न तो कोई बाग रहने दिया, न महल। सब तहस-नहस कर छोड़ा। तेजोमहालय हथिया लेने के पश्चात् सादरहा ने भी ताजमहल और उसके उद्यान को खरोच और खदेड़कर रख दिया। बड़ा नरुधि आज जो ताजमहल जनता देखती है उसमें कई गुना जोड़क सुन्दर वा, भवन वा।

मुसलमानों के अपने ऐतिहासिक स्थानों में बगीचे कहाँ हैं ? क्या काबा में रशिया के कोई बाग है ? क्या मदीने में पैगम्बर की कब्र किसी बाग में स्थाई गयी है ? भारत में गुलमी, नीम, पीपल, बड़ आदि वृक्षों पर पाती छड़ककर उनकी पुखा करने की जो प्रथा है उससे और प्राचीन ग्रन्थों में किये गये उक्तियों से यह बात स्पष्ट हो गई है कि उद्यानवाटिकाओं की कथा भारत में मानवजाति की निषालाई है।

एक सहस्र वर्षों के इस्लामी आक्रमणों से भारत एक उजड़ा हुआ सूखा-रूखा देश बनकर रह गया। रावलपिण्डो से लाहौर और कलकत्ता, लाहौर से दिल्ली, आगरा और उज्जैन आदि को जाने वाले जो बड़े-बड़े मार्गों के दोनों तरफ बड़, पीपल आदि विशाल, ओषधि या फल-फूलों के वृक्षों की घनी छाया होती थी। इस्लामी आक्रामक सेनाओं के जब उन मार्गों पर एक सहस्र वर्ष तक डेरे लगते रहे तो उन्होंने भोजन पकाना, पानी तपाना आदि विविध कारणों से वे सारे जंगल, उद्यान और पेड़ काट-काटकर भारत को एक उजड़ा देश बना छोड़ा। अतएव, उद्यानों का श्रेय मुसलमान आक्रमकों को देना शिक्षा-क्षेत्र की एक बड़ी भूल एवं अपराध है।



भयंकर भूल : कर्मांक—८

## विदेशियों की शासन-कालावधि में स्वर्ण-युगों की भ्रान्ति

मोहम्मद इस्लाम से प्रारम्भ होने वाले ११०० वर्षों के विदेशी शासन के कुछ काल-खंडों को हमारे इतिहास-ग्रंथ आतुरता से "स्वर्ण-युग" की संज्ञा दे देते हैं। यह मन्थ का बिल्कुल उलटा है। इस कालखंड को तो हम किसी भी न्यायोचित रूप में सामान्यतः अच्छा कालखंड भी नहीं कह सकते, जिम अवधि में इस देश की माटी के सपूतों को क्रूरतापूर्वक मारा गया हो, उनकी हज़ारों की संख्या हो, उनको फाँसी चढ़ाया गया हो, उनकी सम्पत्ति को बिना किसी कारण अथवा संकोच के हड़प कर लिया गया, न्याय को धार्मिक मतानुसार के धरोरे चलाया जाता था; विद्रोह, अकाल और युद्धाग्नि सदैव प्रवर्धित रहते थे। उस अवधि को सहनशीलता का युग भी कैसे कहा जा सकता है जिसमें एक विदेशी सम्राट् की अधीनता में इस देश के असहाय बद्रक्त का अधिकांश द्वितीय श्रेणी का नागरिक समझा जाता रहा है, और निराला दीनारक्षक में जीवन-यापन करने का, जीवन की कुछ घड़ियाँ व्यतीत करने का उनका अधिकार शेष रह गया हो? ११०० वर्षों की इस सम्पूर्ण अवधि को हृदयच्छेदी अवधि कहा जाना चाहिये। इस सत्य को अस्वीकार करने का अर्थ क्रूर-हृदय विदेशियों को कोमल एवं शिष्ट देशीय शासकों के समान मानना, परसीज़न को सहनशीलता मानना, नरमेधों को पितृ-प्रेम सम समझना, सभाल की आधिक्य, निर्धनता को समृद्धि, न्यूनता को विपुलता, बलात्कार और लूट-तर्काट को सम्मान और व्यवस्था, जब्ती को न्यायिक की सुरक्षा और धार्मिक-हत्यादिता को आराधन, पूजन की स्वतंत्रता मानना होता है। अतः भारतीय इतिहासग्रंथों में न केवल आवश्यक संशोधन

भारतीय इतिहास की भयंकर भूलें

१८३

करने हैं, अपितु अनेक स्थलों पर, इनके निष्कर्षों को पूर्ण रूप में सुधारना और उलटा करना पड़ेगा।

## भारत के मध्यकालीन इतिहास का यथार्थ मूल्यांकन करने के प्रमुख सिद्धान्त

हमारे अभी तक के विवेचन से पाठक को विश्वास हो गया होगा कि चूंकि मध्यकालीन मुस्लिम तिथिक्रमपूर्ण ग्रन्थ चाटुकारिता की वस्तुएँ हैं और वास्तविक इतिहासग्रन्थादि नहीं, अतः उनको असत्य के विशाल भण्डार से सावधानीपूर्वक छाँटकर अन्य तत्कालीन साक्ष्यों से भी पुष्ट करना चाहिये। महान् इतिहासकार सर एच० एम० इल्लियट भी इसी विचार का था—यह उसके द्वारा मध्यकालीन मुस्लिम तिथि-वृत्त ग्रन्थों की अष्टखण्डीय समा-लोचनात्मक समीक्षा के आमुख में दिये गये अत्यन्त सुगठित इस टिप्पण से स्पष्ट है, कि "भारत में मुस्लिम काल का इतिहास जानबूझकर किया गया एक रोचक धोखा है।"

दुर्भाग्यवश इतिहास के परवर्ती छात्रों तथा विद्वानों ने सर एच० एम० इल्लियट के सुविचारित पर्यवेक्षण की गरिमा की ओर पूरा ध्यान नहीं दिया।

व्याख्यात्मक श्रान्त यह है कि स्वयं सर एच० एम० इल्लियट भी अपनी उपलब्धि की दूरगामी गुरुता के प्रति अनभिज्ञ थे। वे और उन्हीं के समान अन्य लोग जो इस 'धोखे' की विद्यमानता को जानते थे, इसकी गहराई का अवगाहन नहीं कर पाए। स्पष्ट रूप में, वे लोग भी उनके ऊँचे-ऊँचे दावों या कच्ची-पक्की बातों में विश्वास करने लग पड़े कि मध्यकालीन स्मारक अन्य देशीय मुस्लिम शासकों, फकीरों, सरदारों तथा अन्य ऐसे ही लोगों ने बनवाये थे। सर एच० एम० इल्लियट भी अनजाने ही धोखा खा बैठा जब वह विश्वास कर बैठा कि असंख्य मध्यकालीन मकबरे और मस्जिदें वास्तव में मूल रचना-कृतियाँ थीं यद्यपि तथ्य रूप में वे सब पूर्वकालिक राजपूतों राजमहल, भवन तथा मन्दिर हैं जो विजयी मुस्लिमों द्वारा अपने उपयोग के लिए रूप-परिवर्तित कर दिये गये।

इसी कारण मध्यकालीन लिखित सामग्री की गहरी व्याख्या करने के



लिए कुछ सिद्धान्तों की रचना करने की आवश्यकता है। ये प्रमुख सिद्धान्त निम्न प्रकार हैं—

(१) मध्यकालीन मुस्लिम इतिहासवृत्तों के इन दावों का, कि किसी विशिष्ट सुल्तान, या बादशाह, अथवा किसी सरदार या साधारण व्यक्ति ने "मन्दिरों को ध्वस्त किया और मस्जिदें बनवायीं," केवल इतना ही अर्थ है कि जो कुछ उन्होंने "ध्वस्त" किया वह केवल हिन्दू पूजन-स्थल था तथा जो कुछ उन्होंने "बनवाया" वह केवल उन्हीं भवनों में मुस्लिम पूजन-स्थल था। भवन कभी ध्वस्त नहीं हुआ। एक मन्दिर, या राजमहल, या भवन को हिन्दू-प्रतिमा को फेंककर तथा इसकी दीवारों पर कुछ कुरानी-पदों को उत्कीर्ण कर मस्जिद तथा मकबरे के रूप में उपयोगी बनाने के लिए इसका व्यवहार किया जा सकता था। अतः मध्यकालीन मुस्लिम इतिहासवृत्तों को पढ़ते समय ऐसे वाक्यांश सम्मुख आने पर पाठकों को भली प्रकार जाग-रूक रहना चाहिए। उस वाक्यांश का एक विशेष सूझाव था जो ऊपर स्पष्ट कर दिया गया है। लेखकों का मन्तव्य भी इससे अधिक और कुछ था ही नहीं। इतिहास के विद्वानों तथा विद्यार्थियों को ध्यान रहना चाहिये कि विजयशाली अन्य देशीय आक्रमणकारियों की भाषा का बाह्यार्थ, निहितार्थ तथा सूझाव हुआ करता है। आक्रमणकारी अन्य देशियों द्वारा प्रयुक्त शब्दों का वाक्यार्थ करना अत्यन्त भ्रामक है। भारत में वर्तमान मध्यकालीन स्मारकों के साथ यही तो हुआ है।

(२) हिन्दू-भवनों पर सूठे दावे करने के मुस्लिम आक्रमणकारियों के मुझाब के कारण, वह सम्भव है कि सूठे अभिलेख भी हिन्दू-भवनों पर लगा दिये गये। कुछ मामलों में तो मध्यकालीन स्मारक भारत में अन्य देशीय आक्रमणकारियों द्वारा केवल शिलालेखों के रूप में ही उपयोग में आए। जिस किसी स्मारक पर वे उत्कीर्ण हैं उस स्मारक के मूल से उस शिलालेख का सम्बन्ध तोड़ने के सभी प्रयत्नों का परिणाम असफलता ही रही है। एक विशिष्ट उदाहरण फतहपुर सीकरी के तथाकथित बुलन्द दरवाजे पर शिलालेख का है। इतिहासकार लोगों में इस बात पर मतभेद है कि यह दरवाजा अकबर की दखन अथवा गुजरात पर विजय की स्मृति में बनवाया गया था। उनकी यह संशय नहीं है कि वे पूर्ण रूप में धोखे में रक्ते गये हैं। अकबर

से दो पीढ़ी पूर्व ही महाराणा सांगा से, आज विद्यमान सभी स्मारकों सहित फतहपुर सीकरी को बाबर ने जीत लिया था।

आगरा में जो आज जामा मस्जिद (मुख्य मस्जिद) विश्वास की जाती है, उसपर लगे शिलालेख की सूक्ष्म समीक्षा करके इतिहासकार थोड़ा कार्य करेंगे। शिलालेख का उल्लेख है कि इसे बेगम जहाँनारा ने बनवाया था। जहाँनारा के पास, जिसने परवर्ती वर्ष दुःख में काटते हुए और कारावास में पड़े अपने पिता की सेवा में बिताये, कठिनाई से अपना गुजारा चलाने के लिए भी पर्याप्त धन नहीं था। इतिहासवृत्तों के दावे के अनुसार भवन के विशाल तल्लर तथा भवन का सूक्ष्म विवेचन शिलालेख में किये गये दावे का औचित्य सिद्ध नहीं करता।

(३) वे स्मारक, जिनमें निजामुद्दीन, मोइनुद्दीन चिश्ती, कुतुबुद्दीन, बख्तियार काकी, सलीम चिश्ती दबे हैं, तथा ग्वालियर के निकट मोहम्मद शाँस का मकबरा उनकी मृत्यु के बाद नहीं बने थे। इतिहासकार इन भवनों का सूक्ष्म अध्ययन करें। उनका मालूम पड़ जायेगा कि जैसा फकीरसदैव करते रहे हैं उसी प्रकार मुस्लिम विजयों के अवसर पर उनके फकीर लोग निजंन तिरस्कृत खण्डहरों में बसते गये। जब वे मरे, तब उनको उनके रहने के निवास-स्थानों पर ही दफना दिया गया। यही कारण है कि ऊपर उल्लेख किये गये सभी मकबरे अलंकृत मन्दिर दीख पड़ते हैं, और जब सबसे पहले मुस्लिम फकीरों द्वारा व्यवहार में लाये गये तब भी ध्वस्तावस्था में होने के कारण अब भी कोई सामंजस्यपूर्ण चित्र प्रस्तुत नहीं करते।

(४) इससे हम मध्यकालीन मुस्लिम इतिहासवृत्तों का सही आकलन करने के एक अन्य प्रमुख सिद्धान्त पर आ पहुँचते हैं। वह यह है कि (बिहार में सामाराम में) जेरशाह, अकबर तथा हुमायूँ जैसे शासकों के मकबरे, (दिल्ली में) लोधी मकबरा, (इलाहाबाद, खुसरू बाग में) खुरो जैसे शाहजादों के मकबरे तथा दिल्ली में सफ़दरजंग और अब्दुरहीम खानखाना जैसे सरदारों के मकबरे, सबके सब राजमहल और विशाल भवन थे, जिनमें वे तबतक रहे जबतक जीवित थे। अधिक गद्यार्थ तो हमारा यह कथन है कि वे व्यक्ति उन्हीं भवनों में मरे जिनमें वे आज दफनाये पड़े हैं अथवा दफनाये गये विश्वास किये जाते हैं। वे राजमहल और विशाल भवन



पूर्वकालिक राजपूत शासकों से बनाए गए हैं। इसी कारण तो वे इतने विशाल, भव्य और हिन्दू मंजी में अलंकृत हैं। ऐतिहासिकता और विशालता की दृष्टि से यह बेहदगी है कि उन भवनों को भारतीय जिहादी नित्यकता की उत्पत्ति कहा जाये। यह अनुभव किया जाना चाहिये कि वे सब हथियारों के और अधिकृत राजपूती राजमहल, भवन और मन्दिर थे। इस प्रकार निकलकर वह हथियारों का राजपूत राजमहल था जिसमें अकबर मरा और इफ्तना दिया गया। यही बात आज हुमायूँ का मकबरा कहे जाने वाले भवन की तथा स्थूल रूप में सारे भारत तथा बाह्य देशीय अन्य मध्यकालीन स्मारकों की है।

(१) मध्यकालीन इतिहासवृत्तों से आक्रामक अन्य देशीय मुस्लिम शासकों के नगर-स्थापना के दावे भी अप्रतिष्ठित हैं। मध्यकालीन मुस्लिम नवाबों में 'नगर-स्थापना' का अर्थ केवल पूर्वकालिक नगरों का नाम-परिवर्तन है। यह स्पष्ट रूप में हृदयंगम करने की बात है। इसी प्रकार, अकबर बाद अहमदशाह द्वारा स्थापित नगर नहीं है। यह तो उसने केवल विजय किया था, और उसने इसके पूर्वकालिक नाम राजनगर व कर्णावती को हटाकर अपने ही नाम पर नामकरण कर दिया था। तारीखे-फ़ीरोज़शाही सोझी-नादी भाषा में उल्लेख करती है कि जब दिल्ली के पूर्वकालिक शासक के मर जाने पर राजगढ़ी की प्रतिद्वन्द्विता के लिए वह स्वयं दिल्ली पर कब्ज़ा करने के लिए तैयार बैठा था, तभी उसको एक पुत्र-रत्न उत्पन्न हुआ और उसकी स्मृति में एक नगरी उसी स्थान पर स्थापित कर दी जहाँ वह स्वयं रहे जाने पड़ा था। चूँकि बेटे का नाम फ़तह मोहम्मद था, इसलिए उस नगरी का नाम फ़तेहाबाद रखा गया। ऐसे तुच्छ दावों ने इतिहासकारों को धुँधला कर दिया है। तथ्य रूप में जो हुआ वह यह था कि एक प्राचीन नगरी का नवजात शिशु के नाम पर नामकरण कर दिया गया। यदि यह बात स्पष्ट रूप में नहीं समझ ली जाती है, तथा इतिहासवृत्त लेखकों के झूठे दावे मजबूत, सत्य स्वीकार कर लिए जाते हैं, तो अलाहाबाद को तो स्वयं अलाहा द्वारा स्थापित (अकबर जल — परस्वती देवी द्वारा स्थापित) माना जायगा (क्योंकि मुसलमानों में अल्लाह का अर्थ देवी परस्वती है)।

(२) जो कुछ हम अकबर कह चुके हैं वह हमें मध्यकालीन मुस्लिम

इतिहास-वृत्तों को ठीक प्रकार से समझने के लिए एक अन्य प्रमुख सिद्धान्त-निर्धारण में सहायक होना चाहिये। सिद्धान्त यह है कि आज मध्यकालीन कोई भी पुल, नहर, मकबरा, राजमहल, किला, मस्जिद, विशाल भवन अथवा नगरी, जिसको ऐतिहासिक उत्सुकतावश देखने के लिए प्रत्येक भ्रमण-शील व्यक्ति जाता है, किसी भी अन्य देशीय मुस्लिम आक्रमणकारी द्वारा निर्मित नहीं है। भारत में विद्यमान सभी मध्यकालीन स्मारक भारत की स्थापत्य कला के उस विशाल भण्डार के अत्यल्पांश ही हैं जो मूर्तिनाश तथा रुढ़िवाद के सर्वनाशक आक्रमणों के १००० वर्षों की अवधि में नष्ट हो गया। विद्यमान स्मारक तथा नहरें, जो अन्य देशीय शासकों अथवा सरदारों द्वारा बनाए गये कहे जाते हैं, पूर्वकालिक भारतीय निर्मित हैं।

इस प्रकार के दावों की असत्यता का एक अत्यन्त सुस्पष्ट उदाहरण शेरशाह के शासन से सम्बद्ध इतिहासवृत्तों में मिलता है। वह तो केवल एक भू-स्वामी था जिसने एक बादशाह की भाँति ६ वर्षों से भी कम समय राज्य करने हुए अति-व्यस्त जीवन व्यतीत किया। चापलूसी करने वाले लेखकों द्वारा बेईमानी से थोथे दावे कर दिए गये हैं कि उसने अनेकों किले और अनगिनत लम्बी-लम्बी सड़कें बनवायीं। उनमें तनिक भी सत्यांश नहीं है। उल्लेखित सभी किले तथा सड़कें शेरशाह से शताब्दियों पूर्व भी विद्यमान थे।

(३) अपने अन्वेषणों से हम प्रसंगवश एक और निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। वह यह है कि जहाँ भी कहीं किसी स्मारक के साथ अन्य देशीय मुस्लिम शासक अथवा सरदार का नाम जुड़ा है, वह व्यक्ति उसका मूल अधिपति अथवा निर्माता न होकर पूर्वकालिक राजपूत स्मारक का ध्वंसकर्ता तथा अधिग्रहणकर्ता समझा जाना चाहिये। इस प्रकार जब कश्मीर में एक ध्वस्त स्थान पर लगा आधुनिक अभिलेख यह घोषित करता है कि वारिनाग स्थान पर, झेलम नदी के उद्गम-स्थान पर, अकबर ने जलाशय बनवाया, तब इसका अर्थ केवल इतना ही लगाना चाहिये कि इसको बनवाना तो दूर रहा, नदी के अति पावन उद्गम पर वारिनाग का प्राचीन भव्य हिन्दू-मन्दिर ही अकबर ने विनष्ट किया। यही तो कारण है कि हम उस स्थान पर केवल विनष्ट खण्डहर तथा हिन्दू-प्रतिमाएँ ही पाते हैं।



(=) मध्यकालीन इतिहासग्रन्थ आवेगमयी भाषा में मध्यकालीन इतिहास के कुछ "स्वर्ण" कालों का सन्दर्भ प्रस्तुत करते हैं। ये दावे पक्की तरह से झूठे हैं। स्वर्णकाल हो कैसे सकते थे जब भारतीयों का ६६ प्रतिशत अन्वदेशीय शालक बने द्वारा घोर घृणा ही घृणा का पात्र था? वास्तविक उदाहरण के रूप में हम कह सकते हैं कि शाहजहाँ का शासनकाल भारतीय इतिहास का एक "स्वर्णकाल" घोषित किया जाता है किन्तु मैंने अपनी पुस्तक "शाहजहाँ राजपूती महल का" में स्पष्ट दिखाया है कि शाहजहाँ का शासन-काल उसकी प्रजा के अधिकांश के लिए सर्वाधिक नृशंस अत्याचारों से भरा रहा था। उद् प्रजा के अधिकांश भाग से ऐसी हादिक शत्रुता, क्रूरता की जा रहा थी, तो क्या यह स्वर्णकाल कहा जा सकता था? ब्रिटिश लोगों का जो दावा है, तो क्या यह स्वर्णकाल कहा जा सकता था? १००० वर्षों का सम्पूर्ण जगत्-भर एक ऐसा भयावह दुःखद कालखण्ड था जिसमें अपहरण, लूटन, क्रूर और राजसौ करोड़ों की भस्मास, नर-संहार तथा भारत के बाहर ले जाकर दासों के रूप में बेचने के लिए भारतीयों की धर-पकड़ अत्यन्त साधारण सामान्य दैनंदिन बातें थीं।

(१) मध्यकालीन इतिहास की अनेक वर्तमान धारणाएँ बिल्कुल उलट देने की आवश्यकता है। उदाहरण के लिए, बार-बार यह दावा किया गया है कि विश्वनाथ भारतीय मध्यकालीन स्मारक अन्य देशीय शासकों की शासनानुसार अन्य देशीय वास्तुकला-विशारदों द्वारा तथा कारीगरों द्वारा बनाए गए थे। यहाँ यह स्मरण रखना आवश्यक है कि राजप्रासादों जैसे इमारतों का अस्तित्व स्वयं ही एक तीव्रतम आकर्षण था जिसने अन्य देशीय मुस्लिम आक्रमणकारियों की अपहारक वृत्तियों को आकर्षित किया। दूसरी बात यह है कि जिस प्रकार आज विश्व भर में स्थापत्यकला का पॉन्क्सी प्रकार प्रचलित है, उसी प्रकार मध्यकालीन युग में, स्थापत्य-कला का भारतीय-प्रकार ही था जो सम्पूर्ण विश्व में प्रचलित था। इसीसे पॉन्क्सी एशियाई तथा भारतीय मध्यकालीन स्मारकों की समानता स्पष्ट हो जाती है। इसलिए उमदा सिद्धान्त यह है कि मध्यकालीन भारतीय स्मारकों का निर्माण अन्य देशीय मुस्लिम रूप-रेखांकनकारों तथा कलाकारों द्वारा होने के स्थान पर सत्य यह है कि ये तो भारतीय वास्तुकलाविद तथा

कारीगर ही थे जिन्होंने मध्यकालीन पश्चिम एशियाई स्मारक बनाए। मोहम्मद गज़नी और तैमूरलंग ने तो सचमुच ही यह स्वीकार कर लिया है। उन्होंने कहा है कि भारतीय मन्दिरों, राजमहलों, विशाल भवनों, स्तम्भों तथा नदी-घाटों के सौन्दर्य तथा श्रेष्ठत्व से मुग्ध होकर नर-संहार करने से पूर्व वे भारतीय प्रशिक्षित कर्मचारियों को पृथक् कर लेते थे, और उनको तलवार के द्वारा मौत के घाट उतार दिये जाने का भय दिखाकर भारतीय सीमा के पार पश्चिम एशियाई देशों में मकबरे और मस्जिदें उसी भव्यता की बनाने के लिए भेज देते थे जिस प्रकार भव्य भारतीय मन्दिर तथा राजमहल थे। उनके अपने देश में भारतीय-निर्माणकला के समान कोई अनुपम वस्तु पहले न थी। इसीलिए उन्होंने यह मार्ग अपनाया था। यह डंके की चोट सिद्ध करता है कि पश्चिम एशियाई मकबरे और मस्जिदें मुस्लिम उपयोग के लिए परिवर्तित भारतीय राजमहलों तथा मन्दिरों जैसे ही हैं। मुख्य कारण यह है कि मूलरूप में यही अभिलाषा भी थी। अतः यहाँ जो सिद्धान्त हम स्थापित करते हैं वह यह है कि अन्य देशीय मुस्लिम वास्तुकलाविदों तथा कारीगरों का मध्यकालीन भारतीय स्मारकों को बनाना तो दूर, ये तो भारतीय व्यक्ति ही थे जिन्होंने पश्चिम एशियाई मध्यकालीन स्मारकों का रूप-रेखांकन किया, उनको आकार प्रदान किया तथा उनका निर्माण किया।

(१०) इस अध्याय में निर्धारित अधिकांश प्रमुख सिद्धान्त अन्य देशों में भी मुस्लिम इतिहास को ठीक प्रकार से समझ लेने पर संगत प्रतीत होंगे। उदाहरण के लिए, यह सिद्धान्त कि विशाल तथा भव्य मकबरे उन लोगों के ही राजमहल थे आज जो उन्हीं में दफनाए पड़े हैं, सोवियत संघ में समरकन्द स्थित तैमूरलंग के मकबरे पर भी लागू हो सकती है। उदय होते हुए सूर्य एवं आरोहणोन्मुख सिंह की चित्रकारी मकबरे की दीवारों पर सुशोभित हो हमारी खोजों को पुष्ट करती है। इससे भी बढ़कर बात यह है कि चित्रकारी अपने संस्कृतनाम "सूर-सादूल" (सूर्य-शार्दूल) अर्थात् "सूरज और शेर" से प्रसिद्ध है। "काफ़िरो" की चित्रकारी तथा इसके संस्कृत नाम की विद्यमानता सिद्ध करते हैं कि तैमूरलंग पूर्वकाल में हथियाए गए उसी हिन्दू-राजमहल में दफना दिया गया जिसमें वह रहता आया था।



(११) मध्यकालीन मुस्लिम इतिहासग्रन्थों में समाविष्ट झूठे दावों से कई बार हमें पूर्वकालीन राजपूत शासकों के उन संग्रहालयों की झलकियाँ मिल जाती हैं जिनको बिजवी अन्य देशीयों ने हथिया लिया था तथा बहुत सारा भण्डार तो उठा डाला था। इस प्रकार, उदाहरण के लिए, जहाँगीर-नारायण के समालोचनात्मक अध्ययन में सर एच० एम० इल्लियट ने स्पष्ट रूप से कहा है कि जहाँगीर का यह झूठा दावा, कि उसने आगरा के अपने राज-महल में न्याय की स्वर्ण-जंजीर लगाई थी, अनंगपाल के शासन के वर्णन में से साहित्यिक चोरी थी। अतः पर-पर पड़े-पड़े घड़ लिए गये मनचाहे दावों का भारत के अन्य देशीय शासकों से सम्बन्ध तो दूर, वे तो हमें उन पूर्वकालिक राजपूत राजाओं के शासनकाल की झलकियाँ प्रस्तुत करते हैं जिनको उनके अन्य देशीय अनुवर्तियों ने नष्ट कर दिया।

(१२) मध्यकालीन मुस्लिम इतिहासग्रन्थों के दावे कई बार स्वयं ही प्रतिकूल निष्कर्ष प्रस्तुत कर देते हैं। एक विस्तृत छायादार राजमार्ग लाहौर और आगरा को मिलाता था, और कदाचित् सीधा सिन्धु नदी पर अटक तक जाता था। छायादार मुख्यमार्ग स्मरणातीत युगों से विद्यमान था। किन्तु अनुवर्ती मुस्लिम आक्रमणों की अवधि में देखभाल की कमी और निरन्तर भारी प्रचण्डकालापात के कारण राजमार्ग नष्टप्रायः ही हो गया। राजमार्ग के दोनों ओर विज्ञान वृक्षों की पंक्ति टुकड़े-टुकड़े कर दी गयीं, उन लगायत आक्रमणकारियों द्वारा जिन्होंने मार्ग के दोनों ओर पड़ाव डाले और मोड़न पकाने तथा जन वध करने के लिए उन वृक्षों का उपयोग किया। इन प्रकार का स्पष्ट निष्कर्ष होने हुए भी मध्यकालीन इतिहासग्रन्थों में झूठे दावे डींग दिख गये हैं कि आक्रामक अन्य देशीय शासकों ने सर्वप्रथम बड़े राजमार्ग तथा अन्य मुख्य मार्गों का निर्माण किया।

(१३) एक के बाद एक—इस प्रकार प्रत्येक मुस्लिम शासक का यह दावा कि उसने सड़क के दोनों ओर, थोड़ी-थोड़ी दूरी पर सराय, डाकघर और अन्य सुविधाजनक अन्तुओं का निर्माण किया, निराधार है। राजपूतों की शान्तिप्रियता के पूर्वकालिक वर्णनों से से उनको निकालकर होशियारी से मुस्लिम इतिहासग्रन्थों में समाविष्ट कर लिया गया।

(१४) विज्ञान भवनों के मुख्य सम्मुख भागों को कुरान के अंशों में

अस्पष्ट रूप में अच्छादित कर देना—वह भी प्रमुख रूप में अशिक्षित शासकों द्वारा—जैसा हमें भली-भाँति ज्ञात है कि मध्यकालीन अन्य देशीय शासकों के शासन थे ही—स्वयं ही सन्देहोत्पादक है।

यह सामान्य मनोविज्ञान की बात है कि केवल सुशिक्षित शासक ही अपने अभिलेखों को उत्कीर्ण कराकर रखना चाहते हैं। जब निपट निरक्षर शासक ऊँची दीवारों पर बड़े पैमाने पर अस्पष्ट रूप में दुर्लक्ष लिखवा देते हैं, तो यह तथ्य रूप में, जो लोग झूठे दावे प्रस्तुत करते हैं वे भवनों पर या उनके मूल पर अपना स्वामित्व सिद्ध करने के लिए अधिग्रहीत भवनों पर अपने शिलालेख उत्कीर्ण करवा लेते हैं। इतना ही नहीं, वन-विहार करने वाले लोग तो उन स्थानों पर अपने-अपने नाम खोद ही आते हैं। यह मानव की सहज दुर्बलता है। अतः मध्यकालीन भारतीय भवनों पर, चाहे वे आज मकबरे और मस्जिदें ही प्रतीत होते हों, उत्कीर्ण अभिलेखों का अर्थ मूल निर्माता न लेकर, केवल बलात् अधिग्रहीता, निवासकर्ता और विध्वंसक ही लेना चाहिये।

विन्सेंट स्मिथ ने प्रमाणित किया है कि अकबर तथा तदनुसार सभी अन्यदेशीय मुस्लिम सम्राट् शिल्पकारों तथा शिल्पलेखकों की पूरी फौज ही तैयार रखा करते थे जो उनकी आज्ञा पर, हथियाए गये भवनों पर तुरन्त ही शिलालेख लिखकर लगा दें।

(१५) भारतीय मध्यकालीन इतिहास का अध्ययन करने के लिए स्मरण रखने का अन्य सिद्धान्त यह है कि मुस्लिम इतिहासग्रन्थ पूर्व अविश्वासयोग्य हैं क्योंकि वे घटनाक्रम अथवा तिथिक्रम को अभिलेखित करने के लिए न लिखे जाकर शाही अथवा अन्य दरबारी मालिकों की चापलूसी करने के लिए लिखे गये थे। अतः अपने संलेख-अंशों में इन इतिहासग्रन्थों में केवल खालिस झूठ-ही-झूठ है। भारत में मुस्लिम-शासकों अथवा सरदारों द्वारा स्मारक बनवाए जाने के झूठे दावे किस प्रकार इतिहासकारों की पीढ़ियों को पथभ्रष्ट करते रहे हैं, यह पाठकों को नीचे दिए जा रहे कुछ उद्धरणों से स्पष्ट हो जायेगा।

“अकबर : महान् मुगल” पुस्तक के लेखक श्री विन्सेंट स्मिथ ने पुस्तक के पृष्ठ क्रमांक ३१५ पर पर्यवेक्षण किया है, “जैसाकि फ्रयंसन ने ठीक ही







को पूर्ण स्पष्ट कर देते हैं कि वे भवन हिन्दू-भवन दिखाई देते हैं क्योंकि वे तम्र रूप में हिन्दू-संरचनाएँ हैं, और मुस्लिम पुरासंग्रहालयों में उनके निर्माण सम्बन्धी कोई अभिलेख इसलिए नहीं मिलते कि वे तथाकथित मकबरे और मस्जिद उनके द्वारा कभी बनाए ही नहीं गये थे, अपितु उन्होंने तो केवल अपने उपयोग के लिए उन निर्मित भवनों को बलपूर्वक हिन्दुओं से छीन लिया था।

भयंकर भूल : क्रमांक—६

## सिकन्दर की पराजय जो वीर पोरस पर उसकी महान् विजय कहलाती है

भारत से शत्रुता करने वाले आज के पड़ोसियों के सुगम आक्रमणों में सर्वथा विभिन्न, प्राचीन भारत की सुदृढ़ सुरक्षा-पंक्ति के कारण उस समय के आक्रमणकारी लड़खड़ाते और नाक रगड़ते हुए वापस जाने पर विवश हुए थे।

ऐसा ही एक दुस्साहसी यूनान का सिकन्दर था जिसने भारत की सीमाओं के साथ छेड़खानी करने पर अपने जीवन की कटुतम घंटा का पान किया, और दुर्गति होने के कारण जो अपने प्राण ही गँवा बैठा।

किन्तु सिकन्दर की पराजय होने पर भी, हमारे इतिहास उसके दुर्भाग्य को भारत की अजेय सन्तान पोरस पर उसकी महान् विजय वर्णन करने अघाते नहीं। असत्य का यह घोर इतिहास भारतीय इतिहास में इसलिए पैदा गया है क्योंकि हमको उस महान् संघर्ष के जितने भी वर्णन मिले हैं, वे सबके सब यूनानी इतिहासकारों के किए हुए हैं। और यह तो सर्वज्ञात है ही कि घोर पराजयों से अपना मुख काला करने वाले आक्रमणकारी भी अपने पराभवों को विजय के आवरण में, छद्म रूप में प्रस्तुत करते हैं। यही बात सिकन्दर की भारतीय वीर पुरुषों से भिन्न में हुई है।

सिकन्दर महान्... जैसा कि वह पुकारा जाता है... ईसा पूर्व ३५६ में जन्मा था। वह मेसेडोनिया के राजा फिलिप द्वितीय और एपिरोट की शाह-जादी ओलिम्पियस का पुत्र था। अपनी राजनीति-निपुणता एवं बुद्धिचातुर्य के लिए फिलिप तो विख्यात था, किन्तु कहा जाता है कि सिकन्दर की माता असंस्कृत, अशिक्षित, अशोभन, एक अभिचारिणी एवं आलसी महिला थी।



सिकन्दर के बाल्यकाल में मेसेडोनिया के दरबार का वातावरण अपने राज्य की सीमाओं का विस्तार करने और इसी हेतु भयंकर युद्धों की योजनाएँ बनाने से आपूर्ण रहता था। अतिक्रमणात्मक युद्धों में यशार्जन करने एवं सभी यूनानी राज्यों का अपनी बनने की महान् आकांक्षा मेसेडोनिया में स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रही थी।

जब सिकन्दर १४ वर्ष का हो गया, तब उसकी शिक्षा-दीक्षा के लिए प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक अरस्तू को नियुक्त किया गया। सिकन्दर का निरंकुश अवश्य साहस बौद्धिक अनुदेशों अथवा दार्शनिकतापूर्ण परामर्श के बखोभल न हो पाया। अपने गुरु के पास विनीत भाव से बैठे रहने की अपेक्षा जासियों, साहसी व्यक्तियों, सैनिकों और राजदूतों के मुख से नये-नये वर्णन सुनना सिकन्दर को अधिक रुचिकर थे। उसको अन्य लोगों के मर्मस्थल में घोंडा पहुँचाकर आनन्द लेना अच्छा लगता था। एक बार जब उसका पिता राजधानी से बाहर था, तब उसने राज्य की सैनिक टुकड़ियाँ लेकर पहाड़ी क्षेत्र के विद्रोहियों को दबाने के लिए चढ़ाई कर दी थी।

लगभग इसी समय सिकन्दर के माता-पिता के मध्य पारिवारिक कलह बढ़ती चली गयी। उन लोगों ने पृथक् हो जाने का निश्चय किया। फिलिप ने क्लियोपेट्रा नामक दूसरी पत्नी बना ली। रानी ओलिम्पियस राजमहल छोड़कर चली गई। सिकन्दर, जिसका उद्दंड स्वभाव अपनी माँ के स्वभाव से ही अधिक मिलता था, अपनी माँ के साथ ही चला गया। फिलिप को क्लियोपेट्रा से एक पुत्र प्राप्त हुआ, जो राजसिंहासन के लिए समान दावेदार बन गया। कुछ समय पश्चात् फिलिप की हत्या कर दी गई, और इस पितृ-हत्या के लिए इतिहास ने सिकन्दर पर सन्देह किया है। अपने पिता की हत्या में भागीदार होने की बात असम्भव प्रतीत नहीं होती क्योंकि वह काल के साथ सीट-गोट किया ही करता था।

अनेक वर्षों तक सेना की यह बात रहा था कि सिकन्दर ही शाही युव-राज एवं राज्य का वास्तविक उत्तराधिकारी है, अतः उसके पिता की मृत्यु के पश्चात् राज्यासन को बसात, ग्रहण करने में उन लोगों ने सिकन्दर को पूर्ण सहायता दी। राज्यासन पर बैठने के पश्चात् सिकन्दर ने अपने चचेरे

एवं सौतेले भाई को मरवा डाला था, जिससे राजसिंहासन के लिए अन्य प्रति-अधिकारी न रहें।

अब सिकन्दर समाहरण और विस्तारण के मार्ग पर चल पड़ा। उसने सबसे पहले विद्रोही पहाड़ी लोगों का दमन किया। फिर, वह पश्चिम की ओर चल पड़ा और डनूब नदी का तटवर्ती क्षेत्र अपने अधीन कर बैठा। इसी बीच थेबस की जनता ने उसके विरुद्ध विद्रोह कर दिया। सिकन्दर ने उनके ऊपर अति चपलता से भीषण आक्रमण किया और उनकी राजधानी को धूल में मिला दिया। इस घटना ने भावी योद्धा के रूप में उसका पग चहुँ ओर प्रसारित कर दिया। एथेन्सवासियों तथा अन्य सभी यूनानी समाजों ने सिकन्दर के सम्मुख घुटने टेक दिए, और ईरान तथा अन्य देशों को जीतने में उसको सहायता देना स्वीकार किया।

इस प्रकार, सभी प्रकार की सहायता से आश्वस्त हो ३३४ ई० पू० में सिकन्दर विश्व-विजय करने को निकल पड़ा। मेसेडोनियों, इल्लिरियनों, थ्रेसियनों तथा अन्य यूनानी समाजों की ४०,००० सेना लेकर सिकन्दर पूर्व की ओर चल पड़ा।

सिकन्दर सर्वप्रथम ट्राय की यात्रा पर गया और विजय की भावी यात्राओं के लिए ईश्वरीय आशीर्वाद प्राप्त करने की इच्छा से उसने विश्वास और निष्ठापूर्वक ट्रोजन-युद्ध के हुतात्माओं की पूजा की।

सिकन्दर के प्रस्थान का समाचार सुनकर ईरान के राजा ने सिकन्दर की विजयाकांक्षाओं को शंकावस्था में ही रौंद डालने के विचार से उससे भी अधिक संख्या में अपने सैनिक भेज दिये। सिकन्दर अभी 'एशिया लघु' को जीतने में भी सफल नहीं हुआ था। दोनों की सेनाएँ ग्रेनिकस के तट पर भिड़ गईं। घमासान युद्ध हुआ। सूर्यास्त होते-होते ईरान की सेना के द्वारा प्रतिरोध ढीला पड़ गया और वह भाग खड़ी हुई।

'एशिया लघु' से बाहर जाने वाले सभी मार्गों पर अब सिकन्दर का पूर्ण अधिकार था। उसने स्थानीय यूनानी उपनिवेशों को स्वतन्त्र हो जाने की घोषणा कर दी, विजित प्रदेशों पर राज्यपाल नियुक्त कर दिये और स्वयं को सम्राट् घोषित कर दिया। नये प्रहीत क्षेत्र सिकन्दर के अधीन शीघ्र



इसलिए हो गये क्योंकि इसकी विनाश यूनानी जनसंख्या एवं सैनिक-शक्ति सहायक सिद्ध हुई थी।

एक वर्ष पश्चात् सिकन्दर ने उत्तरी फिजिया में गोरडियस के राज्य पर आक्रमण किया और उसे अपने अधीन कर लिया। किवदन्ती के अनुसार यही पर बाबील फिजियन-राजा गोरडियस के रथ से बँधी गोरडियन-गाँठ को सिकन्दर ने अपनी तलवार से काटा था।

एक सेनाप्रियाय के साथ-साथ सिकन्दर की नौ-सेना हेलेस्पोंट क्षेत्र में घूम गई थी। वह जंगी-बेड़ा सिकन्दर को स्वदेश से सम्पर्क बनाए रखने में सहायक हुआ था। किन्तु अब चूँकि वह दूरस्थ प्रदेशों तक जाने का इच्छुक था, अतः उसने अपनी नौ-सेना को अपने मूल अड्डे पर लौट जाने का आदेश दे दिया।

हेलेस्पोंट क्षेत्र से सिकन्दर की नौ-सेना वापिस होते ही ईरानी नौ-सेना को उसके राजा का आदेश मिला कि वह यूनान के राज्य पर आक्रमण करने के लिए तैयार रहे। अपनी गृहभूमि पर आक्रमण की आशंका दूर करने के लिए सीरियाई समुद्री तट पर चढ़ाई कर देने का विचार सिकन्दर के मन में आया। अपनी नौ-सेना को सहायता देने के लिए ईरान का राजा डेरियस स्वयं ही एक बहुत बड़ी सेना लेकर सीरिया में प्रविष्ट हुआ। दोनों सेनाएँ ई. पू. ३३३ में ईरान में एक-दूसरे से भिड़ गईं। ग्रीक इतिहासकारों ने लिखा है कि अपने महिला-वर्ग को पीछे ही छोड़कर ईरानी सेना अस्त-व्यस्त हो भाग लगी हुई, किन्तु सिकन्दर ने पकड़ी गई महिलाओं के साथ व्यवहार करने में क्रूरता एवं संयम का परिचय दिया। डेरियस ने अपना आधा राज्य समर्पित कर देने का प्रस्ताव रखा किन्तु सम्पूर्ण राज्य-समर्पण से कम कोई बात सिकन्दर को सन्तुष्ट कर ही नहीं सकती थी।

उसने अब 'टायर' को आ घेरा। घेरा सात मास तक चला, और सम्पूर्ण कुरियसिया उसके अधीन हो गया। बाद में गाजा पर अधिकार कर सिकन्दर सिक्के में घुसा। ईसा-पूर्व ३३२-३३१ के वर्ष की शीत ऋतु मिस्र में ही व्यतीत करने वाले सिकन्दर को ही इसी समय सिकन्दरिया की स्थापना करने का श्रेय दिया जाता है। किन्तु, जैसा बहुधा हुआ है, हो सकता है कि किसी पुनर्वासनीय नगरी पर ही सिकन्दर ने अपना नाम थोप दिया हो।

मध्य सागर के सम्पूर्ण पूर्वीय क्षेत्रों को अपने अधीन कर लेने के पश्चात् सिकन्दर ने अपनी आँखें ईरान पर ही लगा दीं। ई. पू. ३३१ में उसने २० सितम्बर के दिन टिग्रिस नदी पार की। ज्यों ही वह मोसोपोटामिया से पार गया और आगे बढ़ा, त्यों ही डेरियस के सेनापतित्व में ईरानी सेना गोगमिल नामक स्थान पर उसके सम्मुख आ खड़ी हुई। भयंकर अल-कालिक संघर्ष हुआ। ईरानी सेना को फिर पराजित होना पड़ा, और डेरियस भीडिया को भाग गया। गोगमिल के युद्ध को ही 'अरबिल-युद्ध' के नाम से भी पुकारा जाता है; अरबिल इस स्थान से ६० मील दूर एक नगरी है।

सिकन्दर ने पराजित-साम्राज्य के बेबिलोन प्रदेश को भी अपने अधीन कर लिया, और ईरान की राजधानी परसोपोलिस में प्रवेश कर उस समृद्ध नगर को अपने पैरों तले रौंद डाला व फिर उसको आग लगा दी। कहा जाता है कि किसी पूर्व राजा अरक्षेस द्वारा यूनानी मन्दिरों को ध्वस्त कर दिये जाने के बदले में यह जघन्य कार्य किया गया।

डेरियस उत्तर की ओर भागा। किन्तु अब उसकी खोज निरन्तर की गई। एक राजा दूसरे राजा का पीछा कर रहा था। डेरियस को घेर लिया गया। उसके साथ उसका चचेरा भाई एवं योद्धे से सरदार ही थे, ई. पू. ३३० की ग्रीष्म-ऋतु थी। इसके पूर्व ही कि सिकन्दर के साथी आगे बढ़कर डेरियस को बन्दी बनाने, डेरियस के साथियों ने उसका प्राणान्त कर दिया और उसका मृत-शरीर सिकन्दर को सौंप दिया।

इसके बाद कश्यप (धीर) सागर के तटीय पहाड़ी प्रदेशों को रौंदता हुआ सिकन्दर अफगानिस्तान की ओर बढ़ गया। अब उसको अपनी जीतों पर घमण्ड होने लगा था। अब वह स्वयं को अर्धेश्वर समझने लगा था और, अपने को पूजन का अधिकारी समझ, बिना नूतन किये अप्रतिरोधित समर्पण चाहता था। उसने ईरानी राजचिह्न व राजोचित वेशभूषा अंगीकार कर ली। इस कार्य ने उसके मेसेडोनियनों की सैनिक-टुकड़ियों में रोष उत्पन्न कर दिया। उनको सन्देह होने लगा कि उनका मूर्तिवत् समादरित नेता उनका तिरस्कार करने लगा था और उनसे विरक्त होने लगा था क्योंकि वह ईरानी राजोचित वेशभूषा को पहनकर दरबार में आता था और अन्य लोगों से निश्चित समर्पण भाव की अपेक्षा करता था। सिकन्दर की सेना



के विभिन्न वर्गों में घोर असन्तोष की लहर फैल गई। सिस्तान में प्रोपथे-  
निया के स्थान पर डेरा डाले हुई सेना में घोर विभेद फैल गया। अश्व-  
सेनाध्यक्ष फिलेटस एवं कुछ अन्य लोगों पर सिकन्दर की हत्या करने की  
संज्ञा लगा देने का आरोप लगाया गया। सिकन्दर ने उनको मौत के घाट  
उतारने का निश्चय तत्काल किया ही हुआ था, किन्तु फिर कुछ सन्मति आ  
गई। उसको स्पष्ट हो गया कि ऐसा कोई भी पग और भी विभेद पैदा कर  
देगा, तथा इसीलिए वह नरम पड़ गया।

ई० पू० ३२८ की वसन्त ऋतु में सिकन्दर ने हिन्दूकुश पार किया और  
गन्धर्व बैक्ट्रिया अपने अधीन कर लिया। विलुप्त होते दीख पड़ने वाले  
विभेद फिर से उभर आये। उस समय तक सिकन्दर पूरे रूप में मदोद्धत  
अधिपति बन चुका था। अनेक सैनिक-अधिकारीगण पर अपने अधिनायक  
के विरुद्ध पक्षपात करने का अभियोग लगाया गया और उनको मार डाला  
गया।

ज्यों ही उसकी सेनाएँ सिन्धु नदी की ओर बढ़ीं, त्यों ही भारतीय पठान  
जवाहरियों ने उनको निरन्तर छिपे हुए स्थानों से शत्रुओं पर आघात  
पहुँचा-गुँचाकर, तंग किया। वे उस समय भारत की बाह्य-प्रतिरक्षा-  
पंक्तियाँ थीं। एक किंवदन्ती के अनुसार यही वह समय था जब सिकन्दर ने  
पवित्र सायन्ट हुना और उसपर डियोनिअस का पथ खोज निकाला था।

जब सिकन्दर सिन्धु नदी पार कर भारतीय उप-महाद्वीप की सीमाओं  
पर जा खड़ा हुआ था। सिन्धु पार भारतीय प्रदेश में उत्तरी क्षेत्र में तीन  
राज्य थे। जेहलम नदी के चहुँ ओर के क्षेत्र पर राजा आम्बि राज्य करता  
था। हर्मोबिला उसकी राजधानी थी। चेनाब से लगे हुए क्षेत्रों पर पोरस  
का राज्य था, और एक तीसरा राजा कश्मीर के चहुँ ओर की अभिसार-  
भूमि पर शासन करता था। राजा आम्बि का पोरस में पुराना बैर था, अतः  
उसने सिकन्दर के आक्रमण के समय को अपनी शत्रुता का पूरा-पूरा बदला  
लेने का उपयुक्त अवसर समझा। अभिसार लोग पोरस और सिकन्दर, दोनों  
को मिलकर युद्ध-भूतल बनाए रखने का वचन देकर तटस्थ बैठने का  
निश्चय कर बैठे। इस प्रकार पोरस अकेला ही रह गया, जिसको सिकन्दर

का सामना करना था... सिकन्दर को आम्बि से सभी प्रकार की सक्रिय  
सहायता प्राप्त थी।

पारस्परिक वर्णनों में कोई तिथियाँ उपलब्ध नहीं हैं। सिन्धु के ऊपर  
एक स्थायी पुल बना लिया गया, और सिकन्दर की सेनाएँ भारत में प्रविष्ट  
हो गईं। आक्रामक सेना ने अटक के उत्तर में १६ मील पर पड़ाव डाला।  
ग्रीक-वर्णनों में अनेक असंगतियाँ, त्रुटियाँ और न्यूनताएँ दूँदी जा सकती हैं,  
क्योंकि उनके लिए इसका स्पष्टीकरण करना कठिन है कि उनके मूर्तिवत्  
समादरित एवं आत्मश्लाघी सिकन्दर ने भारत में अपकृत्य क्यों किए! इसी  
कारण वे यह चित्रण करने का ढोंग करते हैं कि अपनी विशालता के कारण  
सिकन्दर ने अपनी भारत-विजय के परिणाम व्यर्थ कर दिये थे, और वह  
अपनी मूल-भूमि को लौट गया था।

यह विस्मरण नहीं करना चाहिये कि सिकन्दर जब अपने देश को  
वापस चला, तबतक उसका मद झाड़ दिया गया था, उसका दिल टूट  
चुका था, वह स्वयं विषम रूप में घायल हो चुका था, एवं उसकी विशाल  
शक्तिशाली सेना बुरी तरह तहस-नहस हो चुकी थी।

प्लूटार्च के अनुसार २०,००० पदाति एवं १५,००० अश्वारोहियों की  
सिकन्दर की सेना पोरस द्वारा युद्धक्षेत्र में एकत्र की गई सेना से संख्या में  
बहुत ही अधिक थी। सिकन्दर की सहायता आम्बि की सेनाओं और पारसी  
सैनिकों ने भी की।

महाराष्ट्रीय ज्ञानकोष के सप्तम भाग के पृष्ठ ५३१ पर लिखा है कि  
सिकन्दर और पोरस की सेनाओं का परस्पर संघर्ष चेनाब नदी के तटों पर  
हुआ था। किन्तु कटियस लिखता है कि, "सिकन्दर जेहलम के दूसरी ओर  
पड़ाव डाले पड़ा था। सिकन्दर की सेना का एक भाग जेहलम के एक द्वीप में  
पहुँच गया। पोरस के सैनिक उस द्वीप में तैरकर पहुँचे; उन लोगों ने उसका  
पेरा डाल दिया और यूनानी अग्रिम दल पर हमला बोल दिया। उन्होंने  
अनेक यूनानी सैनिकों को मार डाला। मृत्यु से बचने के लिए अनेक यूनानी  
नदी में कूद पड़े, किन्तु वे सब उसीमें डूब गये।"

ऐसा कहा जाता है कि अपनी सेना सहित सिकन्दर ने जेहलम नदी को  
एक घनी अंधेरी रात में नावों द्वारा हरणपुर से ऊपर ६० मील की दूरी पर



तेज कटाव के पास पार किया। पोरस के अग्रिम-दल का नेतृत्व उसका पुत्र कर रहा था। भयंकर झुठभेड़ में वह मारा गया। ऐसा कहा जाता है कि इस दिन वर्षा हो रही थी और पोरस के विशालकाय हाथी दलदल में फँस गये। किन्तु यूनानी इतिहासकारों द्वारा दिए गये वर्णनों की भी यदि ठीक से सूक्ष्म-विश्लेषणा कर ली जाये, तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि पोरस की गज-सेना ने शत्रु-शिविर में प्रलय मचा दी थी और सिकन्दर की शक्तिशाली शौव को तहस-नहस कर डाला था।

एरियन ने लिखा है कि, "भारतीय युवराज ने सिकन्दर को घायल कर दिया और उसके घोड़े 'बूसे फेलस' को मार डाला।"

बस्टिन कहता है कि, "ज्योंही युद्ध प्रारम्भ हुआ, पोरस ने महानाश करने का आदेश दे दिया।"

अनावश्यक रक्त-पात रोकने के लिए पोरस ने (उदारतावश) केवल सिकन्दर से अकेले ही निपट लेने का प्रस्ताव रखा। सिकन्दर ने उस (वीर-प्रस्ताव) को अस्वीकार कर दिया। आगे जो युद्ध हुआ उसमें उसका मर्मांतक आघात के कारण उसीके नीचे ढेर हो गया। 'धड़ाम' से युद्ध-भूमि में गिर जाने पर सिकन्दर को शत्रुओं से घिर जाने का भय उत्पन्न हो गया, किन्तु उसके अंगरक्षक द्वारा वह वहाँ से लुक-छुपकर खिसका दिया गया।

पोरस के हाथियों द्वारा यूनानी सैनिकों में उत्पन्न आतंक का वर्णन करते हुए कटियस ने लिखा है—“इन पशुओं ने घोर आतंक उत्पन्न कर दिया था, और उनकी (तूर्यवादक जैसी) प्रतिध्वनित होने वाली भीषण चीन्कार न केवल घोड़ों को भयातुर कर देती थी जिससे वे बिगड़कर भाग लगे, अपितु घुड़सवारों के हृदय भी दहला देती थी। इसने इनके वर्गों में ऐसी भयदह मचायी कि अनेक विजयों के ये शिरोमणि अब ऐसे स्थान की ओर में लगे गये जहाँ इनको शरण मिल सके, अब सिकन्दर ने छोटे गम्भीरता से गुप्तजित अथेनियनों एवं थ्रेसियनों को आज्ञा दी कि वे गज-सेना के विरुद्ध कार्यवाही करें। इस प्रत्याघात से चिढ़कर उन आहत पशुओं ने कुदृष्ट हो, आक्रमणकारियों पर भीषण हमला कर दिया, जिसके परिणाम-स्वरूप वे आगे उनके पैरों तले रौंद डाले गये। सर्वाधिक हृदय-विदारक दृश्य तो वह था जब वह स्थूल-वर्म पशु अपनी सूँड से यूनानी सैनिक को

पकड़ लेता था, उसको अपने ऊपर वायु-मण्डल में अघर हिलीता था, और उस सैनिक को अपने आरोही के हाथों में सौंप देता था... जो तुरन्त उसका सिर धड़ से अलग कर देता था। इस प्रकार, परिणाम सन्देहास्पद था, कभी मेसेडोनियन लोग हाथियों के पीछे भागते थे, और कभी उनसे दूर-दूर भागने को विवश हो जाते थे। इसी प्रकार सारा दिन व्यतीत हो जाता था, और युद्ध चलता ही रहता था।"

डियोडोरस सत्यापित करता है कि, "विशालकाय हाथियों में अपार बल था, और वे अत्यन्त लाभकारी सिद्ध हुए। उन्होंने अपने पैरों तले बहुत सारे यूनानी-सैनिकों की हड्डियाँ-पसलियाँ चूर-चूर कर दीं। हाथी इन सैनिकों को अपनी सूँडों से पकड़ लेते थे और भूमि में जोर से पटक देते थे। वे अपने बिकरान गज-दन्तों से सैनिकों को गोद-गोदकर मार डालते थे।"

ये सब वर्णन स्पष्टतः प्रदर्शित करते हैं कि युद्ध या तो सूखी जमीन पर लड़ा गया था, अथवा यदि भूमि गीली भी थी, तो भी उसमें पोरस की गज-सेना दलदल में नहीं फँसी थी—जैसा कि असत्य प्रचारित किया जाता है।

पोरस की वीर सेना द्वारा शत्रु-हृदय में प्रस्थापित भयंकर आतंक के इन वर्णनों के होते हुए भी पक्षपातपूर्ण कुछ यूनानी वर्णनों में दावा किया गया है कि पोरस घायल हुआ था, पकड़ा गया था और उसकी सेना को शस्त्र त्याग करने पड़े थे।

अनुवर्ती घटनाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि उपर्युक्त धारणा मन-गढ़न एवं स्वार्थप्रेरित विभ्रान्ति है। यूनानी इतिहासकारों की इच्छा यही रहा है कि हम विश्वास करें कि असंख्य नरमेध, क्रूर हत्याओं और सम्पूर्ण समृद्ध नगरियों का ध्वंसकर्ता सिकन्दर उस समय अत्यन्त प्रफुल्लित हुआ था जब बन्दी बनाये जाने पर पोरस ने उससे निर्भीकता से अपने साथ राजा जैसा व्यवहार करने को कहा था, कि सिकन्दर ने न केवल उसे उसका प्रदेश उदारतावश वापस कर दिया था, अपितु अपनी ओर से भी कुछ और प्रदेश पोरस को दे दिया।

"ईथोपियाई महाकाव्यों" का सम्पादन करने वाले श्री ई० ए० डब्ल्यू० बेंज ने अपनी रचना में सिकन्दर के जीवन और उसके विजय-अभियानों का



वर्जन सम्मिलित किया है। उतका कहना है कि, "जेहलम के युद्ध में सिकन्दर की अश्व सेना का अधिकांश भाग मारा गया था। सिकन्दर ने अनुभव कर लिया था कि यदि मैं लड़ाई जारी रखूंगा, तो पूर्ण रूप से अपना नाश कर लूंगा। अतः उसने युद्ध बन्द कर देने के लिए पोरस से प्रार्थना की। भारतीय परम्परा के सत्पातुरूप ही पोरस ने शरणागत शत्रु का वध नहीं किया। इसके बाद दोनों ने एक सन्धि पर हस्ताक्षर किये। अन्य प्रदेशों को अपने साम्राज्याधीन करने में, फिर, पोरस की सहायता सिकन्दर ने की।"

सिकन्दर की पराजय के लिए श्री बैज द्वारा दिया गया कारण यह है कि उसके सैनिक युद्ध में अपने हजारों साथियों की क्षति से अति दुःखित हो चके थे। उन्होंने अपने शस्त्रास्त्र फेंक दिये और अपने नेता से शान्ति के लिए प्रयत्न करने की प्रार्थना की। श्री बैज का कहना है कि शान्ति की प्रार्थना करते समय सिकन्दर ने निवेदन किया था—“श्रीमान् पोरस! मुझे लगा कर दीजिये। मैंने आपकी शूरता और सामर्थ्य शिरोधार्य कर ली है। अब इन कष्टों को मैं और अधिक सह नहीं सकूंगा। दुःखी हृदय हो मैं अब अपना जीवन समाप्त करने का इरादा कर चुका हूँ। मैं नहीं चाहता कि मेरे सैनिक मेरे ही समान विनष्ट हों। मैं वह अपराधी हूँ जिसने इन सैनिकों को कराह काल के गाल में धकेल दिया है। किसी राजा को यह शोभा नहीं देता कि वह अपने सैनिकों को इस प्रकार मौत के मुँह में धकेल दे।”

अनुवर्ती घटनाओं द्वारा प्रस्तुत ऐसे स्पष्ट माक्ष्यों के होते हुए भी इतिहासकार उपर्युक्त उद्धरण को प्रक्षिप्तांश कहने और इसीलिए उनकी अयहोना करने के दुराग्रह पर अड़े हुए हैं। तर्क के लिए यह मान लेने पर भी कि उपर्युक्त उद्धरण प्रक्षिप्तांश ही हैं, हम यह प्रश्न करते हैं कि पोरस के सिर की डेनियस के सिर की भाँति काट लाने की शपथ खाकर युद्ध में प्रविष्ट होने वाले सिकन्दर ने न केवल पोरस को जीवन-दान दिया, अपितु उसको बन्दी अकस्मात् से मुक्त किया, उसको उसका सम्पूर्ण राज्य लौटा दिया और लक्ष्मण-वश पुरस्कार रूप कुछ और प्रदेश भी भेंट में दे दिया। यह उतना ही अपुन्ययुक्त है जितना यह कहना कि किसी पुरस्कार-वितरण-समारोह में महारा प्रकट होकर अपना शीश तीव्र-गति से क्रुद्धावस्था में

हिताने वाला भयंकर विषधर अकस्मात् ही मुस्कराता हुआ आकर्षक राज-कुमार बन गया और पुरस्कार-वितरण करने लगा।

यही तथ्य, कि पोरस ने सिकन्दर से अपना प्रदेश खोने की अपेक्षा कुछ जीता ही था, प्रदर्शित करता है कि सिकन्दर ने न केवल शान्ति के लिए क्षमा-याचना की, अपितु यह भी कि उसका पराभव इतना पूर्ण था कि उसे अपने कुछ भू-क्षेत्र भी पोरस को भेंट करने पड़े थे। इन यूनानी वर्णनों पर भी विश्वास करते हुए कि सिकन्दर ने कुछ भू-प्रदेश जीतने में पोरस की सहायता की थी, यह भी बिल्कुल स्पष्ट है कि अपना घमंड बिल्कुल चूर-चूर हो जाने पर सिकन्दर ने अत्यन्त दयनीयावस्था में पोरस का सहायक हो सेवा करना स्वीकार कर लिया और भारत में अतिक्रमण कर प्रविष्ट होने के दण्डस्वरूप पोरस के लाभार्थ कुछ भू-प्रदेश जीतने का वचन दिया। यह हो सकता है कि वह अतिरिक्त भू-प्रदेश घोषित रूप में शत्रु-भाव रखने वाले तक्षशिला के राजा आम्बि और राजनयिक-तटस्थता बनाए रखने वाले अभिसार लोगों का रहा हो।

सिकन्दर का सामर्थ्य प्राचीन भारत की प्रतिरक्षात्मक लीह-दीवार से टकरा कर ऐसा चूर-चूर हो गया था कि पोरस के साथ युद्ध के पश्चात् उसके सैनिकों ने और आगे युद्ध करने से बिल्कुल साफ़ इन्कार कर दिया। यह भली-भाँति कल्पना की जा सकती है कि जब पोरस अकेला ही सिकन्दर और आम्बि की मिली-जुली सामर्थ्य को धूल में मिला सकता था, तो सिकन्दर कभी-भी सिन्धु नदी के पार नहीं आता यदि केवल आम्बि की राष्ट्रभक्ति और न्यायबुद्धि पोरस के प्रति उसके शत्रु भाव की दास न हो जाती।

वापस जाने का विश्चय भी कर लेने के पश्चात्, यह स्पष्ट है कि सिकन्दर को उन प्रदेशों से होकर जाने की अनुमति नहीं मिली थी, जिनको उसने पहले जीता था और जिनको भली-भाँति जानता था।

यह लिखित तथ्य भी कि अभिसार ने सिकन्दर से मिलने से इन्कार कर दिया था, सिकन्दर की पराजय का संकेतक है। जैसा कि दावा किया जाता है, यदि वास्तव में सिकन्दर ने पोरस की शक्ति का पराभव किया होता तो अभी तक तटस्थ रहने वाला अभिसार शान्ति बनाये रखने एवं मित्रता-वर्जन करने के लिए झटपट सिकन्दर के पास दौड़कर गया होता।



ग्रीक-इतिहासकारों के अनुसार तो हमें विश्वास कर लेना चाहिये कि सिकन्दर की सेनाएँ बिना प्रतिरोध के, बिना किसी रोक-टोक के, वेनाब तक राबी नदी पार कर गई थीं। यह स्पष्ट रूप में दर्शाता है कि जब पोरस ने अपने तत्काल शत्रु सिकन्दर को आम्बि के उत्तरी प्रदेश और वहाँ से सिन्धु के पश्चिम की ओर वापस लौट जाने से मना किया था, तब पोरस ने हिमालय-दृढबलतावन अपने प्रदेश के मार्ग से सुरक्षित चले जाने में सहायता देने का आश्वासन दिया था, यदि सिकन्दर दक्षिण की ओर जाता।

पोरस की ओर से यह अत्यन्त दूरदर्शिता का पग था क्योंकि यदि उसने सिकन्दर को आम्बि के क्षेत्रीयमार्ग और वहाँ से अफगानिस्तान जाने की अनुमति दे दी होती, तो जैसा कि अनुवर्ती मुस्लिम आक्रमणकारियों ने अनेक बार किया, वैसा ही सिकन्दर ने भी कृतघ्नतापूर्वक अन्य आक्रमण करने के लिए सेना का पुनः एकत्रीकरण किया होता।

ज्यों ही सिकन्दर की सेनाओं ने राबी नदी पार की, त्यों ही भारत की द्वितीय सुरक्षा-शक्ति ने आना जौहर दिखाया। पोरस ने अपने ही भू-प्रदेश द्वारा उनकी संरक्षात्मक गृह-रचना में सन्तुष्ट कर दिया था। किन्तु उसे ज्ञात था कि हमारे वीर क्षत्रियों द्वारा पूर्ण सन्तुष्टता एवं उत्साहपूर्वक आरक्षित भारत के अन्य भागों से भी सिकन्दर अक्षत नहीं जा सकता था। इतना ही नहीं, जब वह अन्य रास्ते से लौटकर जाता तब उसकी वापसी पर उसकी पूरी चटनी बनायी जाती, और विश्व-विजेता होना तो दूर, उसे तो अमहाय एवं अकिञ्चनावस्था में पहुँचा दिया जाता। यही हुआ भी। अब, इतिहास की यह अवस्था ही ध्यान रखना चाहिये कि एक पराभूत शत्रु की अनेका पौरुष का सम्मान तो उस भारतीय महान् नेता और राजनीतिज्ञ के रूप में अवश्य किया जाना चाहिये जिसने सिकन्दर के अभिमान और उसकी सेना को चूर-चूर कर दिया था; और निमेष, शोकाकुल एवं प्रार्थनात्मकता के रूप में ही सिकन्दर को वापस घर भेजने के लिए बाध्य कर दिया था।

राबी और स्वाम नदी के मध्य-भाग में सिकन्दर की सेनाओं को अनेक बिकट लड़ाइयाँ लड़नी पड़ी थीं। प्राचीन काल में भारतीय सेनाएँ इतनी नावधान एवं कर्तकी थीं कि वे किसी भी प्रकार का सशस्त्र अतिक्रमण सहन

नहीं करती थीं। प्रत्येक नागरिक एक सैनिक था। राष्ट्रभक्ति का स्थान किसी भी प्रकार अविविन्न दयाभाव नहीं ले पाता था। व्यास के तट पर पहुँचते-पहुँचते सिकन्दर के सैनिकों ने और आगे कोई भी लड़ाई लड़ने में साफ़ इन्कार कर दिया क्योंकि गन्धर्वधारी होने के कारण उनको प्रत्येक पग पर रोका गया था, बिकट सशस्त्र प्रतिरोध किया गया था; वे भूखे रहे थे, उनको घर की याद सताने लगी थी, वे क्षत-विक्षत एवं युद्ध करने से थक चुके थे। वे अनेक युद्ध लड़ चुके थे। पोरस के साथ उनका युद्ध एशिया में चौथा एवं अन्तिम महान् संघर्ष था। इसकी भयावह स्मृतियाँ उनके लिए हृदय-कम्पित कर देने वाली थीं।

जिन मार्गों से सिकन्दर वापस जा रहा था, उनमें उसका आगमन अभि-मन्दनीय न होने के कारण सिकन्दर के भूखे मरते सैनिकों ने असावधान नागरिक-समुदायों को लूटना शुरू कर दिया। किन्तु इस तथ्य को यूनानी वर्णनों में इस असत्य दावे का प्रमाण कहकर प्रस्तुत किया गया है कि पोरस के तथाकथित पराभव के पश्चात् और अधिक प्रदेशों को जीतने एवं लूट का माल एकत्र करने के लिए सिकन्दर दक्षिण की ओर मुड़ गया।

सिकन्दर सिन्ध और मकरान के मार्गों से वापस गया। प्रत्येक स्थान पर उसकी शोचनीयावस्था को प्राप्त सेना के विभिन्न वर्ग भारतीयों द्वारा छुटपुट आक्रमणों, भुखमरी एवं रोगों से ग्रस्त होकर संख्या में कम-ही-कम होते गये।

इस वापसी के समय 'मलावी' नामक एक भारतीय जन-जाति ने सिकन्दर के यूनानी राक्षसी-झुण्डों का कड़ा मुकाबला किया। इसमें होने वाली अनेक मुठभेड़ों में स्वयं सिकन्दर भी घायल हुआ था। एक संघर्ष में तो उसके टुकड़े-टुकड़े कर दिये जाने वाले थे। प्लूटार्च ने उल्लेख किया है, "भारत में सबसे अधिक खूँखार लड़ाकू जाति मलावी लोगों के द्वारा सिकन्दर की देह के टुकड़े-टुकड़े होने ही वाले थे" अपनी छोटी-सी टुकड़ी और स्वयं अपने को ही इन बब्रर लोगों के तीर-भालों के भयानक संघातों से परेशान पाकर वह इन लोगों के मध्य में कूद पड़ा। उन लोगों ने हाथा-पाई तक में भयंकर आक्रमण किया। उनकी तलवारें और भाले सिकन्दर के कवच को भेद गये और उसे भयानक रूप में आहत कर दिया। शत्रु का



एक घर-संग्रह इतने प्रबल-वेग से हुआ था कि वह उसके जिरह-बक्तर को पार कर गया और उसकी पसलियों में घुस गया। सिकन्दर घुटनों के बल आ गिरा। उसी समय उसका घबू करवाल लेकर उसका शीघ्र उतारने के लिए दौड़ पड़ा। प्यूसेस्टस और लिम्नेयस ने स्वयं को सिकन्दर की रक्षा के लिए कर दिया, किन्तु उनमें से एक तो मार डाला गया और दूसरा अत्यन्त घायल हो गया।"

इसी मारकाट के बीच में सिकन्दर की गर्दन पर भारी मोटे सिरे वाली छड़ी का प्रहार हुआ। उसका अंगरक्षक उसे उसकी अचेतावस्था में ही किसी सुरक्षित स्थान पर ले गया।

जोते समय भी यूनानी राक्षसों ने अकथनीय अत्याचार किया है। बिडयोन्माइ अथवा पराजय-जन्य नैराश्य, दोनों ही अवस्था में सिकन्दर की यूनानी सेना अत्यन्त क्रूर व्यवहार करती थी। जब जनता उनकी सहायता करने से इनकार कर देती थी, तो वे अत्यन्त नृशंसतापूर्वक उन शान्त नागरिकों को सपट पड़ते थे और बच्चों व महिलाओं को मौत के घाट उतारने लगते थे।

मलावियों की ही भाँति म्यूज़िकन, ऑक्सीकन व साम्बुस (सभी भारतीय जातियाँ) सिकन्दर की अतिक्रमणशील सेना पर भीषण प्रहार करने की दृष्टि से संगठित हो गईं। अत्यन्त कठिनाई से और बुरी तरह पिटी हुई थोड़ी-सी सेनामात्र के साथ सिकन्दर सिन्धु नदी के मुहाने तक पहुँच पाया। चूँकि अपने सत्त्रों एवं सैनिकों की अजेयता में सिकन्दर का विश्वास भंग हो गया था, इसलिए उसने स्थल-मार्ग छोड़कर समुद्र के रास्ते जाने का विचार किया। उसने एक दल सैन्य-गतिविधि—अनुसंधानकार्य के लिए आगे भेज दी। किन्तु उसमें समुद्र मार्ग से जाने का भी उत्साह नहीं था। अतः अत्यन्त संकोचपूर्वक उसने बलूचिस्तान पार कर पश्चिम की ओर जाने का विचार किया। इस क्षेत्र में भी ओरिंटस लोगों ने यूनानी सेनाओं को भारी पीड़ा पहुँचायी। रसम, लन और पासनी पहुँचते-पहुँचते वहाँ का भीषण ताप उसने अग्रगण्य सैनिकों को ले बैठा। उनकी संख्या और भी कम हो गयी। थका-मोटा और निराश्रुत हो उसने मड़ें सिया पार किया और वहाँ कारमेनिया पहुँच गया। वहाँ कंटस के नेतृत्व में एक टुकड़ी और ती-सेरा

का एक भाग उससे आ मिला। कुछ कम शक्तपूर्ण क्षेत्र में इस प्रकार सेना के अंशों के आ मिलने से मार-मारकर गिरा दी गयी और लगभग विनष्ट कर दी गयी सेना में कुछ आशा का संचार हुआ। इन विजित प्रदेशों में भी सिकन्दर द्वारा निषुक्त राज्यपालों ने अपने असंयमी आचरण से स्थानीय जनता को कुपित कर रखा था। लोगों ने उनके विरुद्ध सशस्त्र विद्रोह कर रखा था। इसलिए सिकन्दर को उन राज्यपालों को बदलना पड़ा।

सिकन्दर को बहुत बार एक महान् और नेक राजा के रूप में चित्रित किया गया है। किन्तु एरियन लिखता है कि, "जब बैक्ट्रिया के बसूस को बन्दी बनाकर सिकन्दर के सम्मुख लाया गया, तब सिकन्दर ने अपने सेवकों से उसको कोड़े लगवाए, और उसके नाक और कान कटवा डाले। बाद में बसूस को मरवा डाला गया। सिकन्दर ने कई फ़ारसी सेनाध्यक्षों को नृशंसतापूर्वक मरवा दिया था। फ़ारसी राजचिह्नों को धारण करने पर सिकन्दर की आलोचना करने के अपराध में सिकन्दर को स्वयं अपने ही गुह अरस्तु के भतीजे कलस्थनीज को मरवा डालने में भी कोई सकोच नहीं हुआ था। क्रोधावस्था में उसने अपने ही मित्र क्लाइटस को मार डाला था। उसके पिता का विश्वासपात्र सहायक परमेनियन भी सिकन्दर के द्वारा मौत के घाट उतार दिया गया था। जहाँ कहीं भी उसकी सेना गयी, उसने समस्त नगरों में आग लगा दी, महिलाओं का अपहरण किया और बच्चों को भी तलवारों की धारों पर सूत डाला। 'ग्लिम्पसिस ऑफ वल्ड हिस्ट्री' के ७२वें पृष्ठ पर स्वर्गीय जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है कि, "सिकन्दर वृथाभिमानी, उद्धन और अनेक बार अत्यन्त क्रूर व हिंसक था। वह स्वयं को ईश्वर के समान ही समझता था। क्रोध के क्षणों में अथवा आवेशावस्था में उसने अपने ही सर्वोत्तम मित्रों के पुत्रों का वध किया, और महान् नगरों को उनके निवासियों-सहित ही पूर्णतः ध्वस्त कर दिया।"

अन्य धर्मों की महिलाओं में ईरान की दो शाहजादियों को सिकन्दर ने अपने घर में डाल लिया था। उसके सेनापतियों ने भी, जहाँ कहीं वे गये, अनेक महिलाओं को बलपूर्वक अपनी रखैल बनाकर रख लिया था।

भारत में उसका संघर्ष उसकी मौत का परवाना बन गया था। अपने घर वापिस जाते समय जब वह भीड़िया में शिविर डाले पड़ा था, उसकी



सेना में भयंकर विद्रोह फैल गया। सिकन्दर ने मेसेडोनियनों को बर्खास्त कर देने और अन्य प्रांतियों में से सेना में भरती कर लेने की धमकी दी। बहुत कठिनाई से विद्रोह शान्त हुआ और सिकन्दर ई० पू० ३२३ में बेबिलोन पहुँचा।

बेबिलोन से प्रस्थान करने की निश्चित तिथि से दो दिन पूर्व सिकन्दर अपने विश्व मोहिबम के घर पर एक भोज में गया हुआ था। भारत-विजय करने में सर्वोत्तम मस्तक नीचे झुक जाने की कटु-स्मृतियों को भुला देने के लिए अत्यधिक मद्यपान के कारण वह ज्वर-ग्रस्त हो गया। उस समय वह केवल ३३ वर्ष का था। ज्वर बढ़ा रहा था और भी तेज हो गया। १० दिन के बाद उसकी वाक्-शक्ति लुप्त हो गयी, और फिर ई० पू० ३२३ में जून की २८ तारीख को वह अचेतावस्था में मर गया। सिकन्दर के मरणोपरान्त 'भोगन' नामक एक पुत्र जन्मा था, किन्तु कुछ महीनों के भीतर ही सिकन्दर की पत्नी एक अवोध शिशु मार डाले गये।

सिकन्दर का उल्लेखनीय जीवन-वृत्त अकस्मात् अतिक्रमण से प्रारम्भ हुआ, किन्तु जब उसका साहस न्याय एवं विवेक की परिधि-सीमाओं को लांघ गया और जब उसने भारत की सुदृढ़ प्रतिरक्षा-पंक्ति से टकराने का यत्न किया, तब वह शिथिला हुआ, लड़खड़ाता हुआ वापस भेज दिया गया था। वह भारत में मरते-मरते बचा। बुरी तरह से घायल हो जाने के कारण जब वह भारत से लौटा, तो अपने घर पहुँचने से पूर्व ही मर गया। उसकी शक्तिशाली सेना पूर्णतः नष्ट-भ्रष्ट हो चुकी थी। अतः इतिहास को पुनः पौरस-सिकन्दर संघर्ष का मूल्यांकन कर पौरस को निर्विवाद रूप में विजेता प्रमाणित करना चाहिये। अब उपर्युक्त समय है कि यूनानी वृत्त-लेखकों के पक्षपातपूर्ण दावों को अत्यन्त सूक्ष्मता से जाँच-पड़ताल की जाये, जिससे सिकन्दर के भारतीय अभियान की सत्यता का ज्ञान हो जाय।

### आधार-ग्रन्थ सूची

- (१) प्रोफेसर हरिजिन्द्र सेट्स रिसर्च पेपर ऑन दि टॉपिक, रैंड एंड दि इलाहाबाद सेशन (१६३८) ऑफ दि इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस।
- (२) प्रोफेसर एम० एल० बोधनकर्स आर्टिकल्स ऑन दि टॉपिक।
- (३) महाभारतीय ज्ञानकोश।
- (४) ईश्वरप्रसाद टैक्सट्स एडिटेड बाई ई० ए० डबल्यू बेंज।
- (५) "प्राकृतिक और इतिहास हिस्ट्री" बाई जवाहरलाल नेहरू

भयंकर भूल : क्रमांक—१०

## आदि-शंकराचार्यजी का काल १२६७ वर्ष कम अनुमानित

भारतीय इतिहास के तिथिकाल-क्रम की अनेक समस्याओं में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कालक्रम का सम्बन्ध महान् दार्शनिक आदि श्री शंकराचार्यजी से है। महान् विभूति श्री शंकराचार्यजी सम्पूर्ण भारत में परम श्रद्धा से विश्व-वंश हैं क्योंकि उनकी अद्वैत-मीमांसा भारतीय अध्यात्मविद्या विचार प्रणाली की विशुद्धतम रूप मानी जाती है।

इस महान् दार्शनिक ने अनेक पीठ (मठ) स्थापित किये। इनमें चार पीठों ने परम्परागत रूप में अपने-अपने क्षेत्र में सर्वोच्च धार्मिक-दार्शनिक सत्ता का उपभोग किया है। ये चार पीठ हैं: उत्तर में बड़ी-केदारपीठ, पश्चिम में द्वारिका पीठ, पूर्व में जगन्नाथपुरी तथा दक्षिण में शृंगेरी पीठ। पाँचवीं पीठ—कांचीपुरम में—काया विसर्जित होने तक महान् विभूति श्री शंकराचार्यजी द्वारा सुशोभित होती रही।

श्री शंकराचार्य अत्यल्प जीवी रहे। वे केवल ३२ वर्ष जीवित रहे। किन्तु मूल समस्या यह है कि वे कौन से ३२ वर्ष तक जीवित रहे। भारत में ब्रिटिश लोगों के शासन काल में जिनका शब्द ही पूर्ण प्रभुत्व रहता था और जो आज भी अति पावन समझा जाता है, क्या उन पश्चिमी विद्वानों की मान्यतानुसार जैसा कि माना जाता है, श्री शंकराचार्यजी ईसा पञ्चाद ७८८ से ८२० वर्ष के कालखण्ड में इस भूतल पर विद्यमान थे? अथवा श्री शंकराचार्यजी ईसवी पूर्व ५०६ से ४७७ की अवधि में इस देश का मार्ग-दर्शन करते रहे, जैसा अनेक भारतीय विद्वानों का मत है!

इस विवाद में काल-सम्बन्धी प्रतिष्ठा का प्रश्न अत्युच्च है। सभी



दृष्टियों से १२६७ वर्ष की कृति एक अत्यन्त महत्त्व का विषय है क्योंकि यह भारतीय इतिहास के समस्त प्राचीन घटनाक्रम में परिवर्तन ला सकता है। इसका कारण यह है कि भारतीय इतिहास में श्री शंकराचार्यजी का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसलिए आवश्यक हो जाता है कि दोनों पक्षों द्वारा प्रस्तुत प्रमाणों का सम्यक् विवेचन किया जाये।

कांचीपुरम स्थित कामकोटि पीठ, जहाँ अपने पर्यटनशील आश्रमिक जीवन के पश्चात् श्री शंकराचार्यजी स्थायी रूप से निवास करने लगे थे, उनके द्वारा ईसा पूर्व ४८२ में स्थापित हुआ था। तबसे अद्यतन चले आ रहे अनुवर्ती आचार्यों की अविच्छिन्न शृङ्खला इनके पास है। वर्तमान आचार्य उस क्रम में ६८वें हैं। उत्तराधिकारियों में तीसरे श्री सर्वज्ञात्मन तथा चौथे श्री सत्यबोध कमलः ११२ और १०४ वर्ष तक धार्मिक व्यवस्था का संचालन करते रहे जबकि ३२वें आचार्य श्री चिदानन्दधन केवल ४ वर्ष ही अधोष्ठत रहे। ३६वें आचार्य श्री चित्मुखानन्द का कितने समय तक प्रभुत्व रहा, ज्ञात प्रतीत नहीं होता क्योंकि, यद्यपि उनका नाम सूची में समाविष्ट है, तथापि उनका कालखण्ड लिखा नहीं है।

ईसापूर्व ४८२ से १६६६ ईसवी तक—२,४४८ वर्षों तक शंकराचार्यों के रूप में अधोष्ठत ६८ महानुभावों में से प्रत्येक का औसत कार्यकाल ३६ वर्ष निकलता है जो असम्भव बात नहीं है, जबकि हमें ज्ञात ही है कि स्थाना-पन्न प्रत्येक आचार्य परम गूढ़ ब्रह्मचारी रहे हैं, जिन्होंने तपश्चर्या, संयम, मितव्ययिता एवं गृहि का आदर्श जीवन व्यतीत किया।

मृगेरी मठ की एक परम्परा द्वारा प्रतिपादित तीसरा मत यह है कि महान् शंकराचार्यजी ईसा पूर्व ४ में विद्यमान थे।

अब हम अनन्तधी विभूषित आदि-शंकराचार्यजी के जीवनकाल के समय का निर्धारण करने के लिए उपलब्ध साधन का सम्यक् विवेचन करेंगे।

(१) कम्कोटिया के एक अभिलेख (शिलालेख) में शिवसोम का उल्लेख मिलता है। यह शिवसोम 'भगवान् शंकर' के शिष्य के रूप में वर्णित है।

शिवसोम इन्द्रवर्मन का गुरु था। इन्द्रवर्मन ८७८-८७९ ई० के आस-पास जीवित रहा, ऐसा ज्ञात है। यह साधन के रूप में उद्धृत किया जाता है कि शंकराचार्य सन् ७६८ से ८२२ ई० तक रहे थे। इस मत की अस्वीकृत

करते हुए यह उल्लेख करना समीचीन है कि महान् शंकराचार्यजी के शिष्यों की सूची में किसी भी शिवसोम का कहीं कोई नाम नहीं है। साथ ही, ऐसा प्रतीत होता है कि किसी परवर्ती शंकराचार्य की अपेक्षा, शिवसोम का नाम आदि-शंकराचार्यजी के नाम के साथ भूल से जोड़ दिया गया है क्योंकि जब से शंकराचार्यों की पीठ की स्थापना हुई है, तभी से उनको अत्यन्त पूज्य-भाव से सम्मानित किया गया है।

(२) "सौन्दर्य लहरी" नामक एक ग्रन्थ महान् शंकराचार्यजी प्रणीत कहा जाता है। इसके ७५वें पद में 'द्राविड शिशु' के रूप में तमिल सन्त तिरुज्ञानसम्बन्ध की ओर संकेत निर्दिष्ट माना जाता है। चूँकि वह सन्त ईसा पश्चात् ७वीं शताब्दी में था, इसीलिए तर्क दिया जाता है कि उसका यश फैले हुए दक्षिण भारत में कम-से-कम एक शताब्दी तो हो चुकी होगी और श्री शंकराचार्य, जो उस सन्त का सन्दर्भ देते हैं, स्वयं तो अवश्य ही ८वीं शताब्दी में हुए होंगे। इस तर्क में अनेक न्यूनताएँ देखी जा सकती हैं। सर्व-प्रथम तो यह धारणा ही निराधार प्रतीत होती है कि किसी व्यक्ति की कीर्ति सम्पूर्ण देश में फैलने के लिए एक शताब्दी से न तो अधिक और न ही कम समय की आवश्यकता होती है। दूसरी बात यह है कि 'सौन्दर्य लहरी' आदि-शंकराचार्यजी की रचना है, यही धारणा अत्यन्त संदिग्ध है। कुछ भी हो, पूरी की पूरी तो यह किसी भी प्रकार उनकी रचना नहीं है। ऐसा सम्भव है कि यह किसी अन्य परवर्ती शंकराचार्य की कृति हो।

(३) यह बलपूर्वक कहा जाता है कि शंकराचार्यजी के सभी वर्णनों में "पूर्वमीमांसा" नामक दार्शनिक लघु-ग्रन्थ के रचयिता श्री कुमारिल भट्ट को मिलने का सन्दर्भ आता है। अतः चूँकि कुमारिल भट्ट "सन् ७०० ई० से पूर्व" नहीं हुए, उनसे आयु में पर्याप्त रूप से छोटे होने के कारण शंकराचार्यजी ८वीं शताब्दी में ही हुए होंगे। इस मत को अस्वीकार करते हुए यह कहना आवश्यक है कि ठीक है, वे दोनों व्यक्ति समकालीन थे, किन्तु कुमारिल भट्ट ही आज तक माने गये काल में सैकड़ों वर्ष पूर्व की विभूति प्रतीत होते हैं। अतः यह विश्वास करने के स्थान पर कि कुमारिल भट्ट और शंकराचार्य ८वीं शताब्दी (ईसवी पश्चात्) में हुए, अधिक सही यह प्रतीत होता है कि ये दोनों ही महानुभाव ईसवी पूर्व छठी शताब्दी में विद्यमान थे।



(४) ऐसा कहा जाता है कि शंकराचार्यजी के 'सूत्र-भाष्य' में पुराणों में प्रतिपादित वायुपुत्र-सिद्धान्तों का प्रतिकार किया गया है। पुराणों का समय ईसा पश्चात् चौथी शताब्दी कहा जाता है। यह प्रमाण स्वरूप प्रस्तुत किया जाता है कि शंकराचार्य ईसा पश्चात् ८वीं शताब्दी में हुए थे। इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि स्वयं पुराणों का काल-निर्धारण ही दोषहीन नहीं है। पश्चिमी विद्वानों की साग्रह धारणा रही है कि भारतीय सभ्यता बहुत अधिक प्राचीन नहीं है। उन लोगों ने अपनी इस पूर्वकल्पित धारणा के नाशकत्व में सभी भारतीय तिथिकर्मों को तोड़ा-मरोड़ा है। इसलिए उन लोगों द्वारा पुराणों का काल-निर्धारण स्वयं ही प्रश्नास्पद है।

(५) आन्तरिक की 'तत्त्व समग्रह' पर कमलशील की टीका से एक उद्धरण भी 'सूत्र-भाष्य' में समाविष्ट कहा जाता है। यहाँ निवेदन है कि सम्भव है स्वयं कमलशील ने ही शंकराचार्य के 'सूत्र-भाष्य' से यह उद्धरण ले लिया हो। हम लोग अभी तक उलटा ही समझते रहे हों।

(६) कहा जाता है कि श्री शंकराचार्य ने बौद्ध विद्वानों असंग, दिन्नाग, नागार्जुन तथा अम्बोधय के मतों का खण्डन किया है। विचार किया जाता है कि ये चारों विद्वान् ईसा पश्चात् तीसरी शताब्दी से पूर्व जीवित न थे, अतः शंकराचार्य ईसा पश्चात् ८वीं शताब्दी में ही रहे होंगे। इस मत के खण्डन में कहना पड़ेगा कि यद्यपि शंकराचार्यजी ने निस्सन्देह रूप में बौद्ध-मीमांसा के तीनन्त्र विज्ञानवाद तथा शून्यवाद की विचारधाराओं का खण्डन किया है, तथापि उन्होंने असंग, दिन्नाग अथवा नागार्जुन का कहीं भी नामोल्लेख नहीं किया है। वे बौद्ध-सिद्धान्त तो उन बौद्ध-विद्वानों के जीवन काल में प्रचारित होने में बहुतकाल पूर्व ही जनता में प्रचलित हो चुके थे। अतः शंकराचार्य द्वारा अन्वहित सिद्धान्त तो असंग, दिन्नाग अथवा नागार्जुन से बहुत समय पूर्व के हैं। साथ ही, यह भी सम्भव है कि ये तीनों महानुभाव भी ईसा पश्चात् तीसरी शताब्दी से पूर्व ही हुए हों।

(७) कहा जाता है कि श्री शंकराचार्यजी सुप्रसिद्ध संस्कृत कवि भर्तृहरि के पश्चात् हुए थे। भर्तृहरि का समय ईसा पश्चात् ६००-६५० आंका जाता है, अतः अनुमान किया जाता है कि शंकराचार्यजी ८वीं शताब्दी में थे। इसमें सन्देह नहीं कि भर्तृहरि शंकराचार्यजी से पूर्व विद्यमान थे, किन्तु

यह दावा कि भर्तृहरि ७वीं शताब्दी ईसा पश्चात् जीवित थे, स्वयं ही प्रश्नास्पद है।

(८) शंकराचार्यजी का काल-निर्धारण ईसा पश्चात् ८वीं शताब्दी में करने वाले लोग अपने पक्ष में दो तिथि-पत्रों का उल्लेख करते हैं। शृंगेरी पीठ की एक शाखा से सम्बंधित एक तिथि-पत्र श्री शंकराचार्यजी का जन्म ईसा पश्चात् ७८८ व मृत्यु ८२० ई० निर्धारित करता है। तिथि-पत्र निम्न-लिखित है।

दुष्टाचार-विनाशाय प्रादुर्भूते महीतले,  
स एव शंकराचार्य साक्षात्कव्यनायकः  
निधिनागेभवह्यब्दे विभवे शंकरोदयः॥

'निधिनागेभवहि' सूत्र से हमें ६४८३ का अंक मिलता है। उसका क्रम पलटना होगा क्योंकि अंकों को प्रस्तुत करने की संस्कृत-प्रणाली अन्यान्य प्रणालियों से उलटी है। तब कलियुग का ३८४६वाँ वर्ष आ जायेगा, चूँकि कलियुग का प्रादुर्भाव ईसा पूर्व ३१०२ में हुआ था। इसका अर्थ यह होगा कि श्री शंकराचार्य का जन्म ३८८६—३१०२—७८७ ई० में हुआ था। "चन्द्रनेत्रांक भवह्यब्दे" वाला दूसरा सूत्र शंकराचार्यजी की निधन-तिथि ८१६-२० ई० सिद्ध करता है।

उपर्युक्त साक्ष्य का खण्डन करने के लिए, हमें अन्य विवरणों की ओर भी ध्यान देना होगा, जो दृष्टि से ओझल हो गये प्रतीत होते हैं। 'निधिनागे-भवहि' वर्ष प्रस्तुत करने वाला तिथि-पत्र ही हमें शंकराचार्यजी की जन्म-तिथि का दिन भी साक्ष्यरूप में प्रस्तुत करता है। इसमें "विभवे माघवे मासि दशम्यां शंकरोदयः" है जिसका अर्थ यह है कि 'विभव' के चक्रवत् वर्ष के वैशाख मास के चन्द्र पक्ष की दशमी तिथि को श्री शंकराचार्यजी का प्रादुर्भाव हुआ था। शंकराचार्यजी का जन्म ईसा पश्चात् ८वीं शताब्दी में मानने वाले लोगों का पक्ष इस सूत्र के कारण कमजोर पड़ जाता है, उनके छक्के छूट जाते हैं क्योंकि शंकराचार्यजी का जन्म चक्रवत् वर्ष 'सन्दन' (न कि विभव) सभी लोग पंचमी स्वीकार करते हैं (दशमी नहीं)। यही जन्म शताब्दी है जो सम्पूर्ण भारत में मनाई जाती है।

इस भ्रान्ति की उत्पत्ति का कारण यह है कि जो वर्ष आदि-शंकराचार्य



जी का जन्म-वर्ष विवादित किया जाता है, वह वास्तव में ३८वें उत्तरा-  
धिकारी अभिनव शंकराचार्य का जन्म-वर्ष है। ये अभिनव शंकराचार्यजी  
ईसा पश्चात् ७८८ से ८४० तक कामकोटि पीठ के अधिष्ठाता रहे हैं।

महाशिव बोधो ने की 'गुरुतन मालिका' पर 'सुषमा' नामक अपनी  
टीका में आत्मबोध ने अभिनव शंकराचार्य की जन्म-तिथि की ओर निम्न-  
लिखित सूचित किया है—

“विभवे दशममे शुक्ल पक्षे दशमीदिनमध्ये शेषविधिपदिशानलवर्षे” :  
अर्थात् वे 'विभव' चक्रीय वर्ष में, शुक्ल पक्ष की दशमी को दिन में कलियुग  
के ३८८२वें वर्ष में—तदनुसार ईसा पश्चात् ७८८ में जन्मे थे।

महेश महाशिव बोध की "पुण्यश्लोक-मंजरी" भी आत्मबोध के मत की  
इस प्रकार पुष्टि करती है—

“द्वेष्टाते विभवे सिते च दशमीमध्ये विवस्वानिव,  
स्वावासमितकंजपुंजिततमस्काण्डाभंटीखण्डनः।”

चूँकि विभिन्न आध्यात्मिक केन्द्रों के अनुवर्ती आचार्यों को सभी सम-  
कालीन व्यक्ति शंकराचार्य कहकर ही उल्लेख करते रहे हैं, इस कारण प्रथम  
शंकराचार्यजी का जीवनचरित कामकोटि पीठ के ३८वें आचार्य अभिनव  
शंकर के साथ घुल-मिल गया। यह परस्पर घोलमेल उन दोनों के जीवन की  
घटनाओं में अन्तर्गत सादृश्य होने के कारण हुआ।

आदि शंकराचार्यजी का जन्म मातावार स्थित कालटी में हुआ था।  
अभिनव शंकर चिदम्बरम् में जन्मे थे। किन्तु एक अन्य परम्परा के अनुसार  
आदि शंकर भी चिदम्बरम् के निवासी थे। उन दोनों ने भारत की अत्य-  
धिक यात्रा की। आदि शंकराचार्य की ही भाँति अभिनव शंकर भी कज्जोर  
गढ़ के और वहाँ कुछ समय के लिए सर्वज्ञ पीठ की अध्यक्षता की थी।  
उसके पश्चात्, वे कैलाश की ओर गये, दत्तात्रेय गुफा में प्रविष्ट हुए और  
फिर उनके दर्शन सही हुए।

‘माधवीय शंकर विजय’ ने स्पष्ट रूप में दोनों को मिला-जुला दिया है।  
और अभिनव शंकर की निबन्धों को आदि शंकराचार्य से जोड़ दिया है।  
परिचयों का अंगीकार-स्वागत कीर्ति में हुआ।

अभिनव शंकराचार्य का देहावसान ५८ वर्ष की आयु में ईसा पश्चात्

८४० में हुआ। फिर भी, जिस किसी ने उनके सम्बन्ध में भ्रम उत्पन्न  
किया, वह इतना सावधान तो अवश्य था कि उसने अभिनव शंकराचार्य को  
भी ३२ वर्ष जीवन व्यतीत करने का श्रेय दिया क्योंकि आदि-शंकराचार्य  
केवल ३२ वर्ष ही जीवित रहे, ऐसा ज्ञात ही है। यह कार्य अभिनव शंकरा-  
चार्य की मृत्यु-तिथि २० वर्ष घटाकर किया गया। इस प्रकार शृंगेरी पीठ  
की एक शाखा विश्वास करती है कि आदि-शंकराचार्य का गुहा-प्रवेश (गुफा  
में घुसना अर्थात् देह-त्याग) 'कल्पदे चद्रनेत्राकवह्यदे' तदनुसार ८२० ईसवी  
में हुआ था।

इस सम्बन्ध में हम 'पुण्यश्लोक-मंजरी' का भी उल्लेख कर लें जो  
अभिनव शंकर की मृत्यु ऐसे बताती है : “सिद्धार्थि न्ययनेऽप्युदच्चिनिशुचौ  
दर्शोऽहि काले कलेविद्याशेषविधि पावके गुरुभूत सच्चिद्विलासोमुनिः” जिसका  
अर्थ यह है कि उनकी मृत्यु सिद्धार्थी चक्रीय वर्ष में, आपाढ़ मास के नवीन  
चन्द्रोदय के दिन अर्थात् ८४० ईसवी में हुई थी।

यदि हम आदि-शंकराचार्यजी की मृत्यु से सम्बन्धित शृंगेरी मठ का  
पूर्व सन्दर्भ सही मान लें, तो यह सम्भव नहीं है कि कामकोटि पीठ के ३८वें  
आचार्य अभिनव शंकराचार्य की मृत्यु केवल मात्र २० वर्ष के अन्तर से ही  
हो गयी। अतः ८२० ईसा पश्चात् के वर्ष में शंकराचार्य की मृत्यु का सन्दर्भ  
अभिनव शंकराचार्य की मृत्यु से है। ईसा पश्चात् का ८२०वाँ वर्ष तथ्य रूप  
में ८४० ईसवी होना चाहिये जैसा कि ऊपर कहा गया है।

इस प्रकार जो लोग आदि-शंकराचार्य का ईसवी सन् ८वीं शताब्दी में  
होना मानते हैं वे वास्तव में शंकराचार्यों की शृंखला में ३८वें आचार्य अभि-  
नव शंकराचार्य से भ्रान्ति-ग्रस्त हो जाते हैं। उत्तरकालीन विद्वानों की यह  
भ्रान्ति आत्मबोध ने पहले ही देख ली थी, जब उसने १७वीं शताब्दी के  
प्रथम चतुर्थांश में अपनी पुस्तक 'सुषमा' की रचना की थी। उसने लिखा  
है : इत्यादिना मूलकारे-पौष प्रपंचायिष्यमाणेभ्यो नगशंकरेन्द्रादिभ्यः अस्य  
भेदाग्रहणजन्मदिनिवजय निर्माण प्रमुखेषु स्थलेषु तयोर्द्वयोरपि वृत्तजातमेकतः  
नगानीकृत्यनिवबन्धुः अस्य किमपि किमप्यर्वाचीनाः अविदित भुवन वृत्तान्तः  
कतिपये कवयः इत्यवगंतव्यम् (सुषमा-१६)।

‘माधवीय शंकर विजय’ नामक ग्रन्थ (७२) में कहा है कि (आदि-



२१६

शंकराचार्य की माता) आर्याम्बा की कोख में एक पुत्र-रत्न का उस शुभ मूल में जन्म हुआ था जिस समय सूर्य, मंगल और जनि उच्चस्थ थे और गुरु नक्षत्र केन्द्र में था : जायासति शिवगुरोः निजतुंगसस्थे सूर्ये, कुजे रवि नृदेव गुरोच केन्द्रे ।

इस पद की एक विचित्र बात यह है कि प्राच्य पद्धति के विपरीत, "माधवीय शंकरविजय" का लेखक, चाहे वह कोई भी रहा हो, प्रचलित भारतीय संवत्सरों में से किसी के भी अनुसार शंकराचार्यजी की जन्मतिथि नहीं लिखता और न ही वह चन्द्र-तिथि अथवा शुभ ग्रहों का उल्लेख करता है। ये और विमर्शितियाँ हैं जो उसके साक्ष्य को निर्मूल कर देती हैं। ये न्यून-ताप किमी भी मूल भारतीय जन्मपत्री में नहीं मिलतीं।

मुंजरी पीठ में उपलब्ध आदि-शंकराचार्यजी की जन्मपत्री के अनुसार उनकी जन्मतिथि ३०५८ कलि, ईश्वर संवत्सर, रविवार, वैशाख मास के कृष्ण की पंचमी है। किन्तु जन्मपत्री के अनुसार ग्रहों की स्थिति न तो ईसापूर्व ४४ की जन्मपत्री से मिलती है और न ही ईसा पश्चात् ७८८ वाली से। अतः या तो जन्मकुण्डली सत्य है अथवा निष्कार्य रूप कलि-वर्ष ३०५८ अशुद्ध है। किन्तु कौड़े से समझन से ही यह ईसा पूर्व ५०६ की जन्मकुण्डली से मेल खाता है। इसका विजद विवेचन हम बाद में करेंगे। इस समय तो इतना ध्यान रखना ही पर्याप्त है कि दोनों विभिन्न वर्गों द्वारा शंकराचार्य जी का जन्म-वर्ष ईसा पूर्व ४४ अथवा ईसा पश्चात् ७८८, संवत्सलत है।

(६) ऐसा दावा किया जाता है कि शंकराचार्यजी के महाभाष्य के निर्माण अध्याय के अन्तर्गत प्रथम खण्ड के १८वें सूत्र में ध्रुघ्न और पाटलि-पुत्र नाम के प्राचीन भारत के दो नगरों का उल्लेख है। ईसा-पश्चात् ७५६ में महा भयंकर बाढ़ के कारण पाटलिपुत्र नष्ट हो चुका था, अतः वे उस समय से पूर्व ही रहे होंगे। यह तर्क अपुक्तिपूर्ण है क्योंकि हम विभिन्न सन्दर्भों से बालिकान और निमवेह जैसे अविद्यमान नगरों का भी उल्लेख करते हैं।

(१०) इसी भाष्य में श्री शंकराचार्यजी ने "पुनर्वर्मेन बाँझ महिला के पुत्र के सिंहासन पर बैठे" जैसे वक्तव्यों की अयुक्तियुक्तता की ओर भी ध्यान आकर्षित किया है। इससे कुछ अन्वेषकों को सुदूर जावा में राज्यासीन समकालीन पुनर्वर्मेन राजा का ज्ञान हो जाता है। उसी नाम का एक और

राजा पश्चिमी मगध पर राज्यासक्त था, ऐसा उल्लेख ह्वेनसांग ने किया है। और चूँकि शंकराचार्यजी ने अपना भाष्य वाराणसी में लिखा है, इसलिए मगध का पुनर्वर्मेन उनके मस्तिष्क में अवश्य ही रहा होगा। चूँकि ६३७-६८ ईसवी में ह्वेनसांग मगध में ही था, इसलिए पुनर्वर्मेन उसी काल में निश्चय ही सिंहासनासक्त हुआ होगा।

यह अत्यन्त धूर्ततापूर्ण एवं दुरुह तर्क है। आदि-शंकराचार्य जैसे दार्शनिक को आत्मविद्या-विषयक व्याख्या करते समय किसी जीवित व्यक्ति का नामोल्लेख करने की आवश्यकता न थी। ऐरा-गैरा, नत्थू-खैरा की ही भाँति पुनर्वर्मेन भी कोई कल्पित नाम ही हो सकता था। वह पुनर्वर्मेन कौन था, यह पता करने का यत्न करना तो बालोचित है। यदि वह मत्तमुच ही कोई समकालीन व्यक्ति था, तो फिर यदि सम्भव हो, उस बाँझ महिला व उसके पुत्र (?) को भी खोजने का प्रयत्न क्यों न किया जाये।

इसके विपरीत, विधायक साक्ष्य उपलब्ध है कि आदि-शंकराचार्य का समकालीन मगध का राजा 'हाल' था। सदाशिव ब्रह्मेन्द्र की 'गुरु-रत्न मालिका' (२१) में 'अपिहालपालपालितः' का उल्लेख करते समय कहा गया है कि 'हाल' आंध्र-वंशोद्भव था जिसने कलि संवत्सर २६०८-२६१३ तदनुसार ४८४-४८९ ई० पू० में राज्य किया था। राजतरंगिणी में उल्लेखित कश्मीर के गोनन्द-वंश के 'नर' का समकालीन ही 'हाल' राजा था।

(११) 'माधवीय शंकर विजय' ग्रन्थ आदि-शंकराचार्य की वाण, मयूर, दण्डी का समकालीन उल्लेख करता है : स कथाभिरवन्तिषु प्रसिद्धान्वि-बुधान। शिथिलीकृतदुर्मदाभिमान् निजभाष्यश्रवणोन्मुकांश्च—पकारो।

चूँकि प्राध्यापक वेबर, बूह्लर और मैक्समूलर का मत है कि दण्डी छठी शताब्दी ईसवी की समाप्ति के निकट ही जीवित थे, और वाण व मयूर ७वीं शताब्दी ईसवी के प्रारम्भ में थे, अतः विश्वास किया जाता है कि आदि-शंकराचार्यजी भी उसी समय के आसपास जीवित रहे होंगे।

यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि 'माधवीय शंकरविजय' रचना को अत्यन्त अविश्वसनीय ग्रन्थ समझना चाहिये क्योंकि यह (११वीं शताब्दी ईसवी के) श्री कान्ताचार्य और (१०वीं शताब्दी ईसवी के) अभिनवगुप्त की भी आदि-शंकराचार्य का समकालीन घोषित करती है। यह तो इस प्रकार







तथा सूर्यवार जो मास के चन्द्रपक्ष की पंचमी को था। धनु राशि उच्च स्थानीय थी और पुनर्वसु नक्षत्र विद्यमान था। उल्लेखयोग्य बात यह है कि सम्पूर्ण भारत में, प्रतिवर्ष, शंकराचार्यजी की जन्म-शताब्दी उपर्युक्त तिथियों के अनुसार ही मनायी जाती है। अतः ई० पू० ५०६ में शंकराचार्यजी का जन्म होने के सम्बन्ध में आधिकारिकता विषयक कोई सन्देह किसी के मन में रहना नहीं चाहिये।

उन तिथि से द्वारिकापीठ में ७६ पुरी में १४० तथा कामकोटि पीठ में ६० उत्तराधिकारी आचार्यों की अविभूखलित परम्पराएँ चली आ रही हैं। इन तीन महान् केन्द्रों की परम्परा को सहज ही दृष्टि-ओझल कर उपेक्षित नहीं किया जा सकता।

सत्ताद् सुधन्वा द्वारा स्वयं आदि-शंकराचार्यजी को सम्बोधित करते हुए एक ताम्र-पत्र अभिलेख भी है। द्वारिकापीठ के एक आधुनिक आचार्य प्रणोन पदमय्य' ग्रन्थ के २६वें पृष्ठ पर यह अभिलेख छपा हुआ है। इस अभिलेख की तिथि मुर्छिष्ठिर-युग की २६६३ है जो ४७२-४७७ ई० पू० बनती है।

झगनावनपुरी स्थित गोवर्धनपीठ का तिथिक्रम द्वारिका के तिथिक्रम से भिन्न होता है।

राजनीतिक दखल-पूखन के कारण बहुविध इतिहास वाले शृंगेरी नठ की भी अपनी परम्परा है जिसके अनुसार आदि-शंकराचार्य ४४ ई० पू० में हुए थे, न कि ८वीं शताब्दी ई० में।

कामकोटि में शंकराचार्यजी से चली आयी अनुवर्तियों की परम्परा 'पुण्य-श्लोक मञ्जरी', 'गुरु-रत्न-मालिका' तथा 'सुप्रभा' में अभिलिखित है।

'पुण्य-श्लोक मञ्जरी' में कामकोटि पीठ के ५४वें आचार्य श्री नवर्ज महाशिव बांध द्वारा संग्रहीत २०६ पद हैं। वे आचार्यश्री १६वीं शताब्दी में जीवित थे। वे घोषित करते हैं कि अधिकांश पद अनि प्राचीन हैं, जो दुर्गों में अनुवर्तियों की क्रमानुसार प्राप्त हुए हैं। वे पद पूर्ववर्ती आचार्यों के मृत्यु-समाचार के पदार्थ वर्णन हैं जिनमें प्रत्येक आचार्य की मृत्यु की तिथि, मान, धर्म तथा उपासना का उल्लेख समाविष्ट है। दिवंगत आचार्यों की पावन-स्मृति

में श्रद्धांजलि समर्पित करते समय उनका पुण्य-वाचन करना ही उन पदों का प्रयोजन था।

'गुरु-रत्न-मालिका' में ८६ सुन्दर तथा संक्षिप्त सुगठित पद हैं जो कामकोटि पीठ के ५५वें आचार्य श्री परमनिवेन्द्र सरस्वती के एक शिष्य श्री सदाशिव ब्रह्मेन्द्र द्वारा संग्रहीत हैं। उन पदों में आदि-शंकराचार्यजी के समय से चली आयी पीठ की उत्तराधिकारी-परम्परा का उल्लेख है।

'सुप्रभा' 'गुरु-रत्न-मालिका' पर आत्मबोध द्वारा लिखी गयी टीका है। आत्मबोध कामकोटि पीठ के ५८वें आचार्य श्री अध्यात्म प्रकाशेन्द्र सरस्वती के शिष्य थे, वे 'पुण्यश्लोक' पर लिखे गए भाष्य 'मकरन्द' के भी रचयिता हैं। उनकी रचना अन्यन्त उच्चकोटि की तथा ऐतिहासिक प्रतिभा-सम्पन्न है जिसकी प्रशंसा प्रत्येक पाठक को करनी ही पड़ती है।

इतिहासकारों ने कामकोटि, पुरी, द्वारिका और कुण्डली पीठों में संग्रहीत अभिलेखों की अत्यधिक समानता के तथ्य की घोर उपेक्षा की है। शृंगेरी एकमात्र अपवाद है। यह कल्पना करना तो अत्यन्त अनुचित बात है कि पूर्वकालीन चारों केन्द्रों के आचार्यों ने किसी पूर्व समय में दुरभिसन्धि की और भावी-संतति को अपनी प्राचीनता के प्रति पथभ्रष्ट करने के लिए उन जाली अभिलेखों की रचना कर डाली। कभी एकत्र होना तो दूर, अपने पवित्र, साधारण और पूर्ण सदाचारी जीवन के लिए विख्यात वे आचार्य सामूहिक रूप में और व्यक्तिगत रूप में कभी भी इतनी क्षन्तव्यता की स्थिति को प्राप्त नहीं हुए होंगे कि अपने एक ही संस्थापक के जीवन की घटनाओं और तिथियों को जोड़-तोड़ दें; ऐसा तो किसी भी प्रकार उपहास के लिए सम्भव नहीं है, किसी भौतिक लाभ की लेशमात्र इच्छा भी नहीं हो सकती थी उन पुण्यात्माओं में।

आधुनिक इतिहासकारों ने अपने आपको कुछ विशिष्ट तिथि-क्रमों से बांध रखा है, जिनको वे समझते हैं कि वे अकाट्य रूप में अत्याज्य हैं। वे प्रथम नाक्ष्यों से पुष्ट उन तिथियों को स्वीकार करने से इन्कार कर देते हैं जो उनकी धारणा की जड़ें हिला देते हैं। किन्तु यह तो क्रान्तिकारी परिवर्तनों का युग है। युगों प्राचीन वैज्ञानिक मान्यताओं में भी भारी परिवर्तन व सुधार



हो रहे हैं। अतः वह कहना बनाना व्यर्थ है कि १७वीं-१८वीं शताब्दी की ऐतिहासिक मान्यताएँ अटल और अप्रतिवादीय हैं।

आदि-शंकराचार्यजी की जन्मतिथि ई० पू० ५०६ घोषित करने वाला विधि-पत्र जैन-अधिलेख 'जिनविजय' द्वारा सम्बल प्राप्त करता है यद्यपि बाह्य रूप में स्पष्टतः वह शंकराचार्यजी के विरोध में है। यह युधिष्ठिर-युग की ओर संकेत करता है जो युधिष्ठिर के राज्याखंड होने की तिथि से मेल खाता है। यह वर्ष कलियुग प्रारम्भ होने से ३६ वर्ष पहले था अर्थात् ३१३८ ऋष ३६ = ३१०२ ई० पू०।

जैनियों का युधिष्ठिर-युग ४६८ कलि अर्थात् २६३४ ई० पू० से मेल रखता है।

यह तिथि-पत्र वास्तव में कुमारिल भट्ट की तिथि का उल्लेख करता है। किन्तु चूंकि कुमारिल भट्ट और शंकराचार्य समकालीन थे, अतः ये तिथियाँ हमें शंकराचार्यजी के काल-निर्धारण में सहायक हैं। यह तिथि-पत्र ऐसा है—

“तृषिवारस्तद्वर्णं मर्त्याक्षी वाममेलनात्

एकोकृत्य तमेतानिः क्रोधीस्यात्तत्रवत्सरः।

भट्टाचार्य कुमारस्य कर्मकांडवादिनः

जयः प्रादुर्भवत्तस्मिन् वर्षे यौधिष्ठिरशके।”

उपयुक्त पद में तृषि ७ है, वार ७, पूर्ण ० है, और मर्त्याक्षी २ हैं। इससे हमें ७७०२ की संख्या उपलब्ध होती है। जब इसे उलटें, तो यह जैनियों के युधिष्ठिर-युग की २०७७ बन जाती है अर्थात् ६३४ ऋष २०७७ = ५५७ ई० पू०। यह कुमारिल भट्ट की जन्मतिथि है।

'बृहत्-शंकर-विजय' के रचयिता श्री चित्मुख्याचार्यजी का कहना है कि कुमारिल भट्ट श्री शंकराचार्यजी से ४८ वर्ष बड़े थे। इससे हमें ५५७ ऋष ४८ वर्षात् ५०६ ई० पू० प्राप्त होता है जो श्री शंकराचार्यजी का जन्म-वर्ष है।

शंकराचार्यजी अपनी १५ वर्ष की आयु में अर्थात् ४६४ ई० पू० में कुमारिल भट्ट को मिले थे, ऐसा कहा जाता है।

'जिनविजय' के अनुसार शंकराचार्यजी के देहत्याग का वर्ष जैनियों के

युधिष्ठिर-युग का, २१५७ अर्थात् २६३४ ऋष २१५७ = ४७७ ई० पू० रक्ताक्षी चक्रीय वर्ष में है ('दि एज ऑफ शंकर' पृष्ठ = १४१ पर संदर्भित है।)

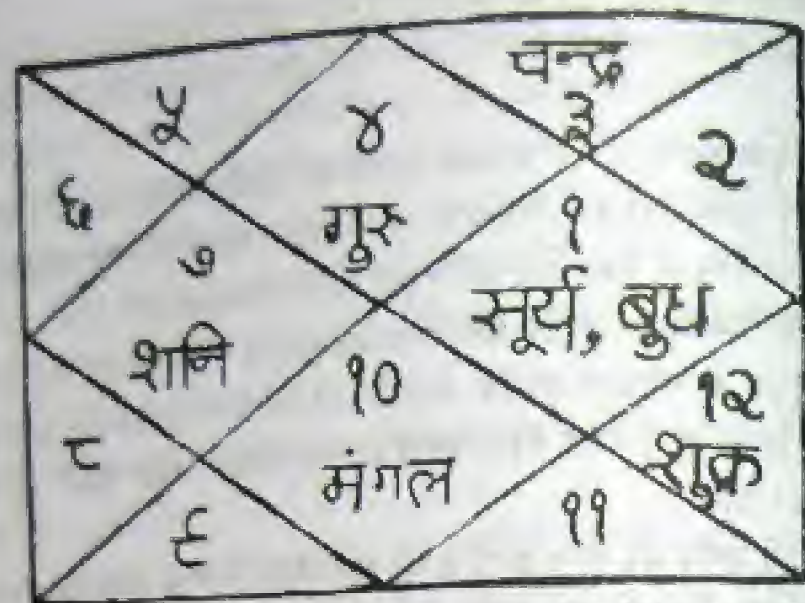
'पुण्यश्लोक-मंजरी' भी शंकराचार्य का देहावसान २६२५ कलि अथवा ३१०२ ऋष २६२५ = ४७७ ई० पू० में होना बताती है। यह रक्ताक्षी वर्ष में वृषभ-मास में शुक्ल पक्ष की ११वीं तिथि को बैठता है।

आचार्य शंकर वृषदेव वर्मा के शासनकाल में नेपाल भी गये थे। नेपाली वंशानुक्रम के अनुसार वृषदेव वर्माने २६१५ कलि से २६५४ कलि तक राज्य किया था (कांटा वेकटाचलम् की 'क्रोनोलोजी ऑफ नेपाल हिस्ट्री', पृष्ठ ५५ देखिये)।

उस तिथि की पुष्टि होती है श्री चित्मुख्याचार्य जी के द्वारा लिखी गयी 'बृहत्-शंकर-विजय' से। श्री चित्मुख्याचार्य जी शंकराचार्य जी के समकालीन एक अत्यन्त सुस्थिरमना जीवनी-लेखक थे। वे दोनों ही वैशवावस्था से परस्पर मित्र थे। उस रचना के ३२वें अध्याय में लेखक महोदय का कहना है: “सभी शुभ लक्षणों से युक्त गर्भावस्था के दशम मास में, युधिष्ठिर-युग के २६३१वें वर्ष में, मंगलकारी तन्दन वर्ष के आनन्ददायक वैशाख मास के शुक्ल-पक्ष की पंचमी को जब सूर्य मेष-राशि में था, चन्द्र पुनर्वसु लग्न में प्रविष्ट हो चुका था, जब कर्क प्रारम्भ हो रही थी, मध्याह्न के समय, अभि-जित घड़ी में जब गुरु, शुक, शनि, सूर्य और मंगल सभी उच्चस्व थे, जब सूर्य के साथ बुध एक ही ग्रह में था, उस समय (शंकर की माता) आर्यम्भा ने यगस्वी पणमुख को जन्मा था।”

युधिष्ठिर सम्वत् २६३१ काल-२५६३ है जो ई० पू० ५०६ ही होता है। उपर्युक्त लक्षणों से युक्त जन्म-कुण्डली अग्रिम प्रकार होगी।





चूंकि पूर्व-सन्धि दिए नहीं गये हैं, इसलिए यहाँ उन्हें लिखा नहीं है।

इस जन्म-कुण्डली को भृंगेरी पीठ द्वारा संग्रहीत जन्म-कुण्डली से मिलाने पर हम देखते हैं कि केवल कुछ-थोड़ी-सी शुद्धियों के अतिरिक्त दोनों एक ही हैं। भृंगेरी पीठ में रखी जन्म-कुण्डली पंचांग के अनुसार ई० पू० ४४ की ग्रहस्थिति से मेल नहीं खाती। अतः, यद्यपि भृंगेरी जन्म-कुण्डली (थोड़े-बहुत परिवर्तन के साथ) ठीक ही है, किन्तु ई० पू० ४४, जिसको वे शंकराचार्य जी का जन्मवर्ष मनाते हैं, ठीक नहीं है। इसके विपरीत, श्री चित्सुखाचार्य द्वारा उल्लेखित ग्रहों की स्थिति ई० पू० १०६ के वर्ष में ग्रहों की स्थिति में पूर्ण मेल खाती है।

(श्रीमन्मन्त्र आँफ़ नेपाल हिस्ट्री, पृष्ठ ११० के अनुसार) नागार्जुन योगी का जन्म ई० पू० १२६४ में कहा जाता है, अतः यह विश्वास करना ठीक है कि वह शंकराचार्य जी का पूर्व-पुरुष था।

चूंकि कुमारिल भट्ट को ई० पू० ५५७ में जन्म प्रदर्शित किया ही जा चुका है, अतः उनका शंकराचार्य जी का अग्रज-समकालीन मानना बिल्कुल सही है। उनको भर्तृहरि अथवा भर्तृप्रपन्न नाम से पुकारा जाता है। वे शंकराचार्य जी के गुरु गोविन्द भगवत्पाद के पुत्र थे।

जो लोग सोचते हैं कि श्री शंकराचार्य जी को ई० पूर्व छठी शताब्दी में रखकर उनको भगवान् बुद्ध का समकालीन ही बसा देना है, उनको हम बता

देना चाहते हैं कि स्वयं बुद्ध को भी पूर्वकालीन निर्धारित करना आवश्यक है। उनका काल-निर्धारण भी बहुत कम अनुमानित है। किन्तु यह तो अन्य ग्रन्थों की विषय-वस्तु है। भगवान् बुद्ध ई० पू० १८८७ से १८०७ ई० पू० तक जीवित रहे।

'बृहत्-शंकर-विजय' में शंकराचार्य जी का पूर्ण संन्यास ग्रहण करने का दिन दिया हुआ है: युधिष्ठिरयुग के २६४०वें वर्ष के फाल्गुण मास में शुक्ल-पक्ष की द्वितीया। यह ४६६ ई० पू० होता है जो शंकराचार्य जी की जन्म-तिथि ई० पू० ५०६ की पुष्टि करता है।

इस प्रकार यह बिल्कुल स्पष्ट है कि आदि-शंकराचार्य जी इस भूतल पर ई० पू० ५०६ में अवतरित हुए थे, और ई० पू० ४७७ में इह लोक का त्याग कर स्वर्ग सिधारे थे।

### आधार ग्रन्थ-सूची

- (१) दि ट्रेडीशनल एज ऑफ़ दि शंकराचार्य एण्ड दि मठ्स, बाइ ए० नटराज अय्यर एण्ड एस० लक्ष्मी नरसिंह शास्त्री।
- (२) सौन्दर्य-लहरी।
- (३) सूत्रभाष्य, बाइ आदि शंकर।
- (४) सुषमा, बाइ आत्मबोध।
- (५) पुण्यश्लोक-मंजरी, बाइ सर्वज्ञ सदाशिव बोध।
- (६) माधवीय शंकरविजय।
- (७) राजतरंगिणी, बाइ कल्हण।
- (८) कर्मण्टी ऑन ईश्वरकृष्णाज सांख्यकारिका, बाइ गोडपाद।
- (९) गुरु-रत्न-मालिका, बाइ आत्मबोध।
- (१०) सकरंद, बाइ अध्यात्म प्रकाशेन्द्र सरस्वती।
- (११) बृहत् शंकर विजय, बाइ चित्सुखाचार्य।
- (१२) कोनोलोजी ऑफ़ नेपाल हिस्ट्री, बाइ कोटा बेंकटाचलम्।



हजार वर्ष पूर्व की ही थी। इसीसे उन्होंने कल्पना कर ली कि भारतीय सभ्यता चार-पाँच हजार वर्ष से अधिक प्राचीन नहीं थी। उस अवरोधक धारणा के कारण उन्होंने समस्त भारतीय घटनाक्रम को तोड़ा-मरोड़ा और प्रत्येक बड़ी-बड़ी घटना को, जहाँ तक सम्भव हो पाया, पीछे से पीछे की तिथि पर रखने का यत्न किया।

संशयशील थॉमस की भाँति उन्होंने पहले प्रत्येक बात पर सन्देह किया और फिर पिछली सभी तिथियों को सन्देह-लाभ प्रदान किया। किन्तु उन्होंने अत्यन्त कष्टपूर्व स्थिति में स्वीकार किया है कि वे स्वयं भी अपनी उपलब्धियों के सम्बन्ध में अडिग नहीं हैं। 'कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया', प्रथम भाग के पृष्ठ १७१ पर श्री ई० जे० रैपसन ने कहा है: "दुर्भाग्य से, बुद्ध की प्रारम्भिक तिथिक्रम के विषय में सब कुछ लिखे जाने के पश्चात् भी बुद्ध की सही जन्म-तिथि के सम्बन्ध में हम अभी भी अनिश्चित हैं। इस इतिहास में ईसापूर्व ४८३ की मान्य तिथि को अभी भी अस्वायी ही मानना चाहिये।" इसी प्रकार, 'दि आक्सफोर्ड स्टुडेंट्स हिस्ट्री ऑफ इण्डिया' के सन् १९१५ के संस्करण में पृष्ठ ४४ पर श्री विन्सेंट स्मिथ ने भी पर्यवेक्षण किया है कि, "बुद्ध की मृत्यु की तिथि अनिश्चित है, किन्तु यह मानने के लिए पर्याप्त औचित्य है कि यह घटना ईसा पूर्व ४८७ के आसपास हुई, सम्भवतः ४-५ वर्ष के बाद हुई।"

इस भ्रान्ति को दृष्टि में रखते हुए यह उपयुक्त मालूम पड़ता है कि सभी उपलब्ध साक्ष्य को सुविन्यस्त किया जाय और विवरणों का सूक्ष्म विवेचन कर यह पता किया जाय कि हम भगवान् बुद्ध के जन्म और निर्वाण की तिथियों को अधिक निश्चयात्मकता से निर्धारित कर सकते हैं। भारतीय इतिहास के तिथिक्रम के लिए यह स्थिरता लाना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है क्योंकि भगवान् बुद्ध का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विशिष्ट स्थान है और अनेक घटनाओं की तिथियाँ उनके सन्दर्भों से निश्चित की जा सकती हैं।

सर्वप्रथम यह जानना भी उपयुक्त होगा कि भगवान् बुद्ध के सम्बन्ध में पश्चिमी इतिहासकार अपनी तिथियों के निष्कर्ष पर पहुँचे कैसे? भारतीय पुराणों और सामुद्रिक-तिथियों के प्रति अपनी पूर्ण अरुचि रखने के कारण पश्चिमी इतिहासकारों ने इनकी बिल्कुल ही उपेक्षा कर दी। इसके स्थान

भयंकर भूल : क्रमांक—११

## भगवान् बुद्ध के काल में १३०० वर्षों की भूल

ईसवी सन् १९५९ में जब भारत ने अपने अनेक महान् सपूतों में से एक शास्त्र-मुनि गौतम बुद्ध की तथाकथित २५००वीं जन्म-शताब्दी अत्यन्त धूम-धाल से मनायी, तब शास्त्र-विश्व-निर्वाण एवं समस्त संसार के प्रबुद्ध जनों ने झुलकर उपहास किया होगा कि इन अज्ञानी पीढ़ियों ने बुद्ध के काल-निर्धारण में १३०० वर्षों से अधिक समय का कम अनुमान लगाया है।

आधुनिक भारतीय तथा विश्व के इतिहास-ग्रन्थों ने पाठकों को यह भ्रान्ति दिलाने का चल किया है कि भगवान् बुद्ध का जन्म ईसा पूर्व ५४४, ५६३ अथवा ५६७ के लगभग हुआ था और उनकी मृत्यु ८० वर्ष के पश्चात् हुई थी।

भारतीय इतिहास परिशोध में यह एक अन्य भयंकर भूल प्रतीत होती है क्योंकि यह सिद्ध करने के लिए अत्यन्त प्रबल साक्ष्य है कि बुद्ध का जन्म ईसा पूर्व १८८७ में हुआ था एवं स्वर्गवास ई० पू० १८०७ में हुआ। इसका अर्थ यह है—कि भगवान् बुद्ध के समय के काल-निर्धारण में १३०० वर्षों से अधिक का कन्तर है।

हम प्रश्न यह उठाते हैं कि भारतीय इतिहास तिथिक्रम में इतनी बड़ी कथि की भूल कैसे और क्यों प्रविष्ट हो गई? इसका उत्तर यह है कि भारत लगभग १५० वर्षों तक अज्ञान-गोमनाधीन रहने और समस्त भारतीय जिज्ञा-मत्तन्वी क्षीय उनके द्वारा आच्छादित रहने के कारण उनकी मान्य तिथियाँ ही भारतीय इतिहास में क्रिस्ति-प्रकार समाविष्ट होती गयीं। १८वीं और १९वीं शताब्दी में भारत पर शासन करने के लिए आये अंग्रेज लोगों की मानव-मुक्ति के सम्बन्ध में अत्यल्प ज्ञान था। वे सोचते थे कि यह केवल कुछ



पर, वे किन्हीं सम-सामयिक पश्चिमी अभिलेखों में सूत्र खोजने के लिए गीते लगाते रहे और उन्हीं के ऊपर अपनी धारणाएँ जमाएँ रहे। भगवान् बुद्ध के सम्बन्ध में सभी भारतीय-तिथियों की अवहेलना करते हुए पश्चिमी विद्वानों ने सिकन्दर के आक्रमण को ही मूलसूत्र मान लिया। चूँकि उन्होंने विश्वास किया कि समकालीन-यूनानी इतिहासकार सर्वाधिक विश्वस्त व्यक्ति थे, इसलिए उन्होंने यूनानी तिथिवृत्तों में प्राप्त उनकी सहायक तिथियों से भारतीय इतिहास-तिथिक्रम से बुद्ध का समय खोज निकालने का यत्न किया।

यूनानी इतिहासकारों ने सिकन्दर के समकालीन मगध के तीन क्रमानु-वर्ती शासकों का उल्लेख जेन्द्रमस, सेण्डोकोटस और सैन्डोकिप्टस के रूप में किया है। यहाँ गवेषण ध्यान में रखने की बात यह है कि यूनानी और अरबी तिथिवृत्तकार सभी भारतीय व्यक्ति-वाचक तथा स्थान-वाचक नामों को मर्रा के लिए अमान्य कर देने के प्रयोजन से उनको अपनी बोली के अनुसार अपभ्रंश रूप देने के लिए कुख्यात है। अतः उनके अपभ्रंश साहित्य से कोई-सादे निष्कर्ष निकाल लेना खतरनाक बात है। किन्तु यही बात तो पश्चिमी विद्वानों ने की है। वे विश्वास करते हैं कि ऊपर दिए नाम चन्द्रगुप्त मौर्य, उनके पूर्ववर्ती महापद्मनन्द (उपनाम घनानन्द) तथा अनुवर्ती बिन्दु-सार के ही लिए प्रयुक्त हैं। स्थूल दृष्टिपात तथा थोड़ी-सी भी सहज बुद्धि से पाठक को विश्वास हो जाना चाहिये कि यूनानी वर्तनी तथा 'नन्द' और 'बिन्दुसार' के नामों में किसी भी प्रकार की समानता नहीं है।

यूनानी तिथिवृत्तकार यह नहीं बताते कि यह चन्द्रगुप्त गुप्त वंश का है अथवा मौर्य वंश का। श्री कोटा वेकटाचलम् ने अपनी पुस्तक "दि एज ऑफ बुद्ध, मिलिन्द एवं किंग अमति योक एण्ड युग पुराण" के पृष्ठ १ पर पर्यवे-क्षण किया है, "सिकन्दर के समकालीन मौर्य चन्द्रगुप्त को गलती से मान लेने की त्रुटि ने भगवान् बुद्ध की तिथि सहित भारत के प्राचीन इतिहास की सभी तिथियों को छुट कर दिया है।"

अपनी पुस्तक के पृष्ठ २ पर श्री कोटा वेकटाचलम् ने कहा है कि, "इस त्रुटि के कारण भारत के प्राचीन इतिहास में १२ अताब्दियों का अन्तर आ गया है। सिकन्दर का आक्रमण ईसा पूर्व ३२६ में हुआ (और) यह चन्द्रगुप्त गुप्तवंश का है जिसका सम्बन्ध ईसा पूर्व ३२७-३२० वर्ष से है।"

यूनानी तिथिवृत्तकारों द्वारा वर्णित जेन्द्र मस चन्द्रमस अर्थात् मगध का अन्तिम आंध्रनरेण चन्द्रश्री (उपनाम बाना) है। उसका उत्तराधिकारी हुआ गुप्तवंश का संस्थापक चन्द्र जो उसका मंत्री व सेनापति दोनों ही था। उसका भी उत्तराधिकारी हुआ समुद्रगुप्त। यह वह समुद्रगुप्त है जिसका यूनानी संदर्भों में सैन्डोकिप्टस कहा जाता है। समुद्रगुप्त चन्द्रगुप्त की प्रथम पत्नी से ज्येष्ठतम पुत्र था। फिर भी पिता उत्तराधिकार के मामले में उसकी उपेक्षा करके एक अन्य पत्नी के कनिष्ठ पुत्र को राजसिंहासन का अधिकारी घोषित करना चाहता था। इस बात का ज्ञान हो जाने पर, नेपाल के राजा—अपने नाना की सहायता से, चन्द्रगुप्त ने सिकन्दर के समय भावी नरेश के रूप में अपनी बाजी लगा दी थी। इसी कारणवश तत्कालीन ग्रीक लेखक मगध के तीन क्रमानुसार शासकों का उल्लेख करते हैं।

अब हम भारतीय साक्ष्य का वर्णन करेंगे। भारतीय वंशावलियों का क्रमानुसार वर्णन करने वाले सभी पुराण महाभारत-युद्ध से प्रारम्भ होते हैं। वह युद्ध ई० पू० ३१२८ में लड़ा गया था। उनमें वर्णित विभिन्न वंशावलियों का अध्ययन करते हुए हम ई० पू० ३२६ में मगध के सम्राट् चन्द्रगुप्त (गुप्तवंशीय) के शासनकाल तक आ पहुँचते हैं। श्री कोटा वेकटाचलम् ने अपनी पुस्तक के पृष्ठ ३ पर समीक्षा की है—“गुप्तवंशीय चन्द्रगुप्त को सिकन्दर का समकालीन मगध नरेश मान लेना हिन्दुओं, बौद्धों और जैनियों के प्राचीनकालीन पवित्र और धार्मिक साहित्य में वर्णित सभी प्राचीन तिथियों से मेल खाता है।”

प्राचीन भारत का इतिहास पुनर्निर्माण करने हेतु पुराण एकमेव दिश्वस्त स्रोत हैं। उनमें से संग्रहीत तिथिक्रम इस प्रकार बनते हैं—युधिष्ठिर, विजयी राजा का राजमुकुट महाभारत-युद्ध (३१३८ ई० पू०) की समाप्ति के १० दिन बाद हुआ था। उसके राज्याखंड होने की तिथि पर “युधिष्ठिर शक” नामक एक नया युग प्रारम्भ हुआ था। उसके राजवकाल के ३७वें वर्ष में भगवान् कृष्ण गोलोक सिंघार गये। उनकी मृत्यूपरान्त ‘कलियुग’ प्रारम्भ हुआ; वह था ३१०२ ई० पू० २० फरवरी का दिन—समय २-२७, ३० मध्याह्नोत्तर। उस समय तक भगवान् कृष्ण १२५ वर्ष व्यतीत कर चुके थे। इसका अर्थ यह हुआ कि भगवान् श्रीकृष्ण ३२२७ ई० पू० में जन्मे



वे। बुध्दिष्टि ३०७६ ई० पू० में सिधार गये। इस प्रकार, बुध्दिष्टि का राज्य-काल ६२ वर्ष रहा। बुध्दिष्टि के स्वर्ग सिधारने पर सप्तर्षि अथवा लौकिक युग मानक एक अन्य युग प्रारम्भ हुआ। डाक्टर ब्रूलर इस उपलब्धि से सहमत हैं (इन्डियन ऐन्टीक्वेरी, भाग ६ के पृष्ठ २६४-२६५)।

इस प्रकार कति, बुध्दिष्टि और सप्तर्षि अथवा लौकिक युग प्राचीन भारत में प्रचलित रहे हैं और घटनाओं के काल-निर्धारण में उनका उल्लेख किया जाता था। हमारे आधारित वार्षिक पंचांग आज से ज्ञातान्दियों पूर्व की बनाए जाते थे। अतः पश्चिमी इतिहासकारों का यह कहना अवांछनीय है कि घटनाओं के काल-निर्धारण के लिए हिन्दुओं का अपना कोई पंचांग (संस्कृत ग्रन्थ) नहीं था। समय की असमीता के आकलन में युगों और कालों के निर्धारण तथा अधुना-मुहूर्तों का पता लगाने के लिए ज्योतिष और जल-मन्त्र का ज्ञान रखने हेतु हिन्दु-पंचांगों का जिस भी किसी को ज्ञान है, वह इस मान्यता को गुरुत्व अस्वीकार कर देगा कि हिन्दु लोग अपनी सभ्यता का निर्विघ्नानुसार अभिव्यक्त रखने में अति शिथिल व्यक्ति थे। अतः लिखित के आकलन की निषिद्ध-निर्धारण का सूत्र मान लेने और फिर अपनी कल्पना के घोंटे घोंटाकर घुनानी लेखकों के द्वारा उल्लेखित तैल राजाओं को ज्ञान लेने के पश्चिमी विद्वानों के इस विचार में कोई भी अतिशय गलती है क्योंकि हमने भारतीय इतिहास की तिथि १२ शताब्दियों से अधिक पीछे प्रवेश ही जानी है।

तीस भारतीय युगों का अन्त्य प्रारम्भ अंकित कर देने के पश्चात् हम अब इसी युगों के मन्दिर में भगवान् बुद्ध का समय निश्चित करने का यत्न करेंगे।

भगवान् बुद्ध का जन्म इक्ष्वाकु वंश में हुआ था। इस वंश के संस्थापक इक्ष्वाकु का राज्य कुले-कुल के प्रारम्भ में था। उसका ५६वां वंशज दशरथ था। ५७वें वंशज के रामायण के मुख्य नायक भगवान् राम। ८६वां वंशज बृहद्बल महाभारत-युद्ध में मारा गया था। वंश की यह लम्बी सूची अनेक पौराणिक और अनेक उप-वंशों तथा विविधताओं में विभाजित हो गई। इनमें ही पब, मल्ल और लिच्छवि (लक्ष्मण के वंशज) थे। भगवान् बुद्ध

का जन्म लिच्छवि-शाखा में हुआ था। गौतम उनका गोत्र था (विशिष्ट पुरोहितों के प्रति धार्मिक निष्ठा का अर्थ गोत्र है)। यह वंश-परम्परा 'ब्रह्मांड-पुराण' के चतुर्थ अध्याय के उपोद्घात पद में दी हुई है। इस सूची में इक्ष्वाकु-वंश की संस्थापना से लेकर महाभारतकालीन-युद्ध की समाप्ति (३१३८ ई० पू०) तक के मुख्य-मुख्य राजाओं के नाम दिये गये हैं।

मत्स्य, वायु, विष्णु, ब्रह्मांड तथा अन्य पुराणों के अनुसार ३१३८ से १६३ ई० पू० तक इक्ष्वाकु-वंश में ३० राजा उत्पन्न हुए।

महाभारत के युद्ध में अभिमन्यु द्वारा मारे गये बृहद्बल के स्वान पर, शान्ति-स्थापनोपरान्त, बृहद्बल सिंहासनाब्ध हुआ था। इस क्रम में, महाभारत-युद्धोपरान्त २३वां वंशज शुद्धोधन था, जो भगवान् बुद्ध का जनक था। उनके पुत्र राजकुमार सिद्धार्थ २४वें वंशज थे। इस वंश-परम्परा में सुमित्र अन्तिम तथा ३०वां वंशज था। इन ३० राजाओं ने कुल मिलाकर १५०४ वर्ष राज्य किया (विष्णु पुराण, भाग ४, अध्याय २२)।

अब, उनके जीवन-यापन के कालखंड का निर्धारण करने के लिए हमें उनके उन समकालीन व्यक्तियों को संदर्भित करना होगा, जिनका समय निश्चिततापूर्वक कहा जा सकता है।

अपनी पुस्तक के १०वें पृष्ठ पर श्री बेंकटाचलम् कहते हैं, "बुद्ध मगध के ३१वें ३२वें और ३३वें क्रमागत राजा क्षेमजीत, बिम्बसार और अजातशत्रु के समकालीन थे।"

बौद्ध-ग्रन्थों का कहना है कि भगवान् बुद्ध ७२ वर्षीय थे जब अजातशत्रु को राजा बनाया गया (केन्थ सौन्डर्स विरचित, दि 'हैरिटेज ऑफ इण्डिया, मौर्य में लिखी पुस्तक "गौतम दि बुद्ध" का पृष्ठ ७०, सन् १९२२ का संस्करण)।

भगवान् बुद्ध का स्वर्गवास, ८० वर्ष की आयु में, १८०७ ई० पू०, कुशिनार में एक भक्त द्वारा दिये गये खाद्य को खा लेने के कारण पचिश रोग से हुआ।

महाभारत-युद्ध (३१०८ ई० पू०) के पश्चात् इक्ष्वाकु-वंश का २२वां वंशज शाक्य, नेपाल के सानिध्य में, हिमालय की तराई में स्थित कोसल-वंश के उत्तर-पश्चिमी भाग का राजा बना। कपिलवस्तु इसकी राजधानी थी।



“शाक्य और विन्धवि उन्ही व्यक्तिओं अर्थात् इक्ष्वाकु-वंश की शाखाएँ हैं।” ऐसा अपनी पुस्तक ‘अतिथि क्लान्स इन बुद्धिस्ट इण्डिया’ में श्री बिम्बसारक लो ने कहा है।

बम्बरकोट पर भारत की टीका का कहना है कि शानय-नाम शक-नाम के वंश से पड़ा है जिसके निकट इक्ष्वाकु-वंश का एक राजा निवास करता था।

बुद्ध महारानी माया और महाराज शुद्धोदन के सुपुत्र थे। सिद्धार्थ ने २६ वर्ष की आयु में राजोचित जीवन का त्याग कर दिया और ‘गया’ नगर के निकट एक पीपल वृक्ष के नीचे ६ वर्ष तक घोर तप किया। यहीं उनको ‘ज्ञान’ प्राप्त हुआ। उनका पुत्र राहुल सिंहासन पर बैठा।

बौद्ध-ग्रंथों में अज्ञातशत्रु को महारानी महादेवी और महाराजा बिम्बसार का पुत्र माना जाता है। उसकी राजधानी ‘राजगृह’ थी।

बुद्ध के समकालीन लोगों के सम्बन्ध में बौद्ध-साहित्य और आधुनिक इतिहासों में एक मत है।

पुराणों में मगध-मगध-नामकी को वशावली के अनुसार सोमाधि उप-नाम मादरि महाभारत-युद्ध के समय मगध का शासक था। उसके वंश में २२ राजा हुए। उन्होंने १००६ वर्ष राज्य किया। उनके पश्चात् प्रद्योत-वध के ४ शासकों ने १३० वर्ष राज्य किया। फिर शिशुनाग वंश के १० राजाओं ने ३६० वर्ष तक राज्य किया। इन ३७ शासकों में से ३१वाँ (जसोत् शिशुनाग-वंश का चौथा) क्षेमजीत भगवान् बुद्ध के पिता शुद्धोदन का समकालीन था। क्षेमजीत ने १८६२ से १८५२ ई० पू० तक राज्य किया। उसी कालावधि में (१८८७ ई० पू० में) भगवान् बुद्ध का जन्म हुआ था। ३२वें राजा बिम्बसार के शासन-काल (१८५२ से १८१४ ई० पू०) में सुवराज सिद्धार्थ १८५० से १८५२ ई० पू० तक ६ वर्ष तक तप करने के पश्चात् ज्ञान-प्राप्त अर्थात् ‘बुद्ध’ बन गये। ३३वें राजा अज्ञातशत्रु के शासनकाल (१८१४ से १८०७ ई० पू०) में भगवान् बुद्ध निर्वाण को प्राप्त हुए। इससे हमें बुद्ध के जीवन का अत्यन्त संगत कालक्रम अवलिखित होना होता है—

जन्म	१८८७ ई० पू०
गृह-त्याग	१८५८ " "
तपश्चर्या	१८५८—१८५२ ई० पू०
निर्वाण	१८०७ ई० पू०

जैसा कि आजकल माना जाता है, यदि बुद्ध ई० पू० ६ठी शताब्दी में जीवित थे, तो इसका अर्थ यह होगा कि उनके समकालीन क्षेमजीत, बिम्बसार और अज्ञातशत्रु भी उसी अवधि में थे। चूंकि बिम्बसार महा-भारत-युद्ध के समय से १२वाँ शासक था, अतः कुल २६३८ वर्ष (३१३८ ऋण ५०० = २६३८) का अर्थ यह होगा कि औसतन प्रत्येक राजा का शासनकाल ८२ वर्ष ६ मास का रहा। दूसरी ओर, यदि हमारी गणना के अनुसार बिम्बसार महाभारत-युद्ध से ई० पू० १८०७ तक ३२वाँ शासक था, तो प्रत्येक राजा ने औसतन ४१ वर्ष राज्य किया जो अधिक युक्ति-युक्त एवं वाह्य प्रतीत होता है।

इसा पश्चात् ५वीं शताब्दी के अन्त में भारत की यात्रा करने आये चीन-देशीय बौद्ध-यात्री फाह्यान ने लिखा है कि चाऊ-वंश के राजा ‘पे इंग’ के शासनकाल में ‘मैत्रेय बोधिसत्व’ की प्रतिमा प्रतिष्ठित की गई थी। यह घटना भगवान् बुद्ध के शरीर-त्याग के पश्चात् लगभग ३०० वर्षों बाद हुई। यह तो ज्ञात है कि राजा ‘पे इंग’ ने ७५० से ७१६ ई० पू० तक राज्य किया था (एरिकार्ड ऑफ बुद्धिस्टिक किंगडम्स बाइ फाह्यान; ट्रान्सलेटेड बाइ जेम्सलेग, फुटनोट्स ३, ४, ५; १८८६ का संस्करण)। उसका अर्थ यह हुआ कि फाह्यान की जानकारी के अनुसार, बुद्ध का जन्म ११वीं शताब्दी ई० पू० के पश्चात् नहीं हुआ था। इस प्रकार, उसकी साक्षी भी इस प्रचलित मत को अमान्य करती है कि बुद्ध ६ठी शताब्दी ई० पू० में हुए थे।

महान् भारतीय दार्शनिक आदि-शंकराचार्य, जिनको सलती से आधुनिक इतिहासों में ईसा की ८वीं शताब्दी में निर्धारित किया जाता है, जब रविवार को बैशाख मास के कृष्ण-पक्ष में पंचमी तिथि को कलियुग के २५६३ वर्ष में सन्दन नाम से पुकारे जाने वाले चक्रीय वर्ष में कर्क राशि अति श्रेष्ठ थी तब, जन्मे थे। यह ५०६ ई० पू० (३१०२ ऋण २५६३ = ५०६) बैठता



समाप्त हुआ। यह सिद्ध करता है कि कनिष्क का राज्य ई० पू० १२६४ में प्रारम्भ हुआ। जिसका अर्थ यह निकला कि नागार्जुन बोधिसत्व कश्मीर की मात्रा पर १२६४ और १२३४ ई० पू० के कालखण्ड में किसी समय आया। चूंकि बुद्ध नागार्जुन बोधिसत्व द्वारा बुद्ध-धर्म (दर्शन) का प्रचार करने में पूर्व ही हुए थे, इसीलिए हमारी १८८७-१८७७ ई० पू० वाली तिथियाँ पृष्ठ होती हैं, सही बैठती हैं।

कश्मीर के ५२वें राजा अभिमन्यु के राज्यकाल (१२३४-११८२ ई० पू०) में पंडित चन्द्राचार्य पातंजलि का महाभाष्य पढ़ाने और प्रचारित करने कश्मीर गये। जब वे वहाँ थे, तभी उन्होंने स्वयं भी एक व्याकरण लिखी। वे पुष्पमित्रशृंग (१२१८ से ११५८ ई० पू०) के भी समकालीन थे। उसी समय नागार्जुन बुद्ध-दर्शनादि का प्रचार करने कश्मीर पधारे। अतः, बुद्ध अवश्य ही पातंजलि से पूर्व हुए थे।

राजतरंगिणी में कहा है कि कनिष्क (१२६४-१२३४ ई० पू०) के समकालीन 'लोक धातु' से १५० वर्ष पूर्व भगवान् बुद्ध को निर्वाण प्राप्त हो गया था ।

पश्चिमी विद्वानों के अनुसार कनिष्क ईसा पञ्चात् ७२वें वर्ष में जीवित था। यदि बुद्ध उससे ११० वर्ष पूर्व निर्माण को प्राप्त हुए तो हम २२० ई० पू० तक पहुँच जाते हैं जो भगवान् बुद्ध की निर्वाण-तिथि बनती है, जो स्वयं पश्चिमी विद्वानों द्वारा बुद्ध की निर्वाण-तिथि के रूप में निर्धारित ४८३ ई० पू० तिथि से टकरा जाती है, मेल नहीं खाती। घटनाक्रम, यह भी सिद्ध है कि पश्चिमी विद्वानों द्वारा प्रस्तुत कनिष्क की तिथि सत्य है।

हृष्क, जुष्क और कनिष्क भाई-भाई जववा कम-से-कम असंबद्ध मम-कालीन व्यक्ति हो सकते हैं। राजतरंगिणी के भाग २ की ८वीं तरंग के ६४ पद में स्पष्ट कहा गया है कि उन्होंने एक ही काल में राज्य किया।

यद्यपि कनिष्क के बाद अभिमन्यु राज्यारूढ़ हुआ तथापि वह उसका पुत्र नहीं था। कनिष्क तुरुष्क-परिवार से सम्बन्ध रखता था, जबकि अभिमन्यु का सम्बन्ध एक भारतीय क्षत्रिय परिवार से था।

अभिमन्यु के बाद उसका पुत्र गोनन्द-तृतीय राज्य पर बैठा। चूंकि परवर्ती लोगों के नाम साधारणतया उनके किसी प्रसिद्ध पूर्वज के नाम पर

चन्द्रगुप्त के अनुसार उसने अपने समय (अर्थात् ईसवी पञ्चात् ११४८) से आरम्भ कर अपने पूर्व के २३३० वर्षों का कश्मीर के शासकों का इतिहास वर्णन कर दिया है (अर्थात् ११८२ ई० पू० के गौतम तृतीय के समय से)। गौतम तृतीय का पिता अभिमन्यु ५२ वर्ष शासक रहा। इसका अर्थ हुआ कि अभिमन्यु का राज्यकाल कल्हण से  $२३३० + ५२ = २३८२$  वर्ष पूर्व आरम्भ हुआ। उसी समय उसके पूर्वज कनिष्क का ६० वर्षीय राज्यकाल



जो जाते हैं, अतः स्पष्ट है कि अभिमन्यु, जिसका नाम महाभारत के पात्रा-  
नुसार पर रखा गया था, गोवन्द वंश से सम्बन्ध रखता था।

राजतरंगिणी के समय (११४८ ईसवी) तथा कनिष्क के शासनकाल  
के प्रारम्भ होने के मध्य २४४२ वर्ष का कालखण्ड है। यदि कनिष्क की  
तिथि, जैसा कि पश्चिमी विद्वान् निर्धारित करते हैं, ७८वीं ईसवी ही मान  
ली जाती है, तो कल्हण द्वारा राजतरंगिणी का संकलन-काल ७८-  
२४४२ = २३६४ ई० पश्चात् आता है जो अभी भी भविष्य में आना देव  
है। जिसका स्पष्ट अर्थ यह है कि अभी भविष्य में राजतरंगिणी का जन्म  
होना है, जो ज्योतिषीय भविष्यवाणी के समान प्रतीत होती है, किसी भी  
प्रकार इतिहास तो नहीं।

इसके विपरीत, जैसा कि पश्चिमी विद्वानों ने प्रस्तुत किया है, यदि हम  
कनिष्क की तिथि ७८ ई० पश्चात् और कल्हण के कथनानुसार राजतरंगिणी  
की तिथि को ११४८ ई० पश्चात् मान लें, तो इनका अर्थ यह होगा कि  
उनकी रचना ११४८ ई० अर्थात् १०७० वर्षों के इतिहास से सम्बन्ध  
रखती है।

कनिष्क और राजतरंगिणी के संकलन के मध्य ८६ सम्राटों का राज्या-  
रोहण रहा है। उनके शासन की कलाबाँधि कुल मिलाकर २१६० वर्ष बैठती  
है (यदि हम प्रत्येक शासन का समय २५ वर्ष के लगभग मान लें)। इसमें से  
१००० वर्ष घटाने पर हमें ११६० वर्षों का आधिक्य प्राप्त होता है जो यदि  
हम पश्चिमी विद्वानों के मतों को स्वीकार करते हैं, तो न इधर-उधर किया  
जा सकता है और न ही लेख में आ पाता है।

अपनी पुस्तक के पृष्ठ ३७ पर श्री कोटा बेंकटाचलम् पर्यवेक्षण करने हैं  
कि चूंकि यह तिथि उनकी धारणाओं से बेमेल बैठती, इसलिए पश्चिमी लोगों  
ने निष्कर्ष निकाल लिया कि ईसा पूर्व पहली शताब्दी का विक्रमादित्य और  
ईसा पश्चात् पहली शताब्दी का शालिवाहन कभी थे ही नहीं। इससे भी  
बढ़ते, उन्होंने कहा कि विक्रम और शालिवाहन संवत् एजेस और कनिष्क  
संवत् जैसे ही थे। चूंकि पश्चिमी विद्वानों ने अपनी अभी की तिथि का  
संशोधन करने के लिए आन्ध्र के सतवाहन-वंश की तिथि ई० पू० से ई०  
पश्चात् कर दी थी इसलिए उन्होंने 'शालिवाहन' को 'हल सतवाहन' कहा।

और तर्क यह दिया कि 'सत' तो 'शालि' का पर्याय है। अपनी धारणा की  
संपुष्टि में वे लीलावती, कथा सरितसागर तथा अन्य उपन्यासों और शृंगार-  
ग्रन्थों की आधिकारिता का उदाहरण देते हैं। वे जोर देकर कहते हैं कि हल  
सतवाहन शालिवाहन के अतिरिक्त अन्य कोई व्यक्ति नहीं था जो ७८ ई०  
पश्चात् कालखण्ड में हुआ था।

भाषा की दृष्टि से सत और शालि भले ही पर्याय हो सकते हों, किन्तु  
व्यक्तिवाचक नामों की दृष्टि से तो उनको पृथक् ही रहना चाहिये। जैसा-  
कि उदाहरण के लिए कोई महिला अपने नाम की बतौली लक्ष्मी करती है  
और दूसरी लक्ष्मी। चाहे दोनों के अर्थ एक ही हैं, तथापि दोनों को एक ही  
मानने में कोई तुक नहीं है। एक संस्कृत का नाम है जबकि दूसरा प्राकृत  
का है।

७८ ई० पश्चात् का शालिवाहन, जिसने शक संवत् की नींव डाली,  
पंचार वंश से सम्बन्ध रखता था जबकि दूसरा सम्राट् सतवाहन जाति से  
सम्बन्ध रखता था और ५०० से ४६५ ई० पूर्व तक शासन करता रहा।  
शालिवाहन ५८-५७ ई० पू० में विक्रम संवत् की स्थापना करने वाले  
महान् विक्रमादित्य सम्राट् का पौत्र था। ७८ ई० पश्चात् उसके पौत्र  
शालिवाहन ने शकों को पराजित किया और देश से दूर खदेड़ बाहर किया।  
उसने अश्व-मेध यज्ञ किया और फ़ारस जैसे दूरस्थ देशों को भी जीता, तथा  
पराभूत शासकों से नजराने स्वीकार किये। किन्तु आन्ध्र के सतवाहन ने  
अपनी राजधानी गिरिवराज से मगध पर शासन किया। आन्ध्र-परिवार  
मगध में अपना प्रभुत्व ८३३ से ३२७ ई० पू० तक बनाए रहा। उनका  
साम्राज्य हिमालय से हिन्द महासागर तक विस्तृत था। उस वंश में सतवाहन  
ने ५०० से ४६५ ई० पू० तक राज्य किया।

शालिवाहन की राजधानी मध्यभारत से उज्जैन (अवन्ति) में थी।  
अपनी 'हिस्ट्री ऑफ़ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर' (६३७ के संस्करण) में  
आमुल के पृष्ठ २ पर श्री एम० कृष्णामाचारियर लिखते हैं कि, "भारत का  
अपना भली-भाँति लिखा इतिहास है, और पुराण उस इतिहास तथा तिथि-  
क्रम का दिग्दर्शन करते हैं। पुराण पवित्र धोखापट्टी नहीं है।"

मेक्समूलर ने पश्चिमी विद्वानों की इस वृत्ति की निन्दा की है कि पूर्व-



आवश्यक आधारों के आधार पर वे उल्ल-जलूल कल्पनाएँ करने लगते हैं। सबसे पहला कारण है कि नीबुहर की भाँति सच्चे इतिहासवेत्ता के सत्य गुण जिन जन्मों में हैं, उन्होंने उस राष्ट्र के इतिहास के सम्बन्ध में कुछ कहना उचित नहीं समझा है जिसका साहित्य अभी कुछ समय पूर्व ही पुनः उपलब्ध हो गया है—किन्तु जन्म इतिहासवेत्ताओं ने यह सोचा कि जो कुछ नीबुहर नहीं कर सका, उस कार्य को वे कर सकते थे, और कालिदास की कुछ कविताओं को, हितोपदेश को कुछ गल्पों, आनन्दलहरी की कुछ पदावली के अन्तर्गत भगवद्गीता की कुछ कविता को थोड़ा-बहुत पढ़कर उन लोगों ने ऐतिहासिक और त्याग के अर्थोपनिषद् की सहायता से भारतीय राष्ट्र का एक तथाकथित ऐतिहासिक-लेखा प्रस्तुत कर दिया है। बिना न्यूनतम ऐतिहासिक अनुसन्धानों के ही, अत्यल्प सामग्री से सामान्य निष्कर्ष ही नहीं निकाले गये, अपितु अत्यन्त आपत्तिजनक तथा कपटपूर्ण अधिकारी लिखित दिए गये हैं।

‘आक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ इण्डिया’ (द्वितीय संस्करण, सन् १९२३) के जी. जी. ए. ए. निम्न कहते हैं: “मगध की क्रान्ति के समय की तथाकथित अनेक घटनाएँ जिससे हमें ‘मुद्राराक्षस’ नामक प्राचीन राजनीतिक नाटक से पता चलता है, जो ईसा पश्चात् कदाचित् ५वीं शताब्दी में लिखा गया था। किन्तु स्पष्ट बात यह है कि प्रत्येक तथाकथित ऐतिहासिक घटना के वर्णन के लिए किसी कल्पनात्मक काव्य-रचना के ऊपर निर्भर करना सुरक्षित नहीं है जिसकी रचना वास्तविक घटनाओं की तिथि से सात शताब्दियों के पश्चात् हुई हो।”

ग्रीक विद्वानों द्वारा दी गयी कनिष्क की तिथि ७८वीं ईसा पश्चात् और उनकी दो पीढ़ियों के पहले हुए (४८वें शासक) अशोक के लिए उनकी दी हुई तिथि २६० ई० पू० की यदि हम स्वीकार करते हैं तो इस मध्यावधि का समय ३०० वर्ष ई० पू० है जिस काल में केवल दो शासक जलौक (सूची में ४६वाँ) और दाशोदर-द्वितीय (५०वाँ सम्राट्) सिंहासन पर बैठे। इसका अर्थ यह होगा कि उन दोनों में से प्रत्येक ने लगभग १२४ वर्ष राज्य किया, जो बहुत प्रतीत होता है।

‘इंस्टीट्यूट ऑफ इण्डिया’ नामक अपनी पुस्तक में श्री ए० बी० ह्यामराज

अध्वर ने लिखा है कि एथेन्स में अभी हाल ही में मिली एक समाधि में एक उत्कीर्णाण है जिसमें खुदा है कि, “यहाँ बोध-गया से आये एक भारतीय धर्मशास्त्र चिर-निद्रा में लेटे पड़े हैं। इन शास्त्र-मूर्ति को यूनानी जिप्सों के द्वारा ग्रीस लाया गया था। यह समाधि उनकी मृत्यु लगभग १००० ई० पू० में होने की स्मृति में बनायी गयी थी।” यदि बौद्ध-सन्ध्यासी १००० ई० पू० में सुदूर ग्रीस गये थे, तो कनिष्क की तिथि कम-से-कम ११०० ई० पू० होनी चाहिये। अशोक की तिथि १२५० ई० पू० होनी चाहिये और चन्द्रगुप्त मौर्य की तिथि १३०० वर्ष ई० पू० (देखिए, ए० सोमायाजु की ‘वेस्ट इन ऐन्टीक हिस्ट्री ऑफ इण्डिया’—के पृष्ठ ११२-११३)। बुद्ध चन्द्रगुप्त मौर्य से कम-से-कम ६ शताब्दी पूर्व हुए होंगे।

भगवान् बुद्ध की तिथि के सम्बन्ध में सभी उपलब्ध मान्यताओं को अब हम संक्षेप में प्रस्तुत करते हैं—

(१) चीनी, तिब्बती वर्णनों, अबुल फजल की रचनाओं तथा दक्खिना-दस्तावेज के आधार पर सर विलियम जोन्स इस तिथि को १०२७ वर्ष ई० पू० मानते हैं (जोन्स ग्रन्थावली, भाग—४, पृष्ठ १७ व ४२ से ४६)।

(२) मैक्समूलर के अनुसार चीनी वर्णनों में अशोक के लिए ८५० ई० पू० तिथि दी है। बुद्ध-निर्वाण और अशोक की मृत्यु के मध्य ३७१ वर्ष का समय है। इस प्रकार बुद्ध अवश्य ही (८५० - ३७१ =) १२२१ ई० पू० में निर्वाण को प्राप्त हुए होंगे। (देखिए, उनकी पुस्तक ‘हिस्ट्री ऑफ ऐन्टीक संस्कृत लिटरेचर’, इलाहाबाद-संस्करण, पृष्ठ १४१ से १४३ व उसी पुस्तक के सन् १८५६ के संस्करण के पृष्ठ ३ से ८ तक)।

मैक्समूलर के अनुसार श्री लंका के वर्णनों में अशोक का काल ३१५ ई० पू० है। इसलिए बुद्ध-निर्वाण का समय ३१५ + ३७१ = ६८६ ई० पू० (अर्थात् ई० पू० ७वीं शताब्दी) होगा।

(३) (राजतरंगिणी के आधार पर) डॉक्टर फ्लीट का मत है कि बुद्ध १६२१ ई० पू० हुए थे क्योंकि अशोक १२६० ई० पू० के लगभग था। फ्लीट कहते हैं: “हमें ज्ञात होना चाहिये कि राजतरंगिणी अशोक का समय १०६० ई० पू० के आसपास निर्धारित करेगी। हमें १२६० ई० पू० की



तिथि का चयन खेवस्कर होना, और फिर हमें स्वयं भारत के राजाओं के राज्यारोहण को व्यवस्थित रूप देना चाहिये; अशोक के सिंहासनाव्रुद्ध होने की लगभग-तिथि का निश्चय करने के लिए पुराणों से प्रारम्भ कर १२६० ई० पू० तक का समय ही हमारे लिए प्रारम्भ करने का सूत्र होना चाहिये" (डी एम० कृष्णामाचार्य ने अपनी पुस्तक 'हिस्ट्री ऑफ़ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर' के 'परिचय' में उद्धरण दिया है)।

(४) बुद्ध के स्वयंवास के लिए श्री ई० जे० रैप्सन द्वारा दी गयी ४८३ ई० पू० की तिथि स्वयं उनके अपने विचार में अस्थिर है (कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ़ इण्डिया, भाग १, पृष्ठ १७१)।

(५) बिन्नेट स्मिथ ने इस विषय में कोई मौलिक खोज का यत्न नहीं किया, किन्तु इसी तिथि में विश्वास किया (आक्सफोर्ड स्टूडेंट्स हिस्ट्री ऑफ़ इण्डिया)।

(६) राजतरंगिणी ने बुद्ध की मृत्यु की तिथि कनिष्क से १५० वर्ष पूर्व बताया है। इससे हम  $१२६४ + १५० = १४१४$  ई० पू० तक पहुँचते हैं।

(७) ए० बी० श्यामराज अय्यर द्वारा प्रस्तुत उत्कीर्णांश (शिलालेख) का माध्यम इस घटना को १७वीं शताब्दी ई० पू० बताता है।

(८) फाह्यान के अनुसार यह घटना १०५० ई० पू० के आस-पास हुई थी।

(९) ए० पी० मिन्नेट ने अपनी पुस्तक "ऐसांटरिक बुद्धिज्म" (५वां संस्करण, १९०३, पृष्ठ १७५) में बुद्ध का जन्म ६४३ ई० पू० बताया।

उपरोक्त मान्यताएँ सभी परस्पर विरोधी हैं। और, यदि उनमें से एक को ६ठी शताब्दी ई० पू० की तिथि घोषित करती है, शेष सभी के ऊपर प्रभावी है, तो यह केवल संयोगवश ही है। उपरोक्त अनेक मान्यताओं में भी ६ठी शताब्दी वाली मान्यता तो सबसे शिथिल है।

गोमपाहल लिखते हैं: "सभी जैन और हिन्दू एक मत हैं कि ५०८ ई० पू० में वर्धमान महावीर की मृत्यु हुई, कुमारिल भट्ट (५५७ से ६६३ ई० पू०) सम्पूर्ण भारत में जैदियों पर प्रबल शास्त्र-प्रहार कर रहे थे और इसका अनुसरण किया श्री शंकराचार्य ने (५०६-४८७ ई० पू०)। शंकरा-

चार्य और बुद्ध के मध्य का समय १४०० वर्ष के लगभग था। अतः यह निश्चित है कि बुद्ध ६ठी शताब्दी ई० पू० के व्यक्ति नहीं थे। श्रीलंका-निवासियों के पास उपलब्ध थोड़े वर्णन बुद्ध का काल-निर्धारण करने के लिए एवं उसीके आधार पर भारतीय इतिहास की सभी तिथियों को निश्चित करने के लिए किसी भी प्रकार आधिकारिक नहीं है। जापानियों ने बौद्ध-मत को ७वीं ई० पश्चात् अंगीकार किया; अतः जापानी-यंत्रांग भी बुद्ध की तिथि निश्चित करने के लिए कोई प्रामाणिक वस्तु नहीं है क्योंकि यह अस्वर्य प्राप्त जानकारी है। पश्चिमी विद्वानों ने अपनी बुद्धि और धुन के अनुसार अटकलें लगायी हैं। भारतीय पाठशाळाओं में अब पढ़ाया जा रहा इतिहास ऐसी गलत धारणाओं और आधारहीन ऊहापोहों का बोझा मान है ("डेट्स इन ऐन्टीक हिस्ट्री ऑफ़ इण्डिया, पृष्ठ ११२ से ११४)।

बुद्ध को ६ठी शताब्दी ई० पू० में मानने वाले मनेन्द्र को मिलिन्द से एक रूप कर देते हैं। भारतीय विद्याभवन द्वारा प्रेरित इतिहास के भाग-२ में (डॉक्टर सरकार के लेख में) मनेन्द्र को ई० पू० दूसरी शताब्दी का बताया गया है। मिलिन्द ई० पू० १४वीं शताब्दी में था। 'मिलिन्द पण्ह' के अनुसार मिलिन्द (१) बुद्ध की मृत्यु के ५०० वर्ष बाद, (२) बाद के मौर्य राजा शालिशुक के राज्यकाल के तुरन्त पश्चात् और सम्भवतः (३) पुष्यमित्र के लगभग १८७ ई० पू० में राज्यारोहण के पश्चात् ही समुद्र हुआ था।

'मिलिन्द पण्ह' द्वारा दिए गये तीनों संकेतों की पौराणिक साक्ष्य से तुलना करने पर हमें ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य ई० पू० १५८ में राजा घोषित हुआ था। उस वंश में ६ राजाओं का राज्य १२१४ वर्ष तक रहा था। इसका अर्थ यह हुआ कि अन्तिम राजा शालिशुक का राज्यकाल १३२० ई० पू० में समाप्त हुआ। पुराणों के अनुसार बुद्ध १८७ ई० पू० में स्वर्ग सिधारे। मिलिन्द ५०० वर्ष पश्चात् हुए। इससे हमें मिलिन्द का समय १३०७ ई० पू० ज्ञात हुआ। 'मिलिन्द पण्ह' के अनुसार यह निश्चित रूप में शालिशुक के राज्यकाल के बाद ही था। पुष्यमित्र गुप्त १२१८ ई० पू० में राजा घोषित हुआ था, यह फिर निश्चित रूप में मिलिन्द (१३०७



ई० पू०) से पर्याप्त नमय पीछे था। इससे प्रकट होता है कि पौराणिक लिखित कितना गहरी है।

अशोक के शिलालेखों में समाविष्ट कुछ नामों को प्रायः दूर देशों के राजाओं के साथ सम्बद्ध कर दिया जाता है, और उन राजाओं की जात लिखियों से, भारतीय लिखित करने का यत्न किया जाता है। इस प्रकार, अशोक के शिलालेखों में प्राप्त नामों को अन्य देशों के शासकों के साथ निम्न प्रकार सम्बद्ध किया जाता है—

नाम	देश
अमित्रियोक	अन्टिओकस-थ्योस-द्वितीय (सीरिया का)
तुलामय	मिथ के टालेमो फिलाडेलफोस
अमित्राइन	अन्टिगोनस गोनैटस
मक	मगस
अलिकस बृद्ध	(ईपीरस का) अलेक्जेंडर

उपरोक्त समानता केवल आठवरीं तक ही सीमित है। अशोक के शिलालेखों में स्पष्ट कहा गया है कि उसके द्वारा उल्लेखित शासकों के राज्य उनके राज्य की अपनी सीमाओं पर ही स्थित थे, जबकि पश्चिमी विद्वानों द्वारा प्रमोत्साहित राजाओं ने अत्यन्त दूरस्थ देशों पर राज्य किया। सीरिया अशोक के साम्राज्य की सीमाओं से १,७१० मील पर था। बीच के प्रदेश पर अन्य बहुत से और देश थे। मिस्र २,४०० मील दूर था। मेसेडोनिया ३,००० मील पर था। इमन्टिअ अमित्रियोक अफगानिस्तान में शासन कर रहा एक भारतीय श्वेत राजकुमार था। उसने १४७२ से १४३६ ई० पू० तक राज्य किया। संस्कृत के 'यवन' शब्द की व्याख्या यूनानी अर्थ-द्योतन के लिए नहीं की जानी चाहिए। १४७२-१४३६ में जब अशोक ने शासन किया, तब किसी राष्ट्र के रूप में यूनानी अग्रसिद्ध थे और आधुनिक ग्रीस के क्षेत्र में कोई यूनानी राज्य नहीं था। यवन लोग तो भारतीय अश्वि थे जो सिन्धु-तट पर राज्य करते थे।

रैम होवार्थ, अपनी पुस्तक 'बुद्धिस्ट इण्डिया' में यूनानी-इतिहासी और बौद्ध लिखितों की विवेचना करने के पश्चात् इस

निर्णय पर पहुँचे हैं कि ऐतिहासिक कालक्रम का निश्चय करने की दृष्टि से वे आधार निरर्थक हैं।

किन्तु पौराणिक वर्णन को कभी असिद्ध नहीं किया गया है। पुराणों के अनुसार १८०७ ई० पू० बुद्ध की असंदिग्ध मृत्यु-तिथि है।

भारतीय पुराणों को ढोंग की संज्ञा देना या ऐसा समझते हुए एथेन्स, कैंड्री, लन्दन या टोक्यो से प्राचीन भारतीय ऐतिहासिक कालक्रम को निश्चित करने का यत्न करना, अधिक-से-अधिक भारतीय इतिहास के प्रति भ्रमोपन ही कहा जा सकता है।

गवर्मेन्ट आर्ट्स कॉलेज, राजमुन्द्रि के गणित-विभाग के भूतपूर्व अध्यक्ष श्री व्ही० तिरुवेंकटाचारियर भी बुद्ध के जीवन में उपलब्ध ज्योतिषीय आंकड़ों पर अनुसन्धान करते हुए बुद्ध की मृत्यु-तिथि १८०७ ई० पू० पर ही पहुँचे हैं (बुद्ध के जीवन में चन्द्र की विभिन्न स्थितियों तथा अन्य ग्रहों का अध्ययन करने के उपरान्त निष्कर्ष यही है)। इस विषय पर लिखे गये एक लेख में वे कहते हैं कि १८०७ ई० पू० के वर्ष के अतिरिक्त और किसी भी वर्ष में नक्षत्रों की स्थिति जन्म-कुण्डली में वर्णित स्थिति से मेल नहीं खाती। गणना के लिए उन्होंने स्वामी कन्नू पिल्लै की "लाइफ ऑफ गौतम" का उपयोग किया है।

रेवरेड पी० बिगण्डेट कहते हैं : "गौतम का युगारम्भ एक ऐसी बात है जिसपर बौद्ध-मत को मानने वाले विभिन्न राष्ट्र भी एक मत नहीं हैं। सिंहली, बर्मी, और स्थायी पंचांग इस तिथि को ईसवी सम्बत् से पूर्व छठी शताब्दी के मध्य के लगभग मानते हैं जबकि तिब्बती और उन्हीं के कारण-स्वरूप मंगोल व चीनवासी इससे कई सैकड़ों वर्ष पूर्व इस घटना को हुआ मानते हैं।"

ऐसी धारणा बनाई गयी है कि पुराण तो कल्पनामात्र हैं। फिर इस धारणाबल उनकी पूर्ण उपेक्षा कर भारतीय ऐतिहासिक कालक्रम का निश्चय करने का यत्न तो केवल शैक्षिक प्रतिकूलता, चिड़चिड़ापन है। किसी भी राष्ट्र का इतिहास, उसी की अपनी परम्पराओं और उसी देश में उपलब्ध अभिलेखों को सन्देह की दृष्टि से देखते हुए, कभी भी ठीक से नहीं जोड़ा जा सकता। चूँकि यही बात पश्चिमी विद्वानों और उनके शिष्यों ने



की है, इसीलिए उनके अनुसन्धान असंख्य परस्पर विरोधी तिथियों के भारी बोझ से परिकलित हो समाप्त हो जाते हैं।

पश्चिमी विद्वानों की परस्पर बुरी तरह से विरोधी तिथियों के विपरीत, यह पहिले ही भली-भाँति दिखाया आ चुका है कि पौराणिक तिथिक्रम प्राचीन भारत का एक सत्य सखा प्रस्तुत करता है। इसलिए, भारतीय इतिहास-ग्रन्थों को अपना आजकल बहुप्रचारित कालक्रम ठीक कर लेना चाहिये और बुद्ध का जन्म १८८७ ई० पू० तथा उनकी मृत्यु १८०७ ई० पू० रखनी चाहिये। इन दोनों घटनाओं की तिथियाँ यही हैं। बुद्ध पर अनुसन्धान करते समय ठीक की गयी प्राचीन भारतीय इतिहास की अन्य महत्वपूर्ण घटनाएँ भी इसी प्रकार भारतीय इतिहास-ग्रन्थों में शुद्ध कर लेनी चाहिये क्योंकि वे प्राचीन भारतीय इतिहास के समांग-वर्णन के ठीक बैठती हैं।

"टाइम्स ऑफ इण्डिया" तथा भारत के अन्य दैनिक समाचार-पत्रों से दिनांक ७ अक्टूबर सन् १९६६ को अहमदाबाद से दिनांक ६ अक्टूबर ६६ को डेम् ट्रस्ट ऑफ इण्डिया द्वारा भेजा गया समाचार छपा था जिसमें "ईसा के लगभग २००० वर्ष पूर्व काल की सात बुद्ध-गुफाओं की उपलब्धि" की सूचना दी गई थी। यह उपलब्धि इस परम्परागत मान्यता को झकझोर देती है कि बुद्ध ई० पू० ६ठी शताब्दी में जीवित थे। इतना ही नहीं, यह खोज हमारी इस धारणा को पुष्ट करती है कि बुद्ध ईसा पूर्व लगभग २००० वर्ष पूर्व जीवित थे; यदि यथायथे वर्णन किया जाय तो कहा जायेगा कि वे ई० पू० १८८७ से १८०७ तक विद्यमान थे।

इन उपलब्धियों की महत्ता का वर्णन करते हुए प्रमुख हिन्दी दैनिक पत्र "नवभारत टाइम्स" ने, शनिवार दिनांक ८ अक्टूबर, १९६६ के अंक में सीमेंट पृष्ठ पर अपने "विचार-प्रवाह" स्तम्भ के अन्तर्गत लिखा था।

### ऐतिहासिक खोज

गुजरात के शिक्षा उपमन्त्री डॉ० भानुप्रसाद पाण्डेय ने अहमदाबाद में पत्र-पत्रिकाओं को बताया है कि भड़ोच जिले के भगड़िया तालुका में

झाजीपुर गाँव के पास कड़िया पहाड़ियों में एक गुफा की खोज की गई है, जो ईसा से दो हजार साल पहले की है।

डॉ० पाण्डेय के अनुसार इस गुफा में एक सिंहयुक्त स्तूप मिला है। गुफा में कई कक्ष, बरामदे आदि भी मिले हैं। यह गुफा और यहाँ मिली वस्तुओं से पता चलता है कि इसे बौद्ध भिक्षुओं ने अपना स्थल बनाया होगा।

इस गुफा की खोज का बड़ा ही ऐतिहासिक महत्व है। भारतीय इतिहास की खोज करने वाले एक विद्वान् श्री पी० एन० ओक ने पिछले दिनों एक पुस्तक प्रकाशित की है जिसमें उन्होंने दावा किया है कि गौतम बुद्ध का जन्म ईसा से लगभग उन्नीस सौ साल पूर्व हुआ। कड़िया पहाड़ी गुफा की खोज से श्री ओक के मत का तो समर्थन होता ही है, भारतीय इतिहास को नये सिरे से लिखने और तिथियाँ नये सिरे से निर्धारित करने की भी आवश्यकता उभर कर ऊपर आती है।

पाश्चात्य विद्वानों ने गौतमबुद्ध का समय ई० पू० छठी शताब्दी माना है। लेकिन अपने मत के समर्थन में उन्होंने कोई तर्क प्रस्तुत नहीं किये, बल्कि मनमाने ढंग पर एक तारीख लिख दी। श्री ओक का मत है कि पश्चिमी इतिहासकारों ने भारतीय इतिहास की तिथियाँ उस तारीख को ध्यान में रखकर निश्चित कीं, जब यूनानी विजेता सिकन्दर और भारतीय राजाओं का मुकाबला हुआ। उस समय के जिस चन्द्रगुप्त का यूनानियों ने उल्लेख किया है, वह मौर्यवंशीय चन्द्रगुप्त न होकर गुप्तवंशीय चन्द्रगुप्त था। इस भूल के कारण पाश्चात्य इतिहासकारों ने भारतीय इतिहास की तिथियाँ निश्चित करने में करीब तेरह सौ साल की भूल की।

कड़िया पहाड़ियों में मिली गुफा के समय के सम्बन्ध में जो अनुमान लगाया गया है और श्री ओक ने जिस मत का प्रतिपादन किया है, उसको इस बात से भी बल मिलता है कि सर विलियम जोन्स, मैक्समूलर, डॉ० प्लौट, चीनी, तिब्बती, और ताजिक लेखों तथा राजतरंगिणी से गौतम बुद्ध का समय ईसा से ८५० साल से लेकर करीब १७०० साल ई० पू० तक पहुँचता है। भारतीय पुरातत्त्व के एक विद्वान् श्री त्यागराज के अनुसार बुद्ध का समय ईसा से १७०० साल पूर्व ही हो सकता है। कड़िया पहाड़ियों



में मिली युका के बाद इतिहासकारों और पुरातत्त्ववेत्ताओं को भारतीय इतिहास के विभिन्न युगों के पुनर्निर्धारण की नयी प्रेरणा मिलेगी।”

### साधारण ग्रन्थ-सूची

(१) दि कौन्सिल हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, बाइ ई० जे० रेप्सन । (२) दि आक्सफोर्ड स्टूडेंट्स हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, बाइ विन्सेंट ए० स्मिथ । (३) दि एज ऑफ बुद्ध मिलिंद एण्ड आस्तियोक एण्ड युग पुराण, बाई कोटा वेंकटाचलम् । (४) इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, बाल्लूम-६ । (५) गौतम दि बुद्ध, बाइ केन्थ मीण्डर्स, १९२२ का संस्करण । (६) क्षत्रिय क्लान्स इन इण्डिया, बाइ विमलाचरण लां । (७) कमेन्ट्री ऑन दि अमरकोष, बाइ भरत । (८) राजतरंगिणी, बाइ कल्हण । (९) ए रिक्वाइ ऑफ बुद्धिस्टिक क्लियरन्स, बाइ फ्रायान, ट्रान्सलेटेड बाइ जेम्स लेग । (१०) बुद्धिस्ट इण्डिया बाइ रोस डेविड्स । (११) लाइफ ऑफ गौतम, बाइ बिशप बिगण्डेट । (१२) ऐसोटेरिक बुद्धिज्म, बाइ ए० पी० सिन्नेट, १९०३ का संस्करण । (१३) हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, बाइ मैक्समूलर । (१४) हिस्ट्री ऑफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर, बाइ म० कृष्णमाचार्य । (१५) डेट्स इन ऐन्ग्लिश हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, बाइ बी० सोमयाजुलु । (१६) इण्डियन आर्किटेक्चर, बाइ ए० व्ही० त्यागराज अय्यर ।

भयंकर भूल : क्रमांक—१२

## भगवान् श्री राम और श्री कृष्ण के युगों की प्राचीनता कम अनुमानित

भगवान् श्री राम और श्री कृष्ण, दोनों ही, भारत में परम पूज्य माने जाते हैं, और सर्वस्थानों पर सभी भारतीय उनको ईश्वर का अवतार समझते हैं। दोनों को ही सर्वोत्कृष्ट आदर्श व्यक्ति का रूप मानते हैं। दोनों महामानवों के नामों से पूर्व “मर्यादा पुरुषोत्तम” गुणवाचक विशेषण से यही प्रमाणित होता है।

दोनों ही भारतीय सभ्यता की अति प्राचीन अवस्था के प्रतीक हैं। वे दोनों इतने अधिक पूर्वकालिक हैं कि हम उनके युगों की स्मृति ही भुला बंदे प्रतीत होते हैं। किन्तु उनके समय की अत्यधिक प्राचीनता किसी भी प्रकार यह अर्थ प्रकट नहीं करती कि वे लोग हमारे सभ्य समुदायों से कम सभ्य समुदायों में हुए। तथ्य रूप में, राम और कृष्ण के जीवन-काल से सम्बद्ध रामायण और महाभारत महाकाव्यों में वर्णित नागरिक कर्तव्य इंजो-निर्धारण कार्य, युद्ध-सामग्री, वेशभूषा के गुण-प्रकार तथा संश्लिष्ट ज्योतिषीय आंकड़ों के बिजद विचार हमें सभी प्रकार यह स्पष्ट करते हैं कि उनके युगों की तुलना में तो हमारी उपलब्धियाँ नगण्य हैं।

कई बार यह तर्क दिया जाता है कि रामायण और महाभारत में निस्सन्देह ऐसे अति उच्च तथा श्रेष्ठ विचारों का संकलन है जिसकी परा-काष्ठा किसी अन्य युग में मिलती ही नहीं, किन्तु जहाँ तक भौतिक उपलब्धियों का प्रश्न है, यह कहा जाता है कि इन महाकाव्यों में समाविष्ट विवरण केवल मात्र अतिरंजित कल्पनाएँ हैं तथा इसीलिए इनपर विश्वास नहीं करना चाहिये। तथ्य तो यह है कि यह तर्क मानव मनोविज्ञान के प्रति



हमारी अज्ञानता ही तिड़ करता है। मानव समाज की प्रगति केवल एक-पक्षीय कभी नहीं होती। अर्थ यह है कि वे समाज, जो आध्यात्मिक तथा नागरिक विचारों की परमोच्च सीमा पर पहुँच सकते हैं, यान्त्रिक अन्वेषणों, उद्योग, अन्तरिक्ष-यात्राओं तथा ओषधीय क्षमता में कभी पीछे नहीं रहेंगे। क्योंकि अन्ततोमत्ता यह वही मानव मस्तिष्क ही तो है जो आध्यात्मिक विचार जगत् में फैलाएँ करता है और क्षणिक सुविधाओं तथा सुख-प्राप्ति के लिये विभिन्न दिशाओं में खोज आदि करने में उन्मुक्त चिन्तन करता है।

हमारा यह अनुपयुक्त अन्धविश्वास, कि हम बीसवीं शताब्दी वाले व्यक्ति भौतिक आविष्कारों की उस परमोच्च स्थिति को पहुँच चुके हैं जैसी कभी पहले हुई ही नहीं, एक अवाञ्छनीय धारणा के कारण जमा हुआ है। हम यह विश्वास करते रहे हैं कि मानव-प्रगति एक सीधा-मार्ग है जिसका प्रारम्भ कन्दरागत मानव से हुआ है और जिसकी परिणति वर्तमान संश्लिष्ट स्थिति में है। यह विश्वास असत्य है, भ्रान्त है। यदि हम चारों ओर दृष्टि-पान करें, तो हमें दिखायी देता है कि संसार का घटनाचक्र दीर्घ वृत्त में चलता है, न कि सीधी रेखाओं में। पृथ्वी तथा अन्य आकाशीय पिण्ड सभी वृत्ताकार हैं। वे सब वृत्ताकार चक्र में घूमते हैं। जम्बकीय तथा विद्युतीय क्षेत्र भी वृत्ताकार हैं। यही नियम मानव-सभ्यताओं पर व्यवस्थित करने से हमें ज्ञान होता है कि वे भी एक अनन्त चक्र में उत्कर्ष और अपकर्ष को प्राप्त होती रहती हैं। यह बात रामायण और महाभारत में वर्णित सभ्यताओं के साथ हो सकती है। यदि यह बात स्पष्ट रूप में हृदयंगम कर ली जाये, तो फिर वह बात स्पष्ट दिखायी देने में कोई कठिनाई नहीं होगी कि ये दोनों भारतीय महाकाव्य दो वास्तविक, प्राचीन सभ्यताओं का वर्णन करते हैं, और जिन उपलब्धियों का वे शवा करते हैं, वे केवल मात्र कल्पना-सृष्टि के कारण भ्रान्ति न होकर वास्तविकताएँ हैं।

उद्योग वैदिक युग, रामायण युग और महाभारत युग भारतीय इतिहास की तीन विशिष्ट तथा महत्वपूर्ण अवस्थाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं, किन्तु तब है कि उनके निषिद्ध भी निश्चित करने की दिशा में कोई महानुभूति-पूर्ण और सम्पूर्ण रूप उद्घाटन ही नहीं मये। भारतीय इतिहास के वर्तमान युगों में यह एक भौतिक असाधन है। तथ्य यह है कि हमारे इतिहास-ग्रन्थ

उनको भ्रान्तियाँ, कपोलकल्पना और कथाओं की संज्ञा देकर उनकी अवहेलना कर देते हैं।

इस पाठ्यगत-दुराग्रह का कारण यह है कि भारत पिछले एक सहस्र वर्षों में भी अधिक समय से अन्य देशों की द्वारा शासित होता रहा है। इनमें से प्रथम ८०० वर्ष मुस्लिम शासन के अन्तर्गत पूर्ण दुरवस्था एवं शासक-शासित के मध्य हादिक-वैमनस्य के रहे हैं। अगले २०० वर्ष तक ब्रिटिश आधिपत्य होने के कारण समय और आकाश, संसार का उद्गम तथा इस पृथ्वी पर जीवन का प्रादुर्भाव आदि के सम्बन्ध में पश्चिमी विद्वानों के अपरिपक्व, मध्ययुगीन विचार सभी शिक्षा सम्बन्धी पाठ्य-पुस्तकों तथा सन्दर्भ-पुस्तकों में धूर्ततापूर्वक ठूस दिये गये और उनकी जड़ें जमा दी गई थीं। उन लोगों ने हमको विश्वास करने पर बाध्य कर दिया कि अभी कुछ समय पूर्व तक हम सभी वानर ही थे। कुछ वर्षों पश्चात् जब हमने अपने पिछले पैरों पर चलना और अगले पैरों को हाथों के रूप में प्रयोग करना सीख लिया, तब कन्दरा में रहने वाले मानव का युग आया, फिर पाषाण-युग और, देखो तथा आश्चर्यान्वित हो जाओ, फिर जैसेस फास्ट संसार के रंगमंच पर प्रगट हुए, और तबसे मानवता तीव्र गति से चलती हुई महान् भौतिक प्रगति की वर्तमान अवस्था तक पहुँच पाई है।

पर्याप्त विचित्रता यह है कि पश्चिमी भौतिक शास्त्री भी संसार के उद्गम तथा मानवजाति के मूल के सम्बन्ध में अपने पूर्वकालिक प्राथमिक विचारों का परित्याग कर चुके हैं। प्राचीन भारतीय लोगों की ही भाँति अब ये भौतिक शास्त्री भी पृथ्वी और उसपर जीवन को करोड़ों वर्ष पूर्व होना स्वीकार करते हैं। फिर भी उनके अपने समाजशास्त्री तथा इतिहास-वेत्ता अभी तक उनके साथ आगे नहीं बढ़ सके हैं। ये लोग अभी तक अपनी अयुक्तियुक्त, व्यर्थ तथा कालगत-दोष सम्बन्धी धारणाओं पर अड़े हुए हैं।

आधुनिक विज्ञान अब हमको यह अनुभव करने में सहायक होना चाहिये कि समय और संसार-उद्गम की गणना युगों, महायुगों तथा मनुओं के रूप में करने का प्राचीन भारतीय विचार उस सर्वज्ञान तथा विशदता का प्रतिनिधित्व करता है जिसकी समता करने में आधुनिक मनुष्य सफल नहीं हो पाया है।



वह अनुभूति प्राचीन समाजों के रूप में रामायण और महाभारत-कालीन सभ्यताओं का अध्ययन करने के लिए मनोवैज्ञानिक रूप में हमें सन्नद्ध करने को पर्याप्त होनी चाहिये। अतः यदि, अन्तः और बाह्य साक्ष्यों द्वारा प्रमाणित हो कि राम और कृष्ण हजारों अथवा लाखों वर्ष पूर्व अवतीर्ण हुए थे, तो किसी को इस बात से पश्चिमी विद्वानों तथा उनके स्थानीय शिष्यों की भ्रांति आघात नहीं अनुभव होना चाहिये।

कम-से-कम परम्परागत साक्ष्य का मूल्यांकन करने में तो कोई हानि नहीं है। केवल यही तथ्य, कि राम और कृष्ण अति प्राचीन युग के प्रतीत होते हैं, हमको निष्क्रिय नहीं कर देना चाहिये क्योंकि हम इससे पूर्व पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि मानव सभ्यताएँ एक अनन्त चक्र में उत्कर्ष और अपवर्ग को प्राप्त होती रही हैं।

भगवान् राम सातवें ईश्वरावतार माने जाते हैं। उनके जन्म का समय सुनिश्चित है। वह दोपहर में ठीक १२ बजे जन्मे थे। उनका जन्म-दिन भी सुनिश्चित है। भारतीय चैत्र मास के शुक्ल पक्ष की नवमी को तदनुसार मार्च के अन्तिम तथा अप्रैल के प्रारम्भिक दिनों में उनका जन्म हुआ था। केवलमात्र अनिश्चितता वस विंशति वर्ष के सम्बन्ध में है। जिसमें वे जन्मे थे उनको विभिन्न उपलब्ध आंकड़ों के साथ गणना की जा सकती है और निर मित्रान किया जा सकता है।

प्राचीन हिन्दू परम्परा के अनुसार वर्तमान कालखण्ड कलियुग है। हिन्दू ज्योतिष ने इसका प्रारम्भ ३१०२ ई० पू० में १८ फरवरी को दोपहर २ बजकर २० मिनट ३० सेकण्ड पर निर्धारित किया है। यह वह घड़ी थी जिसमें सात नक्षत्र एक राशि में ही एकत्र हो गये थे। फ्रांसीसी ज्योतिषी डेकी ने हिन्दू-ज्योतिष शास्त्र की विलक्षण गणना-पद्धति पर अपना आश्चर्य व्यक्त किया है।

कलियुग से पूर्व क्रमानुसार द्वापर, त्रेता और कृतयुग (अर्थात् काल-खण्ड, कल्प) हुए हैं। इन से कल तक चारों युगों की अवधि ४०००, ३६००, २४०० तथा १२०० देवी वर्षों ४ : ३ : २ : १ के अनुपात से आंकी गयी है। देवी वर्षों को मानव वर्षों में परिवर्तित करने में १७,२८,०००।

१२,६६,०००; ८,६४,०००; तथा ४,३२,००० की संख्या उपलब्ध होती है।

वर्तमान कलियुग के ४,३२,००० वर्षीय कालखण्ड के केवल मात्र ५०६६ वर्ष व्यतीत हुए हैं। इससे पूर्व द्वापर युग के ८,६४,००० वर्षों के जोड़ने से हमें ८,६६,०६६ की संख्या उपलब्ध होती है। त्रेता युग को समाप्त हुए इतने ही वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। इसी समय भगवान् राम उत्पन्न हुए थे। प्रत्येक युग के प्रारम्भ और अन्त का १२वां अंश संक्रमण काल समझा जाता है। अपनी अभी तक की संख्या में, इसीलिए, हम १,०८,००० वर्ष की संक्रमणकालीन-अवधि को जोड़ देते हैं। चूंकि कहा जाता है कि श्रीराम त्रेता युग की समाप्ति के निकट-काल में हुए थे, अतः अर्थ यह हुआ कि रामायण महाकाव्य में लगभग १० लाख वर्ष पूर्व के समाज का चित्रण है।

रामायण में वर्णित पशु समूह में चार दांतों वाले गजों का समावेश है। केवल दो दांत वाले गज भी अनुपलब्ध नहीं थे। चार दांत वाले हाथियों का उन पशुओं में विशेष उल्लेख है जो रावण की राजधानी लंका में मिलते थे।

पुरातत्त्वविदों के अनुसार चार दांतों वाले हाथी लगभग १० लाख वर्ष पूर्व लुप्त हो गये। वैज्ञानिक प्रमाण का यह तो एक प्रकार का उदाहरण मात्र है जिसका पूर्ण मूल्यांकन होना अभी शेष है।

इसीके अनुरूप वस्तु के अनुसार, हम, श्रीराम की परम्परागत जन्म-कुण्डली का भी उपयोग कर लें। चन्द्र के दो निष्पन्द, बिन्दुओं अर्थात् राहु और केतु की स्थितियों के अतिरिक्त अन्य आकाशीय पिण्डों की स्थितियों का उल्लेख स्वयं ऋषि वाल्मीकि की रामायण में है। यह भी हो सकता है कि उस समय निष्पन्दों की स्थिति उल्लेख करने की प्रथा न रही हो। श्रीराम की जन्मकुण्डली, जो निर्विवाद रूप में स्वीकृत तथा सर्व भारत में युगों से मान्य है, जो अग्रिम प्रकार है—





कालित ज्योतिष की उपेक्षा करने वालों को भी इसके गणनात्मक पक्ष अर्थात् गणित ज्योतिष से किसी प्रकार का कोई विवाद नहीं करना चाहिये। जिस प्रकार नक्षत्रों की अपेक्षाकृत निश्चित स्थिति विशाल, निर्जन नागर के अन्तर्गत अन्त में नाविकों को अपनी स्थिति का निश्चय करने में सहायता प्रदान करती है उसी प्रकार नक्षत्रों का चित्र हमें भी किसी एक विशिष्ट घटना को समय के अन्तर्गत निर्लेख्य तथा विशाल विस्तार में निश्चित करने में सहायक होता है। अतः यह अच्छा होगा कि ज्योतिषी तथा गणितज्ञ लोग यह पता लगाएँ कि नक्षत्रों की उपर्युक्त स्थिति कितने वर्ष पूर्व विद्यमान थी। यदि यह निश्चित लगभग १० लाख वर्ष पूर्व हो रही हो तथा रामायण के अन्तः तथा बाह्य साक्ष्य भी इसी ओर संकेत करते हों, तो निश्चित है कि हमने भारतीय इतिहास के एक अत्यन्त महत्वपूर्ण वृत्तान्त का काल निर्धारण कर दिया है।

यह भी हो सकता है कि नक्षत्रों की वही स्थिति सैकड़ों अथवा हजारों वर्षों के अन्तर में फिर से आ जाती हो। फिर भी हम उन सभी तिथियों को एकत्र कर, अन्य सगत साक्ष्यों से मिलान कर, यह निश्चित करने का यत्न कर सकते हैं कि इन तिथियों में से कौन-सी तिथि भगवान् श्रीराम की जन्म-तिथि रही होगी।

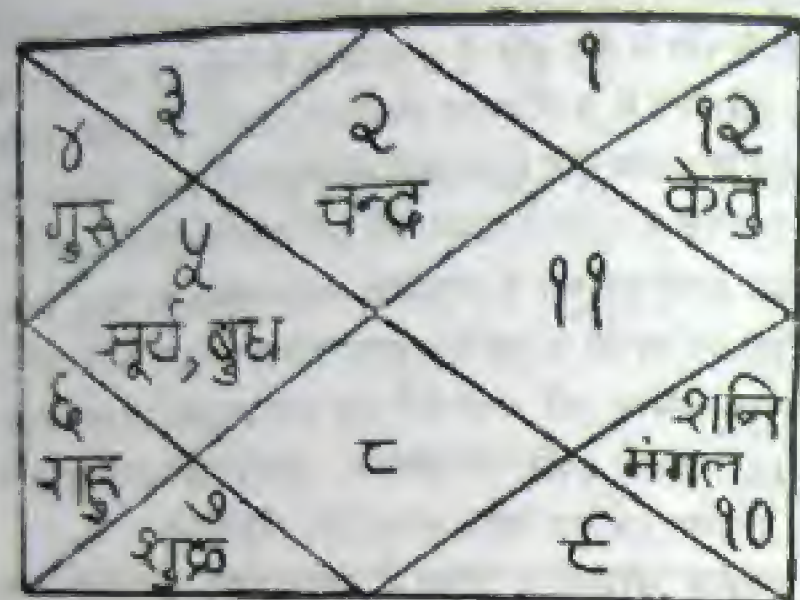
ज्योतिषशास्त्र का अत्यन्त प्रारम्भिक ज्ञान रखने वाला मनुष्य भी यह

तुरन्त ही देख लेगा कि रामचन्द्रजी के जीवन-वृत्तान्त उनकी जन्मकुण्डली में ग्रहों की स्थिति से पुष्ट होते हैं। उदाहरण के लिए, जब कई ग्रह उच्चग्रही होते हैं तथा शेष में से अधिकांश स्वग्रही हों, तो वे उस अदम्य व्यक्तिगत सम्मोहन के स्रोतक होते हैं, जो सभी आगन्तुकों को उसके सम्मुख पराजित एवं नतमस्तक बना देते हैं। ऊर्ध्वगामी कंक राशि में स्वग्रही बृहस्पति दोनों, का एकत्र होना पूर्ण रूप में सत्यनिष्ठ, कठोर-कर्तव्यशील किन्तु दयालु एवं न्यायप्रिय व्यक्ति का स्रोतक है। मकर राशिगत मंगल ७वें घर में होने के कारण वधू-वियोग तथा कभी-कभी वधू द्वारा प्रताड़ना का फल स्रोतक है। चूंकि इस तकनीकी अपरिचित भाषा में, रुचि न रखने वालों को रुचि नहीं होगी, इसलिए हम इस विषय को यहीं पर छोड़ देते हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण के जीवन से सम्बन्ध रखने वाले नक्षत्रीय विवरण अनेक भारतीय धार्मिक-ग्रन्थों में प्राप्य हैं। इनमें से कुछ हैं भागवत (खण्ड-१०, अध्याय-३; खण्ड-११, अध्याय ६ व ७); विष्णुपुराण (खण्ड-५, अध्याय-१, ४, ५, २३ व ३७); मत्स्य-पुराण (अध्याय-२७१, पद ५१-५२) और हरिवंश (खण्ड-१, अध्याय-५२)। इन सभी के अनुसार भगवान् श्रीकृष्ण का जन्म 'श्रीमुख' नामक चक्रीय वर्ष में भाद्र मास में कृष्णपक्ष की अष्टमी को हुआ था। जब उनका स्वर्गवास हुआ, वे १२५ वर्षीय थे। उनकी निधन-तिथि वही है जिस दिन ३१०२ ई० पू० १८ फरवरी को कलिवुग प्रारम्भ हुआ। भगवान् श्रीकृष्ण इस तिथि से १२५ वर्ष पूर्व जन्मे थे। इससे हमें भगवान् श्रीकृष्ण का जन्म-वर्ष ३२२७ या ३२२८ ई० पू० प्राप्त होता है।

भगवान् श्रीकृष्ण के जन्म का समय और दिन हमें पहले ही ज्ञात है। उनका जन्म सम्पूर्ण भारत में भाद्र मास के कृष्ण पक्ष की अष्टमी को मनाया जाता है। श्रावण मास अंग्रेजी जुलाई मास है। उनका जन्म रात्रि के ठीक १२ बजे हुआ था। परम्परागत रूप में चली आई उनकी जन्मकुण्डली अग्रिम प्रकार है—





हो सकता है कि जिस प्रकार "कुछ उल्लेख योग्य जन्मकुण्डलियाँ" नामक पुस्तक में श्री बी० बी० रामण ने एक जन्मपत्री दी है, उसी प्रकार एक या दो चिन्त-मिन्त जन्म-पत्रियाँ हों। किन्तु चूँकि उन्होंने भी श्रीकृष्ण को जन्मकुण्डली ग्रहों की उपयुक्त स्थिति पर ही आधारित की है अतः अब को केवल इतनी ही गणितीय गणना करना शेष है कि क्या ३२२७ या ३२२८ ई० पू० के भाद्रपद (जुलाई) मास के कृष्णपक्ष की अष्टमी की मध्य-रात्रि में नक्षत्रों का राजनिचक में प्रदर्शित करना उस जन्मकुण्डली से मेल जाता है जो हमारे पास परम्परागत रूप में उपलब्ध है।

कुछ पश्चिमी विद्वानों तथा उनके सहज शिष्यों का ऐसा विचार है कि प्राचीन युगों में भारतीय लोगों का मस्तिष्क जन्मकुण्डलियों से इतना अधिक आविष्ट था कि वे लोग अपने सभी और पुरुषों और देवताओं के नक्षत्रीय मानचित्र बना लिया करते थे, और उन जन्मकुण्डलियों में ग्रहों को स्वग्रही अथवा उच्चग्रही प्रदर्शित कर देते थे।

परिहृत उपयुक्त वक्तव्य की समीक्षा करें, तो इसमें हमें अनेक दोषों के दर्शन होंगे। इन विद्वानों को ज्ञात होना चाहिये कि प्रत्येक नवजात मानव की जन्मकुण्डली बनवाने और उसको सुरक्षित रखने की प्रथा केवल मात्र भारत तक ही सीमित, सर्वभारत-व्याप्त तथा अत्यन्त प्राचीन रही है। अतः सभी जन्मकुण्डलियों की रक्षा की दृष्टि से देखना उचित नहीं है। यह

सम्भव है कि किसी मन्दबुद्धि लेखक ने मूल जन्मकुण्डली न मिलने के कारण अत्यधिक उत्साही होकर किसी एक मनगढ़न्त जन्मकुण्डली की रचना कर डाली हो। किन्तु ऐसे मामलों में यदि दो, तीन, चार या अधिक जन्म-कुण्डलियाँ प्रचलित भी हों, तो भी उनमें से सत्य कौन-सा है—यह पता लगा लेने के तो अनेक उपाय हैं। यदि तिथि, वर्ष और जन्म का समय ज्ञात हो तो सर्वोत्तम उपाय प्राचीन पंचांग अथवा गणितीय गणना द्वारा नक्षत्रीय पिण्डों (ग्रहों) की स्थिति का पता लगाना होगा। दूसरी बात यह है कि जन्मकुण्डली के अध्ययन से कुछ मोटे-मोटे निष्कर्षों को उस मनुष्य के जीवन की घटनाओं से मिलाकर देख लिया जा सकता है। जहाँ तक ग्रहों की स्वग्रही अथवा उच्चग्रही बनाने की बात है, यह स्मरणीय है कि असाधारण व्यक्तियों के नक्षत्र असंदिग्ध रूप में ही असाधारण स्थिति के होंगे। यदि ऐसा नहीं होता, तो उन व्यक्तियों ने उन गुणों का प्रकटीकरण किया ही नहीं होता। यह भी उल्लेख करना समीचीन है कि यदि सचमुच ही जाली जन्म-कुण्डलियाँ हों तो उनको व्यक्ति की जन्मकालीन वास्तविक नक्षत्रीय स्थिति से सत्यापित किया जा सकता है। यह भी अवश्य कहना पड़ेगा कि यदि प्राचीन भारतीयों पर आरोप है कि उनके मस्तिष्क पर जन्मकुण्डलियों का प्रभाव आविष्ट है, तो आधुनिक विद्वान् भी इस आरोप से बच नहीं सकते कि वे भी गणितीय-ज्योतिषीय मानचित्र के विरुद्ध समान रूप में ही दुराग्रही वैमनस्य भावना हृदयस्थ किये बैठे हैं। यदि ये मानचित्र ध्यातपूर्वक बनाए जाएँ, तो कम-से-कम, जीवन की घटनाओं की तिथियाँ निश्चित करने में उसी मात्रा में सहायक हो सकते हैं जिस प्रकार नौका-विहारीय-मानचित्र पर नाविकों द्वारा नक्षत्रीय स्थिति उनकी सहायक होती है।

ज्योतिष से पूर्णतया अनभिज्ञ व्यक्तियों को यह मालूम होना चाहिए कि कोई जाली जन्मकुण्डली बनाना सहज कार्य नहीं है। १२ ग्रहों में ६ नक्षत्रों को मनमाने ढंग से बैठा देना कोई सरल काम नहीं है। यदि कोई नौसिखिया ऐसा काम कर ही दे, तो उसे विहंगम दृष्टिपात से भी तुरन्त पकड़ा जा सकता है। उदाहरण के लिए, यदि निष्पन्द बिन्दु परस्पर विरुद्ध रखे जाते हैं, अथवा यदि बुध एक ग्रह में नहीं है, अथवा शुक्र यदि सूर्य के दो घरों में नहीं है, अथवा सूर्य अपने उपयुक्त स्थान पर किसी विशिष्ट



जन्म—समय, तिथि तथा मास की जन्मपत्री में नहीं है तो यह सरलता-पूर्वक मान्य हो सकता है। यदि कोई पण्डित व्यक्ति भी किसी जाली जन्म-पत्री की रचना करता है तो इसको नक्षत्रों, व्यक्ति की आयु तथा उसके जीवन की घटनाओं, उसकी भुक्ताकृति आदि के सन्दर्भ में सत्यापित किया जा सकता है। ज्योतिषास्त्र तथा नक्षत्र-विद्या गणितीय विज्ञान हैं तथा उनके साथ किसी भी प्रकार की प्रवचना तुरन्त ही प्रकट की जा सकती है।

ऊपर दी गई भगवान् श्रीकृष्ण जी की जन्मकुण्डली की स्थूल रूप में चर्चा करें तो ज्ञात होता है कि लगभग सभी नक्षत्र स्वग्रही अथवा उच्चग्रही हैं। इस प्रकार का व्यक्तित्व वस्तुतः देवी अंश ही है जिसकी आध्यात्मिक मुक्त्य के लिए विश्व अपनी सत धड़झालि प्रस्तुत करने पर बाध्य हो जाता है। एक ओर अत्यन्त चमत्कारी तथा अचूक लक्षण वृष राशि पर उच्चग्रही चन्द्र का होना है जिसके कारण व्यक्ति को एक अत्यन्त आकर्षक व्यक्तित्व प्राप्त है। इसीसे ही भगवान् श्रीकृष्ण को मोहन अर्थात् 'अत्यन्त आकर्षक' कहा जाता है।

प्राचीन भारत में अति विचारपूर्वक अभिलिखित नक्षत्रीय आंकड़ों की अवहेलना करके आधुनिक विद्वानों ने अन्वेषण को बहुत क्षति पहुँचाई है। ऐसे आंकड़ों का एकबारगी तिरस्कार इस वक्रोक्ति का अर्थद्योतक है कि प्राचीन भारतीयों ने लगभग २०वीं शताब्दी की अन्वेषणात्मक विद्वत्ता की पूर्ण कल्पना कर लेने के कारण ही जान-बूझकर नक्षत्रीय आंकड़े गड़ डाले थे जिससे कि वे अन्य सम्भत्ताओं की तुलना में अपनी सभ्यता की प्राचीनता का दावा प्रस्तुत कर सकें।

यद्यपि प्राचीन ज्योतिषीय आंकड़े विशुद्ध भावनाओं पर आधारित हैं तथापि उनके विरुद्ध आधुनिक दुर्भावना के विपरीत परिणाम हुए हैं। यह असम्भव नहीं है कि ज्योतिषीय आंकड़ों के प्रति आधुनिक तिरस्कार-भावना के वर्गीकृत होने के परिणामवश ही भारतीय इतिहास में गलत तिथियाँ तथा अशुद्ध तिथिप्रथम दृश्य हुए हैं। इस बात को स्पष्ट करने के लिए मैं एक वास्तविक उदाहरण प्रस्तुत कर सकता हूँ कि एक शोध-प्रबन्ध में भी ऐसे ही दुराग्रह ने एक काव्यमय मिथि का निर्धारण लगभग कर ही दिया था। मेरे पूर्वज एक विद्वान् सज्जन 'डाक्टर' के लिए अपना शोध-पत्र

तैयार करने में व्यस्त थे। उनके मार्गदर्शक ('गाइड') एक भारतीय ईसाई थे जिनके हृदय में भारतीय नक्षत्रीय आंकड़ों के प्रति पश्चिमी विद्वानों के सभी जमे हुए पूर्वाग्रह विद्यमान थे। उनकी शोध का विषय नाना फड़न-बीस—१८वीं शताब्दी का मराठा राजनीतिज्ञ था।

अपने अन्वेषण कार्य की अवधि में हमारे विद्वान् सज्जन को नाना फड़नबीस के जन्म पर प्रकाश डालने वाली तीन विभिन्न तिथियाँ मिलीं जो तत्कालीन ईस्ट इण्डिया कम्पनी के तीन अंग्रेज कर्मचारियों द्वारा उल्लेखित थीं। तीनों कर्मचारियों ने क्रमशः उल्लेख किया हुआ था कि फड़नबीस परिवार द्वारा किसी पुत्र के जन्म-समारोह के सम्बन्ध में आयोजित कार्यक्रम में अतिथि के रूप में उनका स्वागत १२ फरवरी और १२ दिसम्बर १७४२ ई० को किया गया था।

कुछ विद्वानों ने इन सन्दर्भों की व्याख्या नाना फड़नबीस के जन्म की विवादग्रस्त तिथियों के रूप में की थी। इसीके साथ-साथ एक सामान्य जन्मकुण्डली भी थी जिसमें नक्षत्रीय-आंकड़े व भारतीय तिथि थी जो १२ फरवरी, १७४२ ई० के अनुरूप थी। शोध लिखने वाले मेरे परिचित सज्जन ने अपने 'गाइड' के समक्ष सभी तथ्य प्रस्तुत करते हुए कहा कि चूंकि भारतीय जन्मकुण्डली (नक्षत्रीय आंकड़े) प्रथम अंग्रेज-व्यक्ति द्वारा उल्लेखित तिथि से मेल खाती थी, अतः वही तिथि नाना फड़नबीस की आधिकारिक जन्म-तिथि थी।

नक्षत्रीय आंकड़ों के विरुद्ध अपने शिक्षित दुराग्रह के कारण ही 'गाइड' महोदय ने यह बात मानना अस्वीकार कर दिया। वह इसको प्रमाणित करने योग्य मूल्यवान् वस्तु भी मानने को तैयार न था। यह तो एक ऐसी विचित्र वक्रोक्ति थी कि मानो जब कभी कोई भारतीय उत्पन्न होता है तो उसके चारों ओर ऐसे असंख्य ज्योतिषी मिल जाते हैं जो संसार को उस नवजात व्यक्ति से सम्बन्धित नकली जन्मकुण्डलियों से व्याप्त कर देते हैं—वह भी केवल भावी ज्योतिषियों को भ्रमित करने अथवा केवल मात्र नकल-वृत्ति के कारण। अतः 'गाइड' का आग्रह था कि वह विद्वान् छात्र अपने को केवल तीनों अंग्रेज व्यक्तियों द्वारा उल्लेखित तिथियों तक ही सीमित रखे एवं इन्हीं में से एक को नाना फड़नबीस की वास्तविक तिथि पुष्ट करे। 'गाइड' की



‘निश्चित’ अस्पष्टि के कारण इस सदेव दुराग्रह ने एक गलत तिथि को अधिकारिता की छाप लगा दी होती।

किन्तु भाग्यवश हुआ यह कि उस विद्वान्-छात्र ने अपनी बिरली अन्त-दृष्टि से एक ऐसा सूत बनाया जिसके अनुसार दोनों विभिन्न तिथियाँ भी भारतीय जन्मकुण्डली में ही गई तिथियों से मेल खा गई। उसने ‘गाइड’ को स्पष्ट कर दिया कि अंग्रेज व्यक्ति द्वारा उल्लेखित वह एक तिथि वास्तविक जन्मतिथि थी जो भारतीय जन्मकुण्डली से मेल खाती थी, जबकि २४ फरवरी को आयोजित समारोह बालक के नामकरण-संस्कार के उपलक्ष में था (जो महाराष्ट्र में सदैव जन्म के १२वें दिन मनाया जाता है) और २ दिसम्बर का स्वागत-समारोह (१० मास पूर्ण होने पर) बालक के मुण्डन-संस्कार का समारोह था। इस तर्क ने ‘गाइड’ को विद्वान्-सज्जन की उपलक्ष्य के पक्ष में कर दिया। किन्तु मुझे अभी तक यह निश्चित मालूम नहीं कि यह तर्क दूर करने वाला तथा प्रकाशवान स्पष्टीकरण घटनाओं की तिथि निर्धारित करने के लिए भारतीय नक्षत्र-स्थितियों के विरुद्ध ‘गाइड’ के कुछ पूर्वाग्रहों को दूर कर पाया है अथवा नहीं।

इससे पाठक को यह तो विश्वास हो गया होगा कि सर्वथा न्याय्य भावनाओं के होते हुए भी भारतीय ज्योतिषीय अभिलेखों के प्रति आधुनिक सभ्यतात्मक अनुभूति से भारतीय ऐतिहासिक तिथि-क्रम को महान् क्षति पहुँची होगी क्योंकि इसको देखते ही अस्वीकार करने का तथा इसमें परिवर्तन करने का क्रम चलता रहा है।

यहाँ मैं जिस बात पर बत देना चाहता हूँ वह यह है कि अन्य सभी शास्त्रों की भाँति जन्मकुण्डलियों की भी पूर्ण समीक्षा कर लेनी चाहिये विशेषकर उस स्थिति में जहाँ एक ही घटना के लिए एक से अधिक जन्म-कुण्डलियाँ उपलब्ध हों। किन्तु उनके सम्बन्ध में वर्तमान धारणा, मानो वे कुछ ऐसा सम्बन्ध बनूँ जो ‘ऐतिहासिक सामग्री’ को भी धूमिल कर रही है अशुद्धीय तथा इतिहासकारों के अतिप्रिय उद्देश्य को ही क्षति पहुँचाने वाला है। ऐतिहासिक साक्ष्य के रूप में जब जन्मकुण्डलियाँ प्रस्तुत की जाती हैं तब वे एकदम से अतिरिक्त हो गये प्रतीत होते हैं और जब जन्म-कुण्डलियाँ अथवा नक्षत्रीय आँकड़ें उन व्यक्तियों अथवा घटनाओं के प्रति

प्राचीनता की ओर संकेत करते हैं जिनको विद्वान् लोग तुलनात्मक रूप में कम समय का मानते हैं, तो उनको पहुँचे आघात की कोई सीमा नहीं रहती। इस प्रकार की विषमता स्वयं ही उनको विवश कर देती है कि वे ज्योतिषीय साक्ष्य को बनावटी कहकर तिरस्कृत कर दें।

अतः आधुनिक विद्वत्समाज को भारतीय ज्योतिषीय आँकड़ों के साथ ‘रहना’ सीखना श्रेयस्कर है। जहाँ संकेतों से भी कोई निर्णयात्मक निष्कर्ष उपलब्ध नहीं होते, वहाँ ऐसे आँकड़ों का समीक्षात्मक अध्ययन करने एवं उसके निष्कर्षों को एक सम्भव उत्तर स्वीकार करने में किसी प्रकार की हानि नहीं हो सकती।

तथ्य यह है कि यदि नक्षत्रीय उल्लेख यथार्थ पाए जाते हैं तो ऐतिहासिक घटनाओं तथा व्यक्तियों की तिथि निर्धारित करने में इससे श्रेष्ठ और कोई प्रमाण हो नहीं सकता। क्योंकि, चाहे युग परिवर्तित हो जाएँ और इतिहास के उथल-पुथल में उनका प्रमाण ही लुप्त हो जाय किन्तु गणितीय गणना द्वारा नक्षत्रीय उल्लेखों को सदैव पुनर्लक्षित किया जा सकता है। अतः जाली जन्मकुण्डलियाँ बनाने के लिए सन्देह किए जाने तथा कोसे जाने की अपेक्षा व्यक्तियों और घटनाओं के नक्षत्रीय उल्लेख लिख लेने के माध्यम से ऐतिहासिक-भावना बनाए रखने के लिए तो प्राचीन भारतीयों की सराहना ही करना चाहिये, वे साधुवाद के ही निश्चित रूप में पात्र हैं।

इस प्रकार, भारतीय-इतिहास-परिशोध से किसी भी प्रकार का सम्बन्ध रखने वाले सभी व्यक्तियों को भारतीय सभ्यता की अति प्राचीनता तथा लिखित नक्षत्रीय आँकड़ों की उपयोगिता को स्वीकार करने के लिए तैयार रहना चाहिये। किसी भी देश का, किसी भी प्रकार का वास्तविक ऐतिहासिक परिशोध उन विद्वानों द्वारा होना सम्भव नहीं है जो उस देश की जनता तथा उनकी प्राचीन धार्मिक परम्पराओं को संशय की दृष्टि से देखते हैं व घृणा करते हैं।

भारतीय सभ्यता की अति प्राचीनता का एक स्पष्ट लक्षण तो हमें भारतीय औषध, नृत्य, संगीत तथा नक्षत्रीय गणित-शास्त्रों में ऐतिहासिक जाँच-पड़ताल द्वारा उपलब्ध होता है। चाहे हम कितने ही युग पीछे तक सोचते जाएँ, हम उन कलाओं और विज्ञानों को ज्ञान की परिपक्वतावस्था



को प्राप्त भाषाओं के रूप में ही पाते हैं। उनका मूलोद्गम खोज पाने की तो बात ही दूर है, हमें तो ऐसी भी कोई अवस्था दृष्टिगोचर नहीं होती जब वे कलाएँ (और विज्ञान) कभी अपनी प्रारम्भिक अवस्था में रही हों। उनका इतिहास खोजते हुए हम ज्यों-ज्यों पीछे जाते हैं, त्यों-त्यों हम प्रत्येक रत्नसिद्ध कलाकार तथा शास्त्रज्ञ व्यक्तियों को अपने से पूर्व के किसी ऐसे ही व्यक्ति का सम्बन्ध और उसके पूर्व चली आयी अनन्त परम्परा की ओर इंगित करता हुआ पाते हैं। यह परम्परा अनानुरेखणीय प्राचीनता तक पहुँच जाती है। अतः इतिहासकारों को इस बात से आश्चर्य नहीं होना चाहिये कि जैसा भगवान् राम की जन्मकुण्डली से संकेत मिलता है, भारतीय सभ्यता कासों वर्ष पूर्व की है। भारतीय सभ्यता की यह प्राचीनता केवल इसी कारण अमान्य नहीं कर देनी चाहिये कि वह मध्यकालीन इस धारणा में मग्न नहीं बैठती कि मानव-सभ्यता स्वयं ही अभी कुछ पूर्वकाल की है।

#### साधारण ग्रन्थ-सूची

- (१) हिस्ट्री ऑफ़ धर्मशास्त्राज, बाइ डॉक्टर पी० बी० काणे।
- (२) दि एज ऑफ़ बुद्ध, मिलिंद एण्ड अस्तियोग एण्ड दि युग पुराण, बाइ कोटा बेंकटाचलम्।
- (३) कैरिम्स इण्डियन पुराण्स।
- (४) सन नोटिबल हौरोमकोप्स, बाइ बी० बी० रमन।

भयंकर भूल : क्रमांक—१३

### तथाकथित 'आर्य जाति'—संज्ञा भारी भूल करने वाले पश्चिमी इतिहासकारों की कल्पना-सृष्टि है

अपने घृणित साम्राज्यवाद की तरंग में १९वीं शताब्दी में एशिया को रौंदते हुए पश्चिमी इतिहासकार अनगढ़न्त सिद्धान्तों की सृष्टि करने एवं उनको संसार के पराधीन राष्ट्रों के बलात् गले उतारने में लग गये।

मानसिक दृष्टि से उदासीन संसार पर थोपा गया इस प्रकार का मिथ्याधारित एक विचार—एक छायाभास-तथाकथित 'आर्य जाति' का होना था। तभी से विद्वानों की बहुत बड़ी संख्या, एक के बाद एक, 'आर्य' की परिभाषा करने, उनकी भाषा अथवा भाषाओं को जानने एवं उनके मूल देश का पता लगाने के दुष्कर कार्य में लगी हुई है।

छाया के पीछे इस प्रकार दौड़ने का परिणाम अत्यन्त नैराश्य एवं पूर्ण विफलता के अतिरिक्त कुछ होना ही नहीं था क्योंकि संस्कृत शब्द 'आर्य' की अशुद्ध व्याख्या और मौलिक भ्रान्तियों के कारण उत्पन्न अपनी ही कल्पनासृष्टि में तथाकथित 'आर्य जाति' का छायाभास, भारी भूल करने वाले पश्चिमी विद्वान्, कर बैठे।

अब साक्ष्य उपलब्ध है कि 'आर्य जाति' कभी थी ही नहीं, और इसी-लिए उनका लहरों की भाँति एशिया और यूरोप में फैल जाना दृश्यमान सत्यता का घोर उपहास प्रतीत होता है।

संस्कृत-भाषी भारतीयों ने 'आर्य' शब्द की सृष्टि आदर्श के छातक के रूप में की थी। भारतीयों के लिए 'आर्य' शब्द सुसंस्कृतजन, पूर्ण कुलीन



व्यक्ति, आदर्श मनुष्य, अतिमानव का द्योतक था। महान् आदर्शवादी एवं आचरण की शुद्धता के दृढ़ पोषक व्यक्ति होने के कारण उन लोगों ने 'आर्य' की कल्पना उद्भिक्त की ऐसी स्थिति में की जिसमें पहुँच जाने की आकांक्षा, अभिलाषा प्रत्येक व्यक्ति को करनी चाहिये।

इस सत्य का, सभी भारतीयों के लिए आदर्श वाक्य 'कृण्वन्तो विश्व-नार्यम्' अर्थात् 'सब विश्व को आर्य बनाओ' से बढ़कर और कौन-सा उत्तम प्रमाण होगा। यदि 'आर्य' शब्द किसी जाति का द्योतक रहा होता, तो उपर्युक्त आदर्श वाक्य प्रयोग एवं व्यवहार में नहीं आता क्योंकि जाति-भावना की दृष्टि से प्रबुद्ध व्यक्ति, संसार को अपने समुदाय में सम्मिलित करना तो दूर, अपनी सत्ता गर्वधा पृथक् बनाए रखने में ही विश्वास रखते हैं।

'आर्य' शब्द आदर्श व्यक्ति का द्योतक था, किसी जाति का नहीं। यह भगवान् श्री कृष्ण द्वारा अर्जुन को भर्त्सना निम्न शब्दों द्वारा किये जाने से पुनः सिद्ध होता है—

(१) कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्,

अनायं नुष्टमस्वयं मर्कोतिकरमर्जुन ।

(२) स्वयं मा स्म यमः पार्थ तैतत्स्वय्युपपद्यते;

शुद्धं हृदयशैवंत्य त्यक्तवोत्तिष्ठ परंतप ॥

(३) हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्,

तस्मादुत्तिष्ठ कोन्तेय पुटाय कृतनिश्चयः ॥

भगवान् श्री कृष्ण दिव्यावतार होने के कारण स्वयं को कभी भी एक ही जाति से बाँधकर रखते एवं अन्य लोगों को हीन भावना से देखते—ऐसा कभी नहीं हो सकता था।

प्राचीन भारत में पति अथवा राजा को सम्बोधित करते समय 'आर्य' शब्द का मिलन व्यवहार करना भी एक अन्य प्रमाण है। पति के लिए व्यवहार में आने वाला एक अन्य शब्द 'वर' है। संस्कृत में 'वर' शब्द अत्यधिक श्रेष्ठ व्यक्ति का द्योतक है, अतः 'आर्य' शब्द भी उसी भावना का समानार्थक है।

उक्त 'आर्यों' को एक जाति समझना—और जाति में भी एक ऐसी

सम्मानयुक्त जाति समझना जिसने अपने आपको सदैव तथाकथित 'इस्पृश्यों' या दासों से पृथक् समझा एवं निर्दयतापूर्वक उनका दमन किया—एक ऐसी भयंकर भूल है जिसने प्राचीन भारत एवं विश्व-इतिहास के अध्ययन को झल्ट कर दिया है।

जिस प्रकार आधुनिक भाषणकर्ता श्रोताओं को 'सज्जनो एवं देवियो' सम्बोधित करता है, उसी प्रकार सामान्य रूप में सम्मानयुक्त प्रणाली से सम्बोधित करने के अतिरिक्त 'आर्य' शब्द और किसी बात का द्योतक नहीं था। उसका अर्थ यह नहीं है कि भाषणकर्ता स्वयं को सज्जनों की श्रेणी में सम्मिलित नहीं करता, न ही यह अर्थ है कि जो लोग वहाँ श्रोताओं में उपस्थित नहीं हैं, वे सज्जन नहीं हैं। इस प्रकार जैसेकि 'सज्जनो' और 'देवियो' शब्द किसी भी प्रकार से किसी जाति-वर्ग का अर्थद्योतन नहीं करता, उसी प्रकार, प्राचीनकालीन व्यक्ति जब 'आर्य' कहते थे, तब वे न किसी जाति को सन्दर्भित करते थे, और न ही काल्पनिक दासों के रूप में अन्य लोगों से विनिष्ठता प्रदर्शित करने के लिए 'स्वामी' के रूप में स्वयं को 'आर्य' संज्ञा से विभूषित करते थे।

'आनुवंशिकता, जाति और समाज' नामक अपनी पुस्तक में भी डन्न और डोबजान्स्की ने इसी प्रकार का विचार प्रकट किया है। जब उन्होंने लिखा, "मैक्समूलर ने... किसी दुर्दिन ही 'आर्य जाति' शब्द का प्रयोग किया था। इसीसे वास्तव में, केवल बातों ही बातों में एक काल्पनिक प्राणी... आर्य मानव की उत्पत्ति हो गई।"

'संस्कृत भाषा' शीर्षक अपनी पुस्तक में प्रोफेसर टी० मुरो ने लिखा है कि "भारत पर इंडो-आर्यन आक्रमण का प्रत्यक्ष प्रमाण कहीं उपलब्ध नहीं है। ऋग्वेद के मूलपाठ में यद्यपि ऐतिहासिक प्रक्षिप्तांश अप्राप्य नहीं हैं, तथापि देशान्तर के गमन तथ्य के सम्बन्ध में कोई सन्दर्भ उपलब्ध नहीं है, और न ही ऐसा कोई संकेत है कि (देशान्तरगमन की) इस घटना को अब भी स्मरण किया जाता हो।"

यह साक्ष्य अति प्राचीनकाल से चली आई इस धारणा को अस्तिष्ठ करने के लिए पर्याप्त है कि भारतीय लोग मध्य एशिया और ध्रुव प्रदेशी व्यक्तियों के एकीकरण हैं। भारतीय इतिहास की पुस्तकें हमको प्रारम्भ से



ही होते-की-की-रह में वह सिमाने लगती है कि हम लोग अन्य देशीय हैं, तथा भारत के मूल-निवासी लोग तो आदिवासी हैं। हमें विश्वास करने को कहा जाता है कि हम अन्य देशीय लोगों ने भारत पर आक्रमण किया और वहाँ के मूल निवासियों का प्रायः वशलोप ही कर दिया। उस महाविध्वंस में ही जो लोग बच सके, वे आर्य-जीवन में ही समा गये। इस मृणित धारणा पर निकट से पुनर्विचार करना अत्यन्त आवश्यक है।

मानकों को देखते एक श्रेणीबद्ध करने का एक ढंग उनकी रूप-रचना पर आधारित है। इस प्रकार कहा जाता है कि हमारा यह संसार चार बड़े भागों में विभक्त है—श्वेत, श्याम, ताम्र एवं पीत वर्ण। जहाँ तक यह बात है, वहाँ तक तो ठीक है। किन्तु, श्वेत-वर्ण वालों को 'आर्यों' की संज्ञा से चिह्नित करना एक भयंकर ऐतिहासिक भूल है। जैसा पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है, 'आर्य' शब्द तो 'संस्कृत', 'मुसस्कृत' व्यक्ति का पर्याय था। अतः उपर्युक्त चारों वर्ण अथवा इनमें से कोई भी 'आर्य' कहा जा सकता था। पचायेत होता भी ऐसा ही है। जर्मन और ग्रीक लोग, जो श्वेत-वर्ण हैं, तथा भारतीय, जो ताम्र वर्ण लोगों की श्रेणी में रखे जाते हैं; सभी के सभी 'आर्य' समझे जाते हैं। यदि आर्य नाम एक बात ही रहे होते, तो यह कभी न हुआ होता। किन्तु चूँकि वे राष्ट्र एक सामान्य संस्कृत-संस्कृति वाले हैं, इसीलिए वे लोग एक-दूसरे को सम्मान-मुचक शब्द 'आर्य' से ही सम्बोधित करते रहे हैं। 'आर्य' शब्द के इस प्रकार बारम्बार प्रयुक्त होने के कारण ही मैक्स-मुल्लर सहित पश्चिमी विद्वानों ने इस शब्द से जाति का अर्थ लगाने की भयंकर भूल की।

यह तर्क भी दिया जाता है कि चूँकि संस्कृत-भाषायी सभ्यता का बाली से बाल्टिक सागर-पर्यन्त तथा कोरिया से काबा तक अस्तित्व ज्ञात है, इस कारण उनके भाषायी पूर्वज एक ही रहे होंगे। फिर सहज ही यह भी कल्पना कर ली जाती है कि उनकी पैतृक-भाषा संस्कृत के निकटस्थ ही रही है, सम्बन्ध नहीं। फिर, यह तर्क दिया जाता है कि तथाकथित भारोपीय लोगों को निकटस्थ भाषा सिद्धानिधन है, अतः जो लोग भारोपीय भाषा बोलते रहे, उन लोगों ने बाल्टिक सागर से देशान्तर गमन किया। 'आर्यों' का 'देशान्तर गमन' का सम्पूर्ण सिद्धान्त इस प्रकार शीघ्र आधार पर स्थित है।

इसके पश्चात् आर्यों के आदि-स्थानों तथा उनके मारी संख्या में जो बाढ़ देशान्तर गमन के समय प्रयुक्त मार्ग 'अ' और 'ब' के सविस्तार वर्णन प्रारम्भ हो जाते हैं। इन वर्णनों को पढ़कर आश्चर्य यह होता है कि वह कौन-सा भाग्यशाली बृत्त-लेखक था जो इन आर्यों की दो जहरों द्वारा किए गये देशान्तर गमन के समय अपनाए गये मार्ग का अवलोकन करने एवं चित्रण करने के लिए उनके साथ-साथ उछल-कूद करता रहा अथवा किसी ऊँची-पहाड़ी चट्टान पर वियुक्त हो विश्रामावस्था में बैठा रहा। मालूम पड़ता है, किसी भी नये सिद्धान्त को स्वीकार करने से पूर्व सभी प्रकार के ऊटपटांग एवं सतर्कतापूर्ण प्रश्न करने वाले इतिहासकार बिना किसी प्रकार के प्रश्न एवं उनपर विचार किये ही आर्य-जाति और उनके देशान्तरगमन के सिद्धान्तों को 'निगल' गये हैं।

कुछ भाषाविद् यह सिद्धान्त निश्चित करते हुए प्रतीत होते हैं कि आर्यों का मूलस्थान वह क्षेत्र मानना चाहिये जहाँ पर भारोपीय परिवार की अधिकांश भाषाएँ बोली जाती हैं। इसका अवश्यभावी निष्कर्ष यह होगा कि तथाकथित 'आर्य' लोग यूरोपीय देशों से अन्य देशों में गये। किन्तु भाषाविज्ञानी तो इसपर भी सहमत नहीं हैं। वे लोग आर्यों के मूलस्थान के रूप में पामीर के पठार, तुर्की अथवा हिमप्रदेश का उल्लेख करते हैं।

यही मूल तर्क कि चूँकि भारोपीय भाषाओं की अधिकांश भाषाएँ यूरोप में विद्यमान पायी जाती हैं, इसीलिए यूरोप ही आर्यों का मूलस्थान होना चाहिये, तथ्यरूप में एक बिल्कुल विभिन्न निष्कर्ष प्रस्तुत कर सकता है। आइये, हम एक समकालीन उदाहरण लें। अमरीका में हम अपने ही समय में, विशेषकर न केवल यूरोप और इंग्लैण्ड की बोलियों का ही, अपितु अन्य अनेक क्षेत्रों की बोलियों का भी संगम पाते हैं। यह किस बात का श्रोतक है? क्या यह सिद्ध नहीं करता कि अमरीकी लोगों ने यूरोप को अपना निवास-स्थान बनाया—तथापि बात बिल्कुल इसके विपरीत है।

उसी दृष्टान्त के अनुसार, हम कह सकते हैं कि यदि यूरोपीय भाषाओं में संस्कृत का आधार दृष्टिगोचर होता है और यदि संस्कृत भाषा केवल भारत देश में ही अपने आद्य-यशस्वी रूप में फलती-फूलती है, तो स्पष्ट निष्कर्ष यह है कि ये साहसी भारतीय लोग ही थे जो अन्य सभी महाद्वीपों में



गये। बाद में, जब अस्ताव्यव्या व्यतीत होते-होते भारत के साथ ये सम्बन्ध तुप्त होने लगे, यूरोपीय भाषाओं ने केवल संस्कृत भाषा के चिह्न ही बनाए रखे, जबकि वास्तविक संस्कृत भाषा अभी भी अपने उद्गम-देश अर्थात् भारत में कल-फूल रही है।

यह निष्कर्ष इस तथ्य से और भी पुष्ट होता है कि प्राचीन वैदिक भारतीयों की प्रगतिशीलता का उद्घोष वाक्य 'कुष्वन्तो विश्वमार्यम्' (समस्त विश्व को आर्य बनाओ) था जो उनको अपना ज्ञान और अपनी संस्कृति दूरतम देशों में फैलाने के लिए अपनी विजयों और साहसिक-यात्राओं पर भेजने के लिए सतत प्रेरित करता रहता था।

'आर्यों' की एक जाति थी एवं आर्य लोग भारत में देशान्तर गमन कर बाहर से आए अपनी इन पूर्व-कल्पित मान्यताओं के कारण यूरोपीय विद्वानों ने समस्त वैदिक शब्दावली की व्याख्या 'आक्रमणकारी आर्यों' और 'मूल भारतीयों' के मध्य हुए पुनः एक कल्पित संघर्ष के आधार पर की। इसी आधार पर 'अयाजवनाः' (यज्ञ न करने वाले), 'शिश्रदेवाः' (लिंग पूजक) और 'पितृ-घृष्टि' (श्याम-वर्ण) आदि शब्दों को यूरोपीय विद्वान् आक्रमण-कारी आर्यों द्वारा मूल 'श्यामवर्णों' भारतीयों के विरुद्ध निन्दात्मक रूप में व्यवहृत मानते हैं। यह सन्देह करना पूर्ण युक्तियुक्त प्रतीत होता है कि यूरोपीयों ने विजयपुर एवं 'आर्यों' की एक काल्पनिक जाति पर अपना रमज्ज का दुराग्रह धोप दिया है। दूसरी बात यह है कि शिव वेदों में उल्लिखित एक देव होने के कारण लिंग-पूजन का द्योतक 'शिश्रदेवाः' कभी भी निन्दात्मक हो ही नहीं सकता था। यह सम्भव हुआ हो कि कुछ लोग शिव की पूजा करते हों, और अन्य लोग नहीं। इस दृष्टि से, यह केवल विमृष्ट अन्तर-द्योतक लक्षण रहा हो। एक और भी बात यह है कि 'शिश्रदेवाः' का अर्थ 'जबल मनोघावी का' अथवा 'संवेदनशील' भी हो—'लिंग पूजक' शेषभाव भी नहीं, बल्कि यह कल्पना करना कि यह शब्द आर्यतर शक्ति का सूचक है, अति अयुक्ति-युक्त एवं भाषा विज्ञान की दृष्टि से अवागम्य है।

'पितृ-घृष्टि' शब्द भी शालिमा लिए भूरे रंग का द्योतक है, न कि 'श्यामवर्ण' का।

ऋग्वेद को केवल ३,००० वर्ष पुराना घोषित करने की मैक्समूलर की प्रारम्भिक भूल ने एक अन्य भयंकर भूल को जन्म दिया जब यह विश्वास करने को कहा गया कि ५,००० वर्ष पूर्व हुए मोहन-जोदड़ो निवासी अवश्य ही वेद-पूर्व सभ्यता के लोग थे। किन्तु मोहन-जोदड़ो में शिवफलक की उपलब्धि एवं सिन्धु-घाटी की लिखावट में वेदों के नामों के स्पष्टोल्लेखों ने पश्चिमी विद्वानों की मान्यताओं को पूर्ण रूप में भू-लुण्ठित कर दिया है। अब यह नहीं कहा जा सकता कि मोहन-जोदड़ो की सभ्यता द्रविड़ों की वेद-पूर्व की थी। साथ ही, इसने यह भी सिद्ध किया है कि यह धारणा कि ऋग्वेद केवल ३,००० वर्ष पुराना है, अविश्वसनीय है।

जहाँ तक इस धारणा का सम्बन्ध है कि वेदों में वर्ण (रंग)-संघर्ष के प्रमाण उपलब्ध हैं, यह बात ध्यान रखने की है कि इन तथाकथित आर्यों में स्वयं ही श्याम-वर्णी एवं श्वेतवर्णी लोग थे। तथ्य रूप में 'वर्ण' शब्द सदैव रंग का द्योतक नहीं है। यह बाह्यण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र की भाँति वर्ग या श्रेणी बताता है। ऋषि कण्व का रूप श्याम था, इसी प्रकार इन्द्र भी था। वेदों में किसी वर्ण (रंग)-संघर्ष की बात होना तो दूर, वहाँ तो हम इन दोनों को एक तृतीय पक्ष द्वारा शत्रु के रूप में एक ही श्रेणी में रखा गया पाते हैं (ऋग्वेद १०-८३)।

अब इसका अर्थ यह लगाया जाय कि 'वास्तविक' श्वेत आर्यों द्वारा भारत पर 'आक्रमण' किए जाने से पूर्व मूल 'आर्यों' की एक उपजाति भारत में पहले ही विद्यमान थी?

लोकमान्य तिलक द्वारा वेदों में उत्तर-ध्रुवीय भूगोल की उपलब्धियों के सन्दर्भों का केवल एक ही अर्थ हो सकता था कि वैदिक ऋचाओं के लक्ष्य विश्व की जहाँ दिशाओं में शिक्षा, विज्ञान और संस्कृत प्रचार-प्रसार के अपने आदर्श से प्रेरित होकर अपनी गवेषणात्मक साहसिकता में उत्तरी-ध्रुव की दुर्गम दूरी तक जा पहुँचे। इसपर डॉ० अविनाशचन्द्र दास ने अपनी पुस्तक 'ऋग्वैदिक भारत' में पूर्ण प्रकाश डाला है।

ऋग्वेद का सम्यक् अध्ययन स्पष्ट करेगा कि दस्यु लोगों की ऐसी कोई प्रति-जाति नहीं थी जो तथाकथित 'आर्यों' से मनोवैज्ञानिक विशिष्टताओं में भिन्न हो।



‘द्रस्यु’ शब्द ऋग्वेद में लगभग ४० बार प्रयुक्त है। श्वेत समझें जाने वाले ‘शायी’ से विभिन्नता प्रदर्शित करने वाले आदिवासियों की पृथक् जाति के रूप में इन ‘द्रस्यु’ शब्द का एक बार भी प्रयोग नहीं हुआ है। द्रस्युओं के लिए प्रयुक्त विशेषण ‘अनास’ शब्द का अर्थ अनेक पश्चिमी विद्वानों ने उन व्यक्तियों से लगाया है जिनके कोई नाक न हो, अथवा चपटी नाक हो। साधन इसकी व्याख्या ‘मुखहीन’ करता है जो यह विचार करने पर स्वाभाविक प्रतीत होता है कि कदाचित् किसी श्राप-वश द्रस्युओं को ‘होशबक’ भी कहा जा सकता है।

चूंकि ‘आस’ का अर्थ बैठना है, ‘अनास’ का अर्थ घुमकड़ अर्थात् रोमणी (जिप्सी) होगा। ऋग्वेद (१-१३-३८) में मानवों के हेतु द्रस्युओं की मारने का उल्लेख है। इसका अर्थ है कि द्रस्यु लोग अति प्राकृत प्राणी थे। इन्द्र द्वारा द्रस्यु-नाश विशेष रूप में इसीलिए अमानवीय समझा जाता है क्योंकि द्रस्यु लोग अमानव थे। अपनी पुस्तक ‘वैदिक अनुक्रमणिका’ में कीच और नेमरोविल ने भी स्वीकार किया है कि ऋग्वेद की अनेक ऋचाओं में द्रस्यु नष्ट रूप में ही जाति प्राकृत शत्रुओं के लिए प्रयुक्त हुआ है। इन्द्र वृष्टि की देवता ऐसा देवता है जोकि सूखा और अन्धकार को दूर भगाने के लिए वर्षा और जल प्रदान करता था। इस जल का प्रवाह रोकने वाले नेशों और इस के ‘धुरों’ को उसने नष्ट किया। इस उद्धरण में मोहन-जोदड़ों एवं हड़प्पा की अनाथ सभ्यता का आर्य इन्द्र द्वारा सर्वनाश समझना, वैसा पश्चिमी विद्वान् समझते हैं, धर्म-विद्या एवं अमूर्त विषय-ज्ञान की इतिहास समझकर पढ़ने के समान है।

केवल मात्र इसलिए कि द्रस्युओं का वर्णन इस प्रकार के लोगों के रूप में किया गया है जो धार्मिक रूप नहीं करते, बलि नहीं देते अथवा पूजन नहीं करते, यह मान लेने का भीचित्र नहीं है कि उनमें और तथाकथित आर्यों में परस्पर ईर्ष्या। हमारे अपने ही युग में जैन और बौद्ध लोगों को इस प्रकार के व्यक्तियों के रूप में चित्रित किया जा सकता है जो पूजन करने के हिन्दु-धर्म का अनुकरण नहीं करते। केवल इसी बात से यह अर्थ नहीं निकालना कि इन दोनों में परस्पर ईर्ष्या अथवा शत्रुता है।

द्रस्युओं का वर्णन तो दस के शत्रुओं के रूप में किया गया है—न कि

तथाकथित आर्यों के शत्रु के रूप में। अतः इसकी अपेक्षा कि आर्य लोग विदेशी माने जाएँ अधिक उचित व्याख्या यह होगी कि द्रस्यु नाम से पुकारे जाने वाले अतिप्राकृत प्राणी भारतीय जनता से शत्रु भाव रखते थे। भारतीय लोग विदेशी नहीं थे। वे लोग ऐसे व्यक्ति थे जो ‘आर्य’ शब्द का प्रयोग अभिलक्षित आदर्श के रूप में अथवा आज के ‘सज्जनों’ के रूप में सम्मान-युक्त शिष्टसम्बोधन के रूप में करते थे।

ऋग्वेद की (६/२२/१० में) प्रार्थना है, “हे इन्द्र, हमें वह प्रतिभा दो जिससे द्रस्यु लोग भी आर्य हो जाएँ तथा मानव के समस्त शत्रु नष्ट हो जाएँ।” यह बिल्कुल स्पष्ट कर देता है कि ‘आर्य’ शब्द का अर्थ एक आदर्श मानव था, और द्रस्युओं तथा ‘आर्यों’ में जातिगत संघर्ष किसी भी प्रकार नहीं था। भारतीय लोग अतिप्राकृत वस्तुओं को वशीभूत करना चाहते थे। जब द्रस्यु लोग भी वशीभूत कर सुधारे और सभ्य कर ‘आर्य’ बनाए जा सकते थे, तब इसका अर्थ यह है कि दोनों लोग जातिगत रूप में विभिन्न नहीं थे।

जब ऋग्वेद (२/२०/८) उल्लेख करता है कि “वृत्त का संहारकर्ता इन्द्र कृष्णयोनि द्रस्युओं को नष्ट करता है” तब पश्चिमी विद्वान् इसको उच्च स्वर से इस बात का प्रमाण घोषित करते हैं कि ‘आक्रमणकारी आर्यों ने’ श्यामवर्णी आदिवासियों को विनष्ट कर दिया। किन्तु उनको यह ध्यान रहा प्रतीत नहीं होता कि ऋग्वेद ने आर्यों को भी श्यामवर्ण उल्लेख किया है। इस प्रकार ऋग्वेद (१०/१०/११) में कहा गया है कि, “निषाद का पुत्र कण्व श्यामवर्ण था।” ऋग्वेद के अष्टम मण्डल के अधिकांश सूक्त कण्व के उत्तराधिकारियों के रचित हैं। एक कण्व तो श्वेत-यजुर्वेदियों की एक शाखा का शिक्षक था, यह प्रदर्शित करता है कि कण्व यद्यपि श्यामवर्ण था, तथापि द्रस्यु नहीं था। कण्व को श्यामवर्ण का मान लेने में किसी प्रकार की हीन भावना की अनुभूति नहीं होती। ऋग्वेद की एक ऋचा (८/५३/३) कहती है, “हे अश्विनो ! यह कृष्ण आपको प्रस्तुत कर रहा है।” चूंकि कृष्ण श्यामवर्ण का द्योतक है, अतः इसका अर्थ होगा कि इन ऋचा का रचयिता श्यामवर्ण था ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार ‘कृष्णयोनि द्रस्यु’ से अर्थ लिया जाता है कि द्रस्यु लोग सभी प्रकार श्यामवर्ण थे। ऋग्वेद की ऋचा २/३/८



मे शायंता है कि 'हमारी भेदे (उपहार) अवरक्तपीत (पिणंग) है। चूंकि अवरक्तपीत अश्वेत है, इसलिए यह प्रार्थना सिद्ध करती है कि अश्वेत-वर्ण से हीमता का कोई भाव सम्बन्ध नहीं है और इस प्रकार तथाकथित दस्युओं से हीमता का कोई भाव सम्बन्ध नहीं था। ऋचा ७/३३/१ में वे 'वर्ण' (रंग) के आधार पर कोई अंगड़ा नहीं था। ऋचा ७/३३/१ में विभिन्न लोगों को विभिन्न रूप में श्वेत वर्णित किया है, यह सिद्ध करता है कि वैदिक समय के भारतीय लोग उसी प्रकार मिश्रित व्यक्ति थे जिस प्रकार आज भी दूधिया वर्ण से लेकर काले, सभी रंग के लोग मिलते हैं। उन आर्यों को एक जाति की कल्पना करना, फिर उनको विदेशी आक्रमण-कारी कहना और श्वेत वर्णों में विभक्त करना केवल विशुद्ध मनमौजी तरंग है। सामान्य के अनुसार 'दस्यु' की व्युत्पत्ति 'डस्' धातु से है जिसका अर्थ क्षति पहुँचाने वाला से है। यह फिर उसी पूर्व अर्थ की ओर इंगित करता है कि दस्यु लोग अति प्राकृत प्राणी थे जो (वर्षा आदि में बाधा डालकर) जनता को हानि पहुँचाते थे।

समान ऐतिहासिक दृष्टान्तों से हम परिणाम निकाल सकते हैं कि संस्कृत-अथवा वर्ण का उन्नेक प्रायः नेताओं तक ही सीमित होता है न कि बाल्मीकिक जनता तक। इस प्रकार जब भारतीय इतिहासों में 'श्वेत' सेनाओं का उल्लेख मिलता है तब उनका अर्थ केवल उन सेनाओं से है जो यूरोपियनों की अधीनता में अवस्था उनके समावेश में चलती थी या यूरोपियनों के खिलाफ लड़ती। वास्तव में, सभी सेना तो श्वेत नहीं थी। तथ्य रूप में तो ब्रिटिशों का भाव 'अश्वेत' लोगों का था। फिर भी इसे 'श्वेत-सेना' ही कहा जाना था। इस प्रकार, सब कुछ विचार करने पर स्पष्ट प्रतीत होता है कि तथाकथित 'आर्यों' का मूलनिवासी समझे जाने वाले दस्युओं में परिकल्पित नश्वर केवल धानि और अन्नद व्याख्या करने का मामला है। ऋग्वेद में वर्ष और वर्ष-नश्वर की कथा खोज लेने से और धर्म-विद्या सम्बन्धी ग्रन्थ में ऐतिहासिक निदानों से निकालने में पश्चिमी विद्वानों ने ऋग्वेद के साथ अनर्थ किया है।

उपर्युक्त विचार-विमर्शोंपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आर्य शब्द कोई एक जाति न होकर सुसंस्कृत मानव का भारतीय आदर्श था। दूसरी बात यह है कि समस्त विश्व में मिलने वाले संस्कृत-संस्कृति के चिह्नों

का मूल 'आर्य' जाति या भाषा से न होकर संसार के सभी ओर-छोर में ज्ञान और संस्कृति का प्रकाश पहुँचाने की तत्पर संस्कृत भाषी भारतीयों के प्रारम्भिक प्रयत्नों का परिणाम है।

उपर्युक्त विचार-विमर्श के बाद हम जिस एक अन्य निष्कर्ष पर पहुँचते हैं वह यह है कि संस्कृत भाषा न केवल भारत में ही व्यापक रूप में बोली जाती थी, अपितु प्राचीन काल में यह समस्त संसार में व्यापक रूप में व्यवहार में आती थी।

चूंकि 'आर्य-जाति' नाम की कोई जाति हुई ही नहीं, इसलिए उनके मूल निवासस्थान, उनके देशान्तरगमन तथा उनकी मूलभाषा के लक्षणों को ढूँढ़ निकालने के सभी प्रयत्न निष्फल होने ही थे—जैसे कि वे सचमुच हुए भी हैं। 'आर्य-जाति' की विद्यमानता में यह विश्वास बनाए रखना ऐतिहासिक अन्वेषण की भयंकर भूल रही है। इसका प्रतिवाद करने की अत्यन्त आवश्यकता है। आर्यों का एक जाति तथा परिकल्पित देशान्तर-गमन के रूप में वर्णन करने वाले सभी सन्दर्भों को विश्व-इतिहास से निकाल फेंकना चाहिये। इसके स्थान पर यह स्पष्ट रूप में समझ लेना चाहिये कि ये तो भारतीय लोग ही थे जो भार-नागिय, पंजाब, कश्मीर तथा मन्धार के अपने मूल-निवास गृहों से संसार के समस्त भागों में गये थे। तथाकथित भारतीय भाषाएँ, सब की सब, भारत की प्राचीनतम भाषा—अर्थात् संस्कृत से ही व्युत्पन्न हैं। फारसी और लैटिन जैसी भाषाओं के सहोदर-रूप में संस्कृत को मानना और फिर उनकी जननी को खोज निकालने का यत्न करना अति भयावह है। ये सब प्रयत्न इस भ्रष्ट धारणा से परिचालित हैं कि यूरोप में रहने वाली एक 'आर्य' जाति थी जो वहाँ से भारत देशान्तर-गमन कर गयी। चूंकि ऐसे लोग कहीं थे ही नहीं, उन लोगों की कोई प्रिय भाषा भी नहीं थी। फिर संसार की प्राचीनतम संस्कृति का जो मूल स्रोत बचता है, वह 'भारोपीय' न होकर केवल 'भार (तीय) सम्भूता' एवं 'भार (तीय) भाषा' अर्थात् संस्कृत है।

यदि 'आर्यों' की संज्ञा किसी जाति के लिए ही रही होती, तो भारत में 'आर्य-समाज' संगठन संकुचित रूप में एक जातीय वर्ग ही बना रहता, जिसमें तथाकथित 'अनार्यों' का प्रवेश पूर्ण रूप में निषिद्ध होता।



किन्तु वास्तविक यह है कि 'आर्य-समाज' एक विशालाधारित संगठन है जिसके द्वार मानवमात्र के लिए खुले हुए हैं। यह तथ्य स्वयं ही सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि 'आर्य-जाति' की कल्पना ही आधारहीन है। 'आर्य-समाज' संगठन के सिद्धान्त इस बात के प्रमाण हैं कि 'आर्य' शब्द जातों का द्योतक है।

इस आदर्श की कल्पना तथा विश्व भर में उसका प्रचार वैदिक भारतीयों द्वारा किया गया था।

प्राचीन भारतीयों ने प्रत्येक व्यक्ति को श्रेष्ठतर और महानतर बनाने का लक्ष्य अपने सम्मुख रखा था जिससे प्रत्येक मनुष्य देवत्व को प्राप्त कर सके। सामान्य मानवता और देवांश के मध्य की इस अवस्था को प्राचीन भारतीयों ने 'आर्य' नाम से पुकारा था। अतः 'आर्य' शब्द केवल मात्र श्रेष्ठ वाक्मा का जन्म-द्योतक है। मोहाट, शिष्टता, शालीनता और सद्गुणों के प्रतीक के रूप में व्यक्ति को 'आर्य' संज्ञा से सम्बोधित किया जाता था। इस प्रकार यह शब्द भारतीय क्षत्रियों द्वारा शासित उन सभी क्षेत्रों में इतना अधिक प्रचलित हो गया कि यह जाति का प्रतीक ही समझा जाने लगा।

इसके रूप में, हमारा निष्कर्ष यह है कि विश्व के जो भी लोग अपने आपको आर्य कहते हैं, वे सभी लोग प्राचीन भारतीय क्षत्रियों के दूर-दूर तक फैले हुए साम्राज्य के अंग थे।

#### आधार ग्रन्थ-सूची

- (१) मर मार्टीकन्स-ऑन दि टोपिक ऑफ़ द डॉक्टर एन० आर० ब्रह्म पाण्डे, प्रोफ़ेसर देहली।
- (२) हिरोडोटो, ग्रे एण्ड मोसावटी, बाइ इन् एण्ड डोइजान्स्की।
- (३) दि संस्कृत लैन्ग्वेज, बाइ टी० मुरो।
- (४) दि वैदिक टैक्स, बाइ सीय एण्ड मैक्डोनाल्ड।
- (५) कर्त्तविक इण्डिया, बाइ डॉक्टर अविनाशचन्द्र दास।

भयंकर भूल : क्रमांक—१४

## वेदों की प्राचीनता अत्यन्त कम आँकी गयी है

यूनेस्को के हाल के ही एक प्रकाशन में मानवता के प्राचीनतम उपलब्ध साहित्यिक ग्रन्थ ऋग्वेद को निश्चयपूर्वक केवल १२०० ई०पू० की आधुनिक रचना बताया गया है। इस कुटिसत कथन की ब्रह्मदगी नव शिक्षु बालक को भी रोष दिलाने में पर्याप्त है।

वेदों की प्राचीनता का भ्रान्त निर्णय तथा वास्तव में प्राचीन भारत की समस्त गौरवपूर्ण घटनाओं की प्राचीनता पर कुठाराघात उस समय से होते आ रहे हैं जबकि १८ से २०वीं शताब्दी के अपने वधिष्णु साम्राज्य-काल में एशिया में सम्पूर्ण शिक्षा-साधनों पर अनभिज्ञ पाश्चात्य विद्वानों का नियन्त्रण था।

भारतीय मान्यता के अनुसार वेद इतने प्राचीन हैं कि उनके आदि का पता नहीं; वे अनादि एवं अपौरुषेय माने जाते हैं। अर्थात् वे किसी मानव की कृति नहीं हैं। इसका एक अर्थ यह भी है कि जिन ऋषियों ने सर्वप्रथम वेदों का गान किया उन्होंने आत्म-प्रशंसा से दूर रहकर स्वयं को श्रेय न दिया और अपने वेदगान को भगवत्प्रेरणा-प्रसूत बताया।

मर मार्टीयर ह्वोलर तथा प्रोफ़ेसर पीगोट सरीखे पाश्चात्य विद्वानों ने ऋग्वेदीय वर्णनों में इन्द्र द्वारा दस्युओं के वध को भ्रमवश आक्रान्ता आर्यों द्वारा द्रविड़ों को क्रमशः पीछे खदेड़ना समझ लिया। इस प्रकार भारतीय इतिहासग्रन्थ प्रारम्भ से ही भारतीयों को तथाकथित आर्य और द्रविड़ रूप में विभक्त करने तथा उन्हें परस्पर प्रमुख शत्रु के रूप में प्रस्तुत करने वाली कुटिल कील का कार्य करते हैं। इन ग्रन्थों में तथाकथित द्रविड़ों को आर्यों के मनगढ़न्त आक्रमणों द्वारा पीड़ित एवं आर्यों पर कुटिल आक्रान्ता होने



का स्वयं बताया गया है। इसकी पुष्टि के लिए हड़प्पा और मोहन-जोदड़ो की बरतई-बुटाई की कला की दृष्टि सम्भ्यता की बताया गया है और उस सम्भ्यता को आर्यों द्वारा पदाक्रान्त बताया गया है।

उपर्युक्त प्रतिपाद्य-विषय में अनेक भ्रान्तियाँ हैं। वास्तव में दस्युओं का मानवजाति से कोई सम्बन्ध न था, और वे मानवेतर देव कोटि के थे। ऐश्वर्य के प्रतीक इन्द्र किसी जाति अथवा वर्ग के देवता नहीं हैं, वे न तो क्षत्र्य थे और न क्षत्रियों के नेता। स्वयं कल्पित आर्यजाति नाम की कोई जाति न थी। प्राचीन काल में भारतवासी 'आर्य' शब्द का प्रयोग सम्पन्न, शिष्ट, सम्पूर्ण, कर्तव्यपरायणता, श्रेष्ठ, आदर्श मानव के अर्थ में करते थे। उनके वाक्यों से सम्पूर्ण मानवों को उस स्तर तक पहुँचने की सहज प्रेरणा मिलती थी। प्राचीन भारत के आदर्श वाक्य 'कुण्वन्तो विश्वमार्यम्' से यह बात सिद्ध हो जाती है। इसका अर्थ है 'विश्व को आर्य (श्रेष्ठ) बनाओ।' प्रत्येक श्रेष्ठ व्यक्ति को 'आर्य' शब्द से सम्बोधित किया जाता था—अर्थात् आर्य शब्द आदर तथा भक्ति के सम्बोधन के लिए प्रयुक्त किया जाता था। भारत में 'आर्य' शब्द ब्रह्मण्य नाम तथा कुलनाम भी है जो आधुनिक अंग्रेजी शब्द 'सेन्टलमैन' के सदृश है। मैक्समूलर तथा अन्य विद्वानों ने इसे भूल से जाति-वाचक समझ लिया।

सहीग ने, आर्य शब्द के विस्तृत प्रयोग एवं संसार-भर में इसके गौरव-पूर्ण सभ्य सत्कारों से सिद्ध है कि भारत के प्राचीन लोगों ने विश्व के अत्यन्त विभूत मानव पर राज्य किया और उपनिवेश स्थापित किए; यदि ऐसा न हुआ होता तो लोगों के सम्मोषण एवं सम्बोधन के लिए 'आर्य' शब्द का प्रयोग करने विवक्षित क्षेत्र में न हुआ होता जिसके कारण सभी यूरोपीय और भारतीयों का सम्बन्ध रूप से भूल के कारण एक जाति समझा गया। परन्तु इनका निरुक्त करना एक स्वतन्त्र निबन्ध का विषय है।

अब आर्य कोई जाति ही न थी, तब इनके आक्रमण ही कैसे सकते थे? अतः इनके कोई आक्रमण नहीं हुए। निष्कर्ष यह निकलता है कि द्रविड़ों और आर्यों के युद्ध बोगस गण है।

मोहन-जोदड़ो और हड़प्पा सम्भ्यताओं का तो ऋग्वेद-काल में अस्तित्व ही न था क्योंकि तब भारत का केवल एक भाग ही प्रसिद्ध था। उसका

निरूपण हम आगे करेंगे। शेष द्वीप, जिससे हम आज परिचित हैं, टेथीज-सागर के गर्भ में था। यह ऋग्वेद के भौगोलिक और स्वलचित्रीय वर्णनों में प्रकट है। इस कारण ये सम्भ्यताएँ वैदिक-पूर्व काल की नहीं हैं; अपितु वेद इतने सहस्रों वर्ष पूर्ववर्ती हैं।

इस कारण भारतीय इतिहास-ग्रन्थों में तथाकथित आर्यों के सभी वृत्त, भारत पर उनके आक्रमण, भारतीयों के द्रविड़ तथा आर्यत्व में कल्पित विभाजन, मोहन-जोदड़ो तथा हड़प्पा के पूर्व-वैदिक होने की कल्पना तथा ऋग्वेद का केवल १२०० ई० पू० की आधुनिक रचना होना आदि बातों का शीघ्र समुचित संशोधन होना नितान्त आवश्यक है।

ऋग्वेद को केवल १२०० ई० पू० की आधुनिक रचना मानने वाले यह भी मानते हैं कि भगवान् बुद्ध का आविर्भाव लगभग ५४४ ई० पू० हुआ था। वास्तव में बुद्ध का समय इससे बहुत पहले है, जो एक स्वतन्त्र निबन्ध का विषय है। परन्तु यदि इसी तिथि को भी सही मान लें, तो भी पाश्चात्य विद्वानों को चाहिये कि वे स्वयं से प्रश्न करते कि क्या रामायण और महा-भारत सद्गुण महान् संस्कृतियों के उत्कर्ष और अपकर्ष को समाविष्ट करने वाली, ऋग्वेद से बुद्ध तक भारतीय संस्कृति का सम्पूर्ण इतिहास कुल मिलाकर ६०० वर्ष (१२०० ई० पू० से ६०० ई० पू०) से भी अधिक काल का नहीं है? ऋग्वेद को १२०० ई० पू० से प्राचीन न मानने के सिद्धान्त को असिद्ध करने के लिए उपर्युक्त साधारण जाँच-प्रश्न ही पर्याप्त है। इनके अतिरिक्त अनेक अन्य प्रमाण भी हैं।

केवल महाभारतकाल ही ३१३८ ई० पू० है, क्योंकि युधिष्ठिर-पुत्र, जो आज भी उद्धृत किया जाता है और जिसे ५००० वर्ष बीत गये हैं, महाभारत युद्ध के दस दिन पश्चात् युधिष्ठिर के राज्याभिषेक से आरम्भ हुआ था।

रामायण काल महाभारतीय-सम्भ्यता से भी प्राचीन है। इन दोनों के मध्य भी अनेक सम्भ्यताएँ रही होंगी, और इन सबसे पूर्व वेद दिखाई पड़ते हैं।

ऋग्वेद के कतिपय स्थलों में असाधारण भूवालीय महाविध्वंसों के वर्णन मिलते हैं। (कश्मीर के प्राचीन इतिहास) राजतरंगिणी तथा नीलावत



पुराण में इस घटना का वर्णन पौराणिक आख्यायिका के रूप में हुआ है परन्तु ऋग्वेद में इसे वैज्ञानिक ढंग से विस्तार समझाया गया है। उसमें कहा गया है कि मेघ और विद्युत् के देवता इन्द्र, वायु के देवता मरुत और जल के देवता रुद्र ने परस्पर मिनकर पर्वतों को चूर-चूर कर दिया, बहुत लोगों को मार डाला तथा उन पर्वतों की धुन्जियाँ उड़ाकर विशाल जल-भण्डार को मुक्त कर दिया। यह जल सप्त-सिन्धु (सात नदियों) के रूप में प्रवाहित हुआ। स्पष्ट है कि ऋग्वेद में बार-बार भूकम्प, तूफान और बिजली द्वारा महाप्रलय का संकेत है। इस घटना का विस्तृत वर्णन अनेक सूक्तों में मिलता है।

भूगर्भशास्त्री स्वीकार करते हैं कि प्राचीनकाल में कश्मीर क्षेत्र में एक विशाल झील थी। अंग्रेजी ज्ञानकोश के सन् १९६४ के संस्करण, भाग १२, पृष्ठ ८८७ 'ब' पर लिखा है कि कश्मीर पहले ज्वालामुखी-पर्वतों वाले द्वीप समूहों में घिरा, सागर तटों से दूर अन्तर्देशस्थ सागर था। भूपृष्ठीय परतों के सिमोन्टोल स्पन्दन से झील का तल ऊपर उठा और निकटस्थ हिमालय धनियाँ भी सहज-प्रभाव से और उन्नत हो गयीं। कश्मीर के दक्षिणी पर्वत, जो अब पौर पंजाब नाम से प्रसिद्ध हैं, धरती में धँस गये; और जल बह जाने के कारण डल झूक हो गया। इस प्रकार सम्पूर्ण कश्मीर-झील का जल सूख गया।

भूगर्भविज्ञानविशारद डि टेर्रा तथा पेटर्सन का कथन है कि कुल्यातलों का निर्माण जल-प्रवाह से हो हुआ। फ्रेडरिक डू ने झील को अत्यन्त विशाल तथा इसकी गहराई को २,००० फीट बताया है।

स्पष्ट है कि इस भौतिक उत्पल-मुचल ने विश्व भर के समकालीन विद्वानों में प्रश्न संच उत्पन्न कर दी, क्योंकि जेदावेस्था तक ने भी सप्त-सिन्धु (इन्दाहिन्दी) की उत्पत्ति का वर्णन किया है।

आधुनिक भू-तत्त्वशास्त्र के अध्ययन के अनुसार हिमालय की ऊँचाई की अन्तिम उठाव की घटना पाँच लाख वर्ष पूर्व हुई। चूँकि ऋग्वेद में देखीज सागर के पीछे हटने तथा हिमालय के ऊँचा उठने की महान् भूचालीय घटना का वर्णन है, अतः स्पष्ट है कि ऋग्वेद अत्यन्त प्राचीन साहित्य है।

उक्त किया जा सकता है कि ऋग्वेद की भाषा और लिपि अधिक प्राचीन रही है। परन्तु यह मान लेना चाहिये कि भारतीय परम्परा के अनुसार

प्रत्येक जल-प्लावन के पश्चात् अलिखित वेदों को पुनः वर्णबद्ध किया गया और कण्ठगान के माध्यम से एक पीढ़ी से दूसरी को सम्प्रेषित किया गया। इस कारण सम्भव है कि प्रत्येक प्रलय के पश्चात् तत्कालीन सम्पत्ताओं के अन्त के साथ उत्तरवर्ती समाज ने प्राचीन घटनाओं का वर्णन अपने समय की भाषा में ही किया है। इस प्रकार भाषा और लिपि भले ही परिवर्तित हो गयी हों परन्तु वेदों का विषय अपरिवर्तित रहा।

हो सकता है कि कुछ लोग झंका करें और उत्सुकतावश कहें कि जब स्वयं मानव ही आधुनिक सृष्टि है, तब वेद अनादि अथवा लाखों वर्ष प्राचीन नहीं हो सकते। नवीनतम गवेषणाओं के अनुसार मानव भी इतनी आधुनिक सृष्टि नहीं है। यह मान्यता, कि आदिमानव (पुच्छहीन बानर-सदृश) लाखों वर्ष पूर्व पृथ्वी पर घूमता-फिरता था और वास्तविक मानव केवल ४०,००० वर्ष पूर्व अस्तित्व में आया, अमान्य है। केन्या के संग्रहालय के निदेशक ब्रिटेन के नृतत्वशास्त्री डा० लीके ने १,७०,००० वर्ष पूर्व विद्यमान मानव का अस्थिपंजर खोज निकाला है। अमरीका के येल विद्यालय के प्रोफेसर ई० एल० साइमन्स ने ऐसे मनुष्य के जबड़े की अस्थियों का पता लगाया है जो १ करोड़ ४० लाख वर्ष पूर्व का है। खोज का समय दहातु-कला द्वारा निश्चय किया गया है जैसाकि अमरीकी विज्ञान-परिषद् की मार्च १९६४ की कार्यवाही में कहा गया है।

दुर्भाग्यवश, संसार भर के इतिहासवेत्ता मानवजाति की उत्पत्ति को अपेक्षाकृत अधिक आधुनिक मानने की अपनी मूल-धारणा पर ही अड़े हुए हैं जबकि विज्ञान के सभी क्षेत्रों में इस धारणा में बार-बार संशोधन किए जा चुके हैं, और इस सीमा को बहुत पीछे ले जाया गया है। आधुनिक भौतिकी में पदार्थ-सम्बन्धी समय के व्यवधान की अविच्छिन्नता के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है तथा यह भी स्वीकार किया गया है कि पदार्थ का और विसर्जन अविच्छिन्न गति से चलता रहता है।

ये दोनों विचारधाराएँ भारतीय दार्शनिक, वैज्ञानिक तथा आध्यात्मिक चिन्तन-स्रोत को अस्मृतकाल से प्रवाहित होने का आधार प्रस्तुत करती हैं। भारतीयों की सदा ही यह मान्यता रही है कि लोकतन्त्रात्मक चिन्तन तथा वैज्ञानिक-अनुसन्धानों में पराकाष्ठा पर पहुँची बीसवीं शताब्दी की सभ्यता



वे हमारा गौरव गन्ध हो चुका है। नित्य धूमणशील कालचक्र में अगणित सम्भारों इसी प्रकार गौरव प्राप्त कर चुकी हैं। सम्भवतः ऐहिक और वास्तविक उपलब्धियों में अनेक सम्भारों अधिक उन्नति कर चुकी हैं परन्तु वे गन्ध हो गयीं और विस्मृत हो गयीं। इसी प्रकार इस सुविशाल ब्रह्माण्ड में केवल हमारा ही संसार है, सो बात नहीं। हमारी सभ्यता के सदृश अपवाधित एवं विभिन्न अनेक अन्य सभ्यताएँ भी हो सकती हैं। यह भी हिन्दुओं का प्रत्यक्ष सिद्ध-सिद्धान्त है कि ईश्वर इस ब्रह्माण्ड के सदृश अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों का नायक है। अपने आस-पास के सांसारिक परिवेश का अध्ययन करने से हिन्दुओं के सदा प्रतिपादित इस सिद्धान्त के स्थापन की भी जाँच हो सकती है कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड आदि अन्त-हीन अनवरत चक्र है। हमारा सौरमण्डल ज्योतिष्क-पिण्डों का समूह है जो नित्य आवर्तन में गोलाकार रूप में घूमते रहते हैं। मानव, पशु-पक्षी तथा वनस्पतियों का जीवन सर्जन और विनर्जन के अनवरत कालचक्र में पड़ा रहता है। काल तथा आकाश का भी कोई आदि-अन्त नहीं है। इस पृष्ठभूमि से विचार करने पर यह कथन सर्वोत्तम सिद्ध होता है कि इन सनातनत्व के विशाल ढाँचे में केवल मानव ही सर्वप्रथम है तथा वह ४,००,००० वर्ष पूर्व पुच्छहीन वानर से विकसित हुआ।

उत्तर भारत का वर्तमान मानचित्रावर्णन ऋग्वेद-काल के चित्र से मिलाना मिलता है। ऋग्वेद के नदी सूक्त, मण्डल १०, सूक्त ७५ में सात नदियों की सीत के स्फुटन द्वारा प्रवाहित बताया गया है। इसमें वर्णन है कि गंगा, यमुना, पारुति (सतलज), परणी (रावी) तथा सरस्वती (घग्घर) स्वतन्त्र रूप से समुद्र में मिलती थीं। यद्यपि हमारे समय में यमुना प्रयाग (इलाहाबाद) में गंगा में मिली है तथापि (अब अदृश्य) सरस्वती पहले काल और यमुना से उसी स्थान पर मिलकर त्रिवेणी का निर्माण करती थी।

मण्डल ७ सूक्त २४ में वर्णन मिलता है कि सरस्वती समुद्र में गिरती थी। इसी प्रकार सतलज तथा रावी ही अब सिन्धु की सहायक नदियाँ हैं, सोही समुद्र में गिरती थी। अन्विकी (बेनाब) तथा विस्तता (जिहलम) जो अब सिन्धु की सहायक हैं, इनका संगम होकर वे महाबुद्ध नदी कहलाती थीं और सागर में जा मिलती थीं। आरिजिगीय (व्यास) भी सिन्धु में न मिल-

कर समुद्र में गिरती थी। यमुना स्वतन्त्र रूप से सागर में मिलने वाली नदी थी। इससे प्रकट होता है कि ऋग्वेद-काल में समुद्र पूर्व और उत्तर की ओर कम-से-कम आज के प्रयाग (इलाहाबाद) तक पहुँचा हुआ था। पश्चिम में समुद्र उस स्थान से आगे पहुँचा था जहाँ उपर्युक्त अनेक सहायक नदियाँ सिन्धु में मिलती हैं।

ऋग्वेद-काल में सागर उत्तर भारत के अधिकांश भाग तक बड़ा हुआ था, इस कथन की पुष्टि ऋग्वेद के मण्डल १०, सूक्त १३६, मन्त्र ५ से हो जाती है। इसमें कहा गया है कि पूर्व तथा पश्चिम दोनों दिशाओं में सूर्य का अधिष्ठान समुद्र है। इसका अर्थ यह है कि ऋग्वेद-काल के मानव समुद्र में ही सूर्य का उदय देखते थे और समुद्र में ही उसका अस्त। अतः यह स्पष्ट है कि समुद्र ऋग्वेद-युग के मनुष्यों के रहने के सप्तसिन्धु-प्रदेश के पूर्व, पश्चिम तथा दक्षिण में था।

ऋग्वेद-युगीन ऋषियों ने भी सरस्वती को महानदी कहा है जिसके तट पर उन्होंने तपस्या-पूजा की। गंगा-यमुना उस काल में आज की अपेक्षा छोटी थी। भारतीय मान्यताओं के अनुसार भी सरस्वती एक महान् नदी थी तथा शाप के कारण वह पाताल में चली गयी और भूमिगत कन्दराओं में होकर बहने लगी, यह भली प्रकार स्मृति-पटल पर अंकित है। नवीनतम भूतत्त्व-अनुसन्धानों द्वारा की गयी जाँच से यह विश्वास किया जाता है कि सरस्वती नदी को भूमिगत हुए पाँच लाख वर्ष अवश्य हो गये। ऋग्वेद में प्राप्त ये सब भूतत्त्वीय, मानचित्रावर्णन तथा भौगोलिक प्रमाणों से निर्विवाद सिद्ध है कि वेद १२०० ई० पू० की आधुनिक रचना न होकर बहुत प्राचीन, अनादि है, जैसा कि हिन्दुओं का विश्वास है, और यह सत्य है तथा उनकी अत्यन्त प्राचीन परम्पराओं में प्रतिष्ठित है। इस कारण ऋग्वेद को संसार के अन्य प्राचीन ग्रन्थों के समकालिक और मगोत्र मानना गम्भीर कालगत दोष है। ऋग्वेद केवल हिन्दुओं की ही नहीं, अपितु समस्त संसार की मूल रचना है क्योंकि परवर्ती अन्य रचनाएँ ऋग्वेद के पश्चात् इस क्रम में आती हैं और उन्हें चिन्तन तथा विषय में इससे पर्याप्त प्रेरणा मिली है।

अपरिपक्व परिवेश में पोषित व्यक्तियों को यह मान्यता केवल लड़-बड़ाती धारणा प्रतीत होती है कि ऋग्वेद मानव की आद्य मूल रचना है



जिसकी प्राचीनता स्वरथातीत युग की है। परन्तु स्वयं ऋग्वेद में वर्णित मान-  
कियाय, भूगर्भीय और भौगोलिक प्रमाणों से ही जब इसकी प्राचीनता सिद्ध  
हो जाती है, तब इसे न मानने का कोई कारण नहीं है, चाहे हमारे त्रुटिपूर्ण  
विज्ञान परिवेश को इससे कितना ही आघात पहुँचे।

### साधारण ग्रन्थ-सूची

- (१) दि स्प्रिन्क्स स्प्रीक्स, बाइ डॉक्टर ज्वालाप्रसाद सिंघल,  
१९६३।
- (२) ब्रिटिश एन्साइक्लोपीडिया, १९६४ संस्करण।
- (३) जिओलांडी ऑफ इण्डिया, बाइ डी० एन० वाडिया, १९५७  
संस्करण।
- (४) जिओलांडी ऑफ इण्डिया एण्ड पाकिस्तान, बाइ आर० सी०  
मेहवरता, १९५४ संस्करण।
- (५) जिओलांडी ऑफ इण्डिया वर्मा, बाई एम० एस० कृष्णन्,  
१९६० संस्करण।
- (६) आर्यो का आदि देश (हिन्दी में), बाइ डॉ० सम्पूर्णानन्द।
- (७) रमातल, बाइ नन्दलाल हे।
- (८) दि जारट सायन ऑफ वर्ल्ड हिस्ट्री, बाइ एच० जी० वेल्स।
- (९) हिस्टोरिकल एटलस ऑफ इण्डिया, बाइ सी० कोलिन डेविस्।
- (१०) राजतरंगिणी, बाइ कल्हण।
- (११) दि एन्जेट मिचिलायजेन्स ऑफ पेकज, बाइ जे० अल्डन मेसन,  
१९५७ संस्करण (पब्लिकन बुक्स)।
- (१२) दि हिस्ट्री ऑफ मैन्काइण्ड, वाल्यूम-१, ए यूनेस्को पब्लिकेशन।

भयंकर भूल : क्रमांक—१५

## ‘अल्लाह’ मूल रूप में हिन्दू-देवता और ‘काबा’ हिन्दू-मन्दिर था

विश्व-इतिहास को प्रभावित करने वाली भारतीय इतिहास परिशोध  
की भयंकरतम भूलों में एक यह है कि हम पूर्णतः भुला बैठे हैं कि किसी  
समय भारतीय क्षत्रियों का साम्राज्य-प्रभुत्व पश्चिम एशिया तक भी था।

इस्लाम की स्थापना के बाद संसार के उस भाग में महाविध्वंस की जो  
भयंकर आँधी उठी, उसमें भारतीय प्रभुत्व के सभी चिह्न लुप्त हो गये।  
अरेबिया से उद्भूत महाविध्वंस की यह आँधी शीघ्र ही प्रचण्ड संज्ञावात के  
रूप में अफ़ग़ानिस्तान सहित सम्पूर्ण पश्चिम एशिया में फैल गयी। इससे  
प्रभावित सभी देशों को अपने भूतकाल से सभी प्रकार का सम्बन्ध पूर्णतः  
समाप्त कर देना पड़ा।

वर्तानिया और इस्लामिया ज्ञानकोशों से हमें ज्ञात होता है कि स्वयं  
अरेबिया ने ही मूर्तियों और अभिलेखों को विनष्ट कर अपने विगत काल से  
सम्बन्ध बिल्कुल विच्छेद कर दिया था। अब हमें बताया जाता है कि इस्लाम  
की स्थापना से पूर्व अरेबिया का २५०० वर्षीय इतिहास ‘अज्ञान का युग’  
रहा है, यद्यपि तथ्य है कि ये ‘ज्ञानी’ अनुवर्ती लोग ही अपने पुरातन सम्बन्धों  
को पूर्णतः विस्मृत कर अज्ञानी बने बैठे हैं।

ऐसे अनेक सूत्र हैं जो एकत्र कर दिये जाने पर विगत प्रभुत्व की सम्पुष्टि  
असंदिग्ध रूप में कर देंगे। एक सूत्र विभिन्न देशों का नामकरण ‘स्थान’  
रखना है। जिस प्रकार आधुनिक काल में हमने ब्रिटिश साम्राज्य को विश्व  
के एक बहुत बड़े भू-भाग पर आधिपत्यासीन देखा, जिसका परिणाम यह  
हुआ कि विभिन्न क्षेत्रों के नाम ग्रीनलैंड, आइसलैंड, बसुटोलैंड, नागासैड



कायि पड़ गये, उसी प्रकार हरिचिस्थान, जवूलिस्थान, बलूचिस्थान, तुर्कस्थान, लंबस्थान, तुर्दिस्थान नामों से हमें यह भी मान लेना चाहिये कि संस्कृत-भाषी भारतीय क्षत्रिय लोग उन क्षेत्रों पर कभी अवश्य ही शासन करते थे।

मध्य का एक और अंग भी है। अलबरूनी तथा अन्य प्राचीन तिथिवृत लेखकों ने लिखा है कि उन क्षेत्रों पर बौद्ध-धर्म का साम्राज्य था। वे बिल्कुल गढ़ी रहते हैं। उन क्षेत्रों में अलबरूनी तथा अन्य लोगों का बुद्ध की मूर्तियाँ देखकर यह धोखा करना गलत है कि वे क्षेत्र बौद्ध-धर्म के अनुयायी थे। हमारे पास एक समकालीन समान उदाहरण है। हमारे अपने ही युग में जब महात्मा गांधी को विश्व सम्मान प्राप्त हुआ, तब अनेक क्षेत्रों में उनकी मूर्तियाँ स्थापित की गयी थीं। यह कार्य इस बात का द्योतक नहीं है कि लोगों ने हिन्दू-धर्म को छोड़ दिया और गांधी-धर्म अपना लिया। इसी प्रकार बुद्ध की मूर्तियों की विद्यमानता का अर्थ केवल इतना ही है कि चूँकि बुद्ध उस समय के हिन्दुओं में एक अत्यन्त प्रसिद्ध व्यक्ति थे, अतः उनकी मूर्तियाँ उन-उन प्रदेशों में बना दी गयीं, जहाँ-जहाँ हिन्दू-धर्म का साम्राज्य था, मान था। इस प्रकार, पश्चिम एशिया में बुद्ध की प्रतिमाओं का अस्तित्व सिद्ध करता है कि पश्चिम एशिया के वे सभी लोग हिन्दू-धर्म के प्रति आस्था रखते थे, जिनके वंशज अब इस्लाम धर्म को मानते हैं।

जर्नाल्स मुस्लिम विजयविद्यालय के प्रोफेसर मोहम्मद हबीब द्वारा लिखित तथा दिल्ली के एस० चार्ड एण्ड कम्पनी द्वारा सन् १९५१ में प्रकाशित "कुशनी के मुस्लिम महमूद के कुछ पद-टीप" इस विषय में अत्यन्त उपयुक्त जानकारी प्रदान करता है। १४वें पृष्ठ पर लेखक का कहना है : "जिस युग प्रारम्भ होने से कुछ समय पूर्व बृहत्तम द्वारा संस्थापित साईदी बह की तुर्कीशाही (कुशन) ने विजयों का अभियान प्रारम्भ किया। इसके महाजितम सम्राट् कनिष्क के अधीन उत्तरी भारत का एक बड़ा भाग, जलार्मिस्थान, तुर्कस्थान, तथा सावारीन नहर कुशन साम्राज्य में सम्मिलित था। तुर्कों को सीधे ही भारतीय सभ्यता में आत्मसात् कर लिया गया। अलबरूनी का कहना है कि इस वंश में ६० से कम सम्राट् नहीं थे। इनमें से अन्तिम सम्राट् उनके अपने ही ब्राह्मण वजीर कल्लूर द्वारा

सिंहासन से उग्रुत कर दिया गया था। सिल्क पर लिखी हुई, इन सम्राटों की वंशावली नगरकोट के दुर्ग में संग्रहीत थी, किन्तु अलबरूनी कहता है कि मैं इसे देख न पाया।"

ऊपर दी गयी जानकारी से अनेक महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकलते हैं। सर्वप्रथम हमें ज्ञात होता है कि "तुर्क लोग भारतीय सभ्यता में आत्मसात् हो गये थे" अर्थात् उन लोगों ने हिन्दू-धर्म अंगीकार कर लिया था। इस निष्कर्ष की सम्पुष्टि इस तथ्य से भी होती है कि जिस प्रकार भारत में सभी क्षत्रिय-सम्राटों के मन्त्री ब्राह्मण हुआ करते थे, उसी प्रकार इन तुर्कों के वजीर भी ब्राह्मण थे। तीसरी बात यह है कि प्राचीन भारतीय लोगों के ऊपर लगाया हुआ यह आरोप भी निराधार सिद्ध होता है कि इन लोगों का कोई लिखित आलेख या प्रमाण तथा इतिहास नहीं है। नगरकोट के दुर्ग में संग्रहीत सिल्क के मुट्ठे पर लिखी सम्राट्-वंशावली ने यह आरोप झूठा सिद्ध कर दिया है। भारत में ऐतिहासिक अभिलेखों का विशाल भण्डार था, क्योंकि प्रत्येक भारतीय सम्राट् को परम्परा तथा रीति-नीति के अनुसार, प्रतिदिन, कुछ घण्टों का समय, अपने पूर्वजों का इतिहास सुनने में व्यतीत करना ही होता था। ये यश विरुद्धावलियाँ उनके ब्राह्मण-परामर्शदाता पुरोहित सुनाया करते थे। यह तो पश्चिम तथा भारत पर बिगत एक हजार वर्ष का मुस्लिम-आक्रमणों का ताँता ही था जिसके कारण भारतीय क्षत्रियों द्वारा उन प्रदेशों पर आधारित आधिपत्य के विपुल भारतीय अभिलेख पूर्ण-रूप में विलुप्त हो गये हैं।

अपने पुरातन सम्बन्धों के लोप तथा विच्छेद में ही तुर्कों तथा अरेबिया जैसे देशों में प्रचलित प्राचीन भारतीय लिपियाँ और साहित्य भी पूर्णरूप में भुला दिये गये हैं। यह बताए जाने पर अनेक लोगों को भी आश्चर्य ही होगा कि वर्तमान अरबी लिपि से पूर्व अरब-वासी एक भारतीय लिपि में लिखा करते थे और प्राचीनकाल में तुर्क लोगों की एक भारतीय लिपि थी तथा वे लोग अपने समस्त अभिलेख संस्कृत में रखा करते थे।

शताब्दियों के सदोषोच्चारणवश छ्रष्ट तुर्की, अरबी तथा फ़ारसी के नाम संस्कृत से विलग प्रतीत हो सकते हैं किन्तु फिर भी उनका मूल संस्कृत



ही है। ऊपर लिखे गये सगुर्मान तथा उसके बाह्य वनीर कल्लूर के नामों से इस बात का दृष्टान्त दील पड़ता है।

अपनी पुस्तक के १३वें पृष्ठ पर दी गयी पदटीप में प्रोफेसर हबीब ने सन्निहित राजाओं की तिथियाँ दी हैं: अब्दुल मलिक बिन नूह (३४५-३५०), मनसूर बिन नूह (३५०-३६५), नूहबिन मनसूर (३६५-३८७)। यह स्मरण रहना चाहिये कि पश्चिम एशिया में समनियों का विशाल साम्राज्य था। भारत के विरुद्ध मोहम्मद कासिम तथा अन्य लोगों द्वारा किये गये आक्रमणों का उल्लेख करने वाले अभिलेखों में भारतीयों को तुर्क और समनी कहा गया है। यह प्रदर्शित करता है कि तुर्क और समनी हिन्दू थे। अतः समनी-साम्राज्य भारतीय धर्मियों का ही था।

ऊपर दिया गया 'नूह' शब्द भी हिन्दू-शब्द है। यह 'मनु' का संक्षिप्त रूप है। इसी कारण पश्चिम एशिया में 'जल-प्रलय' की पौराणिक-कथा में 'नूह' का नाम बड़े ही अभिन्न रूप में जुड़ा हुआ है जिस प्रकार भारतीय परम्परा में मनु का अभिन्न है।

मनु का प्रत्येक नवीन सभ्यता के आदिपुरुष तथा न्याय-प्रदाता के रूप में भारतीय परम्परा में सर्वोच्च सम्मान का स्थान है। अतः भारतीय शासकों की अनेक उपाधियों में उसका नाम संयुज्य था। चूँकि समनी लोग हिन्दू थे, अतः हम उन लोगों में 'नूह' शब्द पाते हैं।

प्राचीन अरेबिया में हिन्दू-धर्म ही आस्था का विषय था। इस बात का एक प्रमाण इस तथ्य में मिलता है कि इस्लाम की धर्म-शब्दावली का एक बहुत बड़ा भाग अभी भी संस्कृत शब्दों का है।

'अल्लाह' शब्द स्वयं ही संस्कृत शब्द है जो 'माँ' या 'देवी' के लिए प्रयुक्त होता है। यद्यपि मुस्लिम लोग 'काबा' को अपना सर्वप्रमुख तीर्थ एवं पूजा-स्थल मानते हैं, तथापि 'काबा' शब्द का मूल क्या है—यह स्पष्टीकरण करने में मुस्लिम परम्परा अग्रसर है। इसका कारण यह है कि काबा एक हिन्दू मन्दिर था। वर्तमान काबा एक विशाल देवालय से घिरा हुआ था जिसमें ३६० हिन्दू मूर्तियाँ थीं। उनमें से एक (अल्लः) अल्लाह—देवी बदनामी की। (देवाकि ज्ञान कोशों में उल्लिखित है) दूसरी मूर्ति 'लाट' बदनामी की। एक प्राचीन खगोल-शास्त्र रचना के लेखक नाम 'लाट-देव'

है। यह दर्शाने के लिए साक्ष्य उपलब्ध है कि काबा तथा तथ्य रूप में वह विशाल ध्वस्त पूजा-स्थल, जिसमें ३६० देवताओं की मूर्तियाँ संग्रहीत थी, भारत के भारतीय सम्राट् महाराजा विक्रमादित्य ने बनवाया था। इसी सम्राट् ने ईसापूर्व ५८ में एक नये संवत् व युग की स्थापना की थी।

इस्लाम-पूर्व अरेबिया के कथानक की पुनर्रचना के अपने प्रयत्न में हम देश के नाम से ही प्रारम्भ करते हैं। नाम पूर्ण रूप में संस्कृत है। संस्कृत में 'अवं' का अर्थ घोड़ा है। अतः अवंस्थान अश्वों—घोड़ों का प्रदेश है। इसका प्रमुख यात्रा-स्थल मक्का भी संस्कृत नाम है। संस्कृत में 'मख' का अर्थ पूजा की अग्नि है। चूँकि इस्लाम-पूर्व दिनों में समस्त पश्चिम एशिया में वैदिक अग्नि-पूजा प्रचलित थी, मख उस स्थान का द्योतक है, जहाँ पर एक महत्त्वपूर्ण अग्नि-मन्दिर था। मक्का-मदीना मख-मेदिन अर्थात् अग्नि-पूजा का श्रेत है।

वार्षिक तीर्थयात्रा के पर्व पर ही मख अर्थात् मक्का में अविस्मरणीय युग से एक विशाल बाजार लगा करता था। मुस्लिमों का मक्का को वार्षिक हज-यात्रा पर जाना किसी भी प्रकार नयी बात न होकर प्राचीन तीर्थयात्रा का चालू रहना ही है। यह तथ्य ज्ञानकोशों में उल्लिखित है।

अब साक्ष्य उपलब्ध है कि समस्त अरेबिया महान् भारतीय सम्राट् विक्रमादित्य के विशाल साम्राज्य का एक भाग था। विक्रमादित्य के साम्राज्य का विस्तार उसके विश्व-प्रसिद्ध होने में एक प्रमुख कारण है। प्रसंगवश इससे अरेबिया के सम्बन्ध में अनेक जटिल प्रश्नों का समाधान मिल जाता है। यह सम्भव है कि इस प्रदेश का नाम अवंस्थान भी स्वयं विक्रमादित्य ने ही रखा हो, यदि वही सर्वप्रथम भारतीय सम्राट् था जो इस प्रदेश को विजय कर सका हो तथा अपने प्रभुत्व के अधीन ला सका हो।

दूसरी जटिल समस्या है मक्का में काबा-पूजास्थल में शिवलिंग अथवा महादेव-प्रतिमा की विद्यमानता, जिसको संग-अस्वद अर्थात् काला पत्थर पुकारते हैं।

मक्का-स्थित काबा देवालय में अभी भी प्रचलित मुस्लिम पूजन-पद्धति में वैदिक धार्मिक-कृत्यों तथा नामों के अस्तित्व के पूर्ण विवरणों में जाने से



पूर्व हम यह लेखने का प्रयत्न करेंगे कि इस ग्रन्थ के कौन-कौन साध्य उप-  
लब्ध हैं कि अरेबिया विक्रमशिव के उपनिवेशों का एक भाग था।

इसी में इस्तम्बूल से मकतबे-मुलतानिया नामक प्रसिद्ध पुस्तकालय है  
जो प्राचीन पश्चिम-एशियाई साहित्य का अधिकतम भण्डार संग्रहीत करने  
के लिए स्थापित है। उस पुस्तकालय के अरबी-अनुभाग में प्राचीन अरबी-  
पद्य का साहित्यिक संग्रह है। एक पूर्वकालिक ग्रन्थ से इसकी रचना सन्  
१७४२ ईस्वी में टर्की के शासक सुल्तान सलीम के आदेश पर हुई थी।

उस ग्रन्थ के पृष्ठ 'हरीर' के—लिखने के उपयोग में आने वाले एक  
प्रकार के रेख के हैं। प्रत्येक पृष्ठ पर सजावटी सुनहरी किनारी है। स्मरण  
रखना चाहिये कि पवित्र ग्रन्थों के पृष्ठों को स्वर्णकित करना जावा तथा  
ग्यार्नों पर उपलब्ध किये गये पुराने संस्कृत-ग्रन्थों में सम्बन्धित प्राचीन  
पद्धति है।

यह साहित्यिक संग्रह 'मेअरुल ओकुल' के नाम से पुकारा जाता है।  
यह तीन भागों में विभक्त है। प्रथम भाग में इस्लाम-पूर्व के अरबी कवियों  
की काव्य-कृतियों एवं उनके जीवन-विवरणों का वर्णन है। दूसरे भाग में  
कैल्फ़र साहम्बद के समयपरान्त से प्रारम्भ कर बानी-उर्मिया वंश के अन्त  
तक के कवियों के वर्णन तथा उनकी रचनाएँ संग्रहीत हैं। तीसरे भाग में  
कलीला हारुन-अल्-रशीद के काल तक होने वाले परवर्ती कवियों का  
उल्लेख है। प्रमाणानुसार, बाणी का अर्थशैलिक 'धानी' तथा कृष्णिया की ही  
मौलिक उर्मिया संस्कृत नाम है।

हरक के चारण अब्दुल अमीर अब्दुल असमई ने, जो हारुन-अल्-रशीद  
के दरबार का राजकवि था, उस साहित्यिक-संग्रह को संग्रहीत और सम्पा-  
दित किया है।

'मेअरुल ओकुल' का प्रथम आधुनिक संस्करण बर्लिन में सन् १८६४  
में मुद्रित एवं प्रकाशित हुआ था। अनुवर्ती संस्करण वह है जो बेरुत में ईसा  
सन् १९२२ में प्रकाशित हुआ।

यह संग्रह प्राचीन अरबी-पद्य का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं आधिकारिक  
साहित्यिक-ग्रन्थ माना जाता है। प्राचीन अरेबिया के सामाजिक जीवन,  
शैली-विचार, विचार-विचार तथा मनोरंजन के साधनों पर यह ग्रन्थ पर्याप्त

प्रकाश डालता है। इस पुस्तक में प्राचीन मक्का-पूजागृह, नगर तथा उस  
वार्षिक मेले का विशद वर्णन भी है जो 'ओकाज' के नाम से सम्बोधित हो  
मक्का में काबा-पूजागृह के चारों ओर प्रतिवर्ष हुआ करता था। इसे  
पाठकों को यह तो मान्य होना ही चाहिये कि मुस्लिमों का काबा तक प्रति-  
वर्ष हज-यात्रा पर जाना कोई इस्लामी विशेषता नहीं है, अपितु इस्लाम-पूर्व  
काल की धार्मिक-सभा का केवल निरन्तर चालू रहना ही है।

किन्तु 'ओकाज' कैथोलिक ईसाइयों के अबाध आनन्दोत्सव से भिन्न  
था। यह प्रतिभागील और विद्वान् व्यक्तियों को अरेबिया पर तत्काल छापी  
हुई वैदिक-संस्कृति के सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, साहित्यिक तथा  
अन्य विविध पक्षों पर वार्तालाप करने का उपयुक्त मंच प्रदान करता था।  
'मेअरुल ओकुल' उल्लेख करता है कि उन वार्तालापों-वाद-विवादों में  
निकले हुए निष्कर्षों-निर्णयों का सम्पूर्ण अरेबिया में व्यापक रूप से सम्मान  
किया जाता था। इस प्रकार, विद्वानों में परस्पर विचार-विमर्श करने एवं  
जनता को आध्यात्मिक शान्ति के लिए एकत्रित करने का स्थान उपलब्ध  
करने की वाराणसी-पद्धति का अनुसरण ही मक्का ने किया। भारत में  
वाराणसी एवं अवस्थान में मक्का, दोनों के ही प्रमुख पूजागृह शिवमन्दिर  
थे। आजतक भी मक्का और वाराणसी, दोनों में ही श्रद्धाभक्ति एवं पूजन  
के प्रमुख आराध्यदेव प्राचीन महादेव के प्रारूप चले आ रहे हैं। काबा में वह  
शंकर-प्रस्तर ही है जिसका मुस्लिम-हज यात्रीगण अत्यन्त श्रद्धापूर्वक स्पर्श  
करते हैं और उसका चुम्बन करते अघाते नहीं हैं।

मक्का से कुछ मील दूर एक विशाल सूचना-पट्ट है जिसके अनुसार उस  
क्षेत्र में गैर-मुस्लिमों का प्रवेश निषिद्ध है। यह उन दिनों का स्मरण दिलाने  
वाला है जब नव-स्थापित इस्लाम धर्म के एकमात्र उपयोग के लिए काबा  
पर चढ़ाई की गयी थी, और इसे अपने अधीन कर लिया गया था। गैर-  
मुस्लिमों को प्रवेश से रोकने का उद्देश्य स्पष्ट रूप में काबा का पुनर्ग्रहण  
रोकना था।

जैसे ही हज-यात्री मक्का की ओर अग्रसर होता है, उसको अपना सिर  
और दाही मुँडवाने के लिए और एक विशिष्ट परिधान धारण करने के  
लिए कहा जाता है। वे बिना सिलाई किये सफेद वस्त्रों की दो चादर होती



है। एक को कमर के चारों ओर लपेटना होता है और दूसरी को कंधों पर धारण करना पड़ता है। ये दोनों कृत्य, हिन्दू-देवालयों में मूँड मुँडाकर एवं पवित्र, बिना दिखाई किये, चिह्न रहित, श्वेत-वस्त्र धारण कर प्रविष्ट होने की पुरातन वैदिक-रीति के ही लक्षण—शेष हैं।

मक्का में प्रमुख देवालय, जिसमें शिव-प्रारूप स्थित है, काबा के नाम से पुकारा जाता है। यह काली चादर में लिपटा हुआ है। यह रिवाज भी उन दिनों के प्रारम्भ हुआ प्रतीत होता है जब इसके पुनर्ग्रहण को निरुत्साहित करने के लिए इसको छयावरण में रखना आवश्यक समझा गया।

बर्तानिया और इस्लामिया ज्ञानकोशों के अनुसार काबा में ३६० मूर्तियाँ थीं। परम्परागत वर्णनों में उल्लेख है कि जब देवालय पर सड़वाई की गई तब उसमें ध्वस्त होने वाली ३६० मूर्तियों में से एक मूर्ति शनिदेव की थी, एक चन्द्रमा की थी और, एक और थी जो अल्लाह कहलाती थी। यह दर्शाता है कि इस्लाम-पूर्व दिनों में काबा में अरब के लोग नौ नक्षत्रों की पूजा करते थे। भारत में नवग्रह-पूजन अर्थात् नौ नक्षत्रों का पूजन करने की पद्धति अब भी प्रचलित है। इन नौ में से दो तो शनि और चन्द्र हैं। इसके अतिरिक्त, चन्द्र भगवान् का शिव से सदैव सम्बन्ध रहा है। भारत में अर्धमण्डलाकार चन्द्र शिव-प्रारूप पर सदैव चिह्नित किया जाता है। चूँकि काबा में आराध्य देव भगवान् शिव अर्थात् शंकर थे, इसीलिए अर्ध-मण्डलाकार चन्द्र उनके मस्तक पर चिह्नित किया गया। यही वह चन्द्रकार है जो अब इस्लाम के प्रतीक रूप में ग्रहण कर लिया गया है।

एक अन्य हिन्दू परम्परा यह है कि जहाँ भी कहीं शिवालय हो, वहाँ पर पूजा-अर्चना गंगा की शायन-धारा साथ-साथ अवश्य होगी। उसी परम्परा के सन्तानरूप, काबा के समीप एक पवित्र फव्वारा है। इसका जल पवित्र माना जाता है क्योंकि इसको इस्लाम-पूर्व युगों से ही परम्परागत रूप में पना माना गया है।

मुस्लिमों द्वारा सामान्य रूप में प्रयुक्त विस्मयादि-बोधक अव्यय तथा आराधना के लिए व्यवहृत "या अल्लाह (अल्लः)" भी विशुद्ध संस्कृत मूल का है। यह बात देवी सरस्वती की आराधना के समय प्रयुक्त आह्वान से स्पष्ट है—

"या कुन्देन्दु तुषार हार धवला, या शुभ्रा वस्त्रावृता  
या वीणा वरदण्डा मण्डिता करा, या श्वेत पद्मासना।"

काबा देवालय का भ्रमण करने वाले मुस्लिम हज-यात्री इसके चारों ओर सात बार घूमते हैं। अन्य किसी भी मस्जिद में परिक्रमा करने का यह क्रम प्रचलित नहीं है। हिन्दू लोग निश्चय ही अपने देवी-देवताओं की परिक्रमा करते हैं। यह इस बात का एक और अन्य प्रमाण है कि काबा इस्लाम-पूर्व भारतीय शिवमन्दिर है, जहाँ पर सात परिक्रमाएँ लगाने की हिन्दू-पद्धति अभी भी निष्ठापूर्वक पालन की जाती है।

यह उद्घाटन कदाचित् अनेक लोगों को दाँतों तले उँगली दबाने पर विवश कर दे कि स्वयं 'अल्लाह' शब्द ही संस्कृत का है। संस्कृत में अल्लः, अक्कः और अम्बः पर्यायवाची शब्द हैं। इनका अर्थ माता अथवा देवी होता है। देवी दुर्गा अर्थात् भवानी का आह्वान करने वाले संस्कृत स्तोत्रों में 'अल्लः' शब्द प्रयुक्त होता है। अतः ईश्वर के लिए इस्लामी शब्द 'अल्लाह' नबीनीकरण नहीं है, अपितु पुरातन संस्कृत नामकरण इस्लाम द्वारा ज्यों-का-त्यों ग्रहण किया गया और चालू रखा गया है।

सात परिक्रमाएँ भी महत्त्वपूर्ण हैं। हिन्दू विवाह-पद्धति में वर और वधू अग्नि के चारों ओर सात चक्र लगाते हैं। मक्का के काबा पूजालय में सात परिक्रमाएँ करने की यह पद्धति, इस भाँति, हिन्दू वैदिक-पद्धति ही है।

'सेअरुल ओकुल' हमें बताता है कि इस्लाम-पूर्व काल में वापिक 'ओकाज समारोह' के अवसर पर मक्का में सर्व-अरब खण्डीय काव्य-सम्मेलन हुआ करता था। सभी प्रमुख कविगण इसमें भाग लिया करते थे। उत्तम समझी गई कविताएँ पुरस्कृत होती थीं। उत्तम कविताएँ स्वर्ण पत्र पर उत्कीर्ण कर मन्दिर के अन्दर लटकायी जाती थीं। अन्यो को ऊँट पर उत्कीर्ण कर बाहर लटकाया जाता था। इस प्रकार यह काबा का मन्दिर, सहस्रों वर्षों तक, भारतीय वैदिक परम्परा से प्रेरित उत्तम अरबी काव्यगत विचारों का कोषागार रहा है। यह परम्परा स्मरणातीत युग की थी। किन्तु पैगम्बर मोहम्मद की टुकड़ियों द्वारा काबा पर कें गयी चढ़ाई के मध्य अधिकांश कविताएँ खो गईं और नष्ट हो गईं। पैगम्बर के दरबार के शायर हस्सन-बिन-साबिक ने, जो आक्रमणकारियों ने से ए



धा, संवहीत कविताओं में से कुछ को अपने कब्जे में कर लिया। साबिक का पीछ पारितोषिक पाने की आशा करता हुआ इनमें से कुछ को खलीफा हारुन-अब्द-रशीद के दरबार में ले गया जहाँ उसको सुप्रसिद्ध अरब-विद्वान् अबू अमीर अल्लुत इममई मिला। परवर्ती ने पूर्ववर्ती से ५ स्वर्णखाल और १६ चमड़े की कार्रें, जिन पर पुरस्कार-विजेता कविताएँ उत्कीर्ण थीं, प्राप्त कीं। इन सम्पत्तियों के जाने जाने को बदले में बिपुल धन-राशि देकर प्रसन्नचित्त वापिस लौट दिया गया था।

उन पाँच स्वर्णखालों पर दो प्राचीन अरब शायरो—लबी बयनय और अरक्तब-बिन-नुरफा के पद उत्कीर्ण थे। इसी उपलब्धि के कारण हारुन-अब्द-रशीद को अबू अमीर को समस्त पूर्वकालीन रचनाओं को संग्रहीत करने का आदेश देना पड़ा। इस संग्रह में से एक रचना जिरहम बिनतोई नामक शायर की थी, जो पैगम्बर मोहम्मद से १६५ वर्ष पूर्व हुआ था। बिनतोई को मक्का में प्रतिष्ठित होने वाले सर्व-अरेबिया-सम्मेलन में सर्वश्रेष्ठ काव्यगत रचनाओं के लिए सर्वश्रेष्ठ पुरस्कार निरन्तर ३ वर्ष तक मिला था। बिनतोई को वे तीन कविताएँ स्वर्णखाल पर उत्कीर्ण हो काबा मन्दिर के भीतर दायीं रहीं। उनमें से एक में, विक्रमादित्य के अरेबिया पर पितृ कदम्ब स्तम्भनम शासन के लिए मुक्त-कण्ठ से उसका यशगान किया गया है। इस कविता का हिन्दी क्पाल्तर निम्न प्रकार है।

वे अत्यन्त शान्तिशाली लोग हैं जो सम्राट् विक्रमादित्य के शासन काल में जन्मे (और वहाँ निवास किया)। अपनी प्रजा के कल्याण में रत वह एक कर्तव्यमिथ, दयालु एवं नेक चरित्र राजा था। किन्तु उस समय खुदा को हुये हुए हम अरब लोग ऐन्द्रिय विषय-व्यासनाओं में हुये हुए थे। (हम लोभी थे)। प्रपञ्च और जल्लाधार करना खूब प्रचलित था। हमारे देश को अज्ञान के अन्धकार में डालित कर रखा था। मेड़िये के कूर पंजों में अपनी जीवन-शक्ति के लिए संघर्षरत संभोग की भाँति अरब लोग अज्ञान में बुरी तरह डूबे हुए थे। अपने ही अज्ञान के कारण हम शान्तिपूर्ण और व्यवस्थित जीवन में डूब कर गये थे। सारा देश इतने घोर अन्धकार से आच्छादित था किनाकि अज्ञान की रात्रि की होती है। किन्तु शिक्षा का वर्तमान उपा-  
कार एवं सुखद सुवे-प्रकाश उस नेक चरित्र सम्राट् विक्रम की कृपालुता का

परिणाम है जिसका दयापूर्ण अधीक्षण, यद्यपि हम विदेशी ही थे फिर भी, हमारे प्रति उपेक्षा न कर पाया—जिसने हमें अपनी दृष्टि से ओझल नहीं किया। उसने अपना पवित्र धर्म हम लोगों में फैलाया, और उसने अपने देश से विद्वान् लोग भेजे जिनकी प्रतिभा सूर्य के प्रकाश के समान हमारे देश में चमकी। ये विद्वान् और दूर-द्रष्टा लोग, जिनकी दयालुता एवं कृपा से हम फिर एक बार खुदा के अस्तित्व को अनुभव करने लगे, उसके पवित्र अस्तित्व से परिचित किए गये, और सत्य के मार्ग पर चलाए गये, हमारे देश में अपना धर्म प्रचारित करने और हमें शिक्षा देने के लिए आये थे, महाराज विक्रमादित्य के आदेश पर ही यहाँ आये थे।”

इस्लाम-पूर्व अरब कवि बिनतोई द्वारा सम्राट् विक्रमादित्य की प्रशंसा में रचित यह कविता इस बात का निर्णायक साक्ष्य है कि यह विक्रमादित्य ही था जिसने सर्वप्रथम अरेबिया प्रायद्वीप को विजय किया और इसको भारतीय साम्राज्य का एक अंग बनाया। यह स्वतः स्पष्ट करता है कि भारत से पश्चिम की ओर बढ़ते हुए हमें अफ़ग़ानिस्थान, बलूचिस्थान, कुदिस्थान ईरानम्, सिबिस्थान, ईराक और अरबस्थान जैसे संस्कृत नाम क्यों मिलते हैं! सम्पूर्ण पश्चिम एशियाई क्षेत्र में आच्छादित संस्कृत नामों के द्वारा प्रस्तुत साक्ष्य को उचित महत्त्व न देकर इतिहासकारों ने भयंकर भूल की है। ये भारतीय लोग ही थे जिन्होंने कराची से लेकर हेदजाज तक सम्पूर्ण पश्चिम एशियाई क्षेत्र पर राज्य किया, जिन्होंने उन प्रदेशों एवं नगरों को संस्कृत नाम दिये, अपने देवालय और अग्निपूजन प्रारम्भ किये, शिक्षा चालू की एवं विधि व व्यवस्था स्थापित की। यह हो सकता है कि सम्राट् विक्रमादित्य से पूर्व अरेबिया-विशेष भारतीय साम्राज्य का भाग न रहा हो क्योंकि बिनतोई कहता है कि यह विक्रम ही था जिसने अरेबिया के सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक जीवन में सर्वप्रथम युगान्तरकारी परिवर्तन किये। यह भी हो सकता है कि विक्रम से पूर्व भारतीय साम्राज्य के अन्तर्गत अरेबिया के अतिरिक्त सम्पूर्ण पश्चिम एशिया रहा हो। परवर्ती सम्राट् विक्रम ने भारतीय साम्राज्य में अरेबिया भी जोड़ दिया। अथवा न्यूनतम सम्भावना के रूप में यह भी हो सकता है कि विक्रमादित्य ने स्वयं ही अनेक विजय-



२६४

पानी बहावों पर अकस्मिकताओं और हड़ताल के माध्यम से विज्ञान क्षेत्र को प्रभावित किया है।

आज के विश्व में अकस्मिकताओं के कारणों का अध्ययन और निवारण के लिए अनेक प्रयास किए जा रहे हैं।

प्रत्यक्ष वह भी स्पष्ट हो जाता है कि विकसमीय विकास प्रक्रिया का प्रारम्भ जहाँ भी स्पष्ट हो जाता है, वहाँ की विशालता व सत्यता, तथा अपनी अविनाशिता है। इसी उधारता, हृदय की विशालता व सत्यता, तथा अपनी अविनाशिता, प्रजा के प्रति बाह्य व आन्तरिक हो अथवा अन्तर्गत पूर्ण पितृस्नेहपूर्ण निष्पक्षता, जिससे कि किसी ने प्रमाणित किया है, आदि गुणों के अतिरिक्त विकसमीय विकास प्रक्रिया के प्रारम्भ में स्थायी रूप से इसलिये सुधीर्भित रहा है क्योंकि वह अविनाश के प्रारम्भ में स्थायी रूप से इसलिये सुधीर्भित रहा है क्योंकि वह अविनाश के प्रारम्भ में स्थायी रूप से इसलिये सुधीर्भित रहा है।

रत्न उन्नीस अमिनेस द्वारा प्रमाणित होता है।  
 नन्दात् विक्रमाश्रित्य को इन महान् विषयों का उचित मूल्यांकन बुद्धि  
 से देते जाने के पश्चात् विश्व-इतिहास को अनेक गुणवर्षों स्वतः मुलज्ज जाती  
 है। तैमासि विन्तोई ने शिक्षा है, भारतीय विद्वानों, प्रचारकों एवं सामाजिक  
 कार्यकर्ताओं ने अग्निपूजा को प्रथा का विस्तार किया, वैदिक जीवन-पद्धति  
 का प्रचार किया, पाठशालाओं का प्रवर्धन किया, आयुर्वेदिक केन्द्र स्थापित  
 किए, स्थानीय जनता को सिखाई तथा कृषि में प्रशिक्षण दिया और उन  
 क्षेत्रों में जीवन का लोकतान्त्रिक, व्यवस्थित, शान्तिपूर्ण, समृद्धि-प्राप्त एवं  
 प्रामाणिक रूप प्रस्थापित किया।

अब हमने प्रश्नों सुनों से ही है कि पहलवी तथा बरकम जैसे भारतीय खलिख राज्य-परिहार ईरान और इराक में अपना प्रभुत्व बनाए रहे । ये ही के सहज विषय है जिनकी पारमियों को अग्निहोत्री अर्थात् अग्निपूजक बना दिया । वहीं भी वह कारण है कि हम कुदिस्थान के कुर्दों को संस्कृत-निष्ठ लोगों मानते हुए पाते हैं, पश्चिमी एशिया में तब-बहार जैसे बोमियों प्राचीन भारतीय साम्राज्य केन्द्रों के स्थल देखते हैं, भारत से सहजों मील दूर बाकु और बखदार जैसे स्थानों पर अग्नि-मन्दिर पाते हैं तथा सोवियत रूस में अजम विहारों के दर्शन करते हैं । इस प्रकार, सम्पूर्ण विश्व में हम भारतीय

प्रभूत्व लक्षित करते हैं। सोवियत रुस में प्रारम्भ में ही अनेक बिहार खुदाई में मिलते रहते हैं, तथा मध्य एशिया में भी खुदाई करने पर भारतीय शिला-लेख प्राप्त हो जाते हैं।

दुर्भाग्य से विश्व-इतिहास के ये स्वर्णिम अध्याय जनमानस में धान-विस्मृत हो चुके हैं। उनको फिर से खोज निकालने एवं लिखने की आवश्यकता है। जब ये अध्याय लिख लिए जाएँगे, तो सम्भव है कि ये प्राचीन इतिहास की सम्पूर्ण धारणाओं और दिशामान को बदल दें।

हालीवुड द्वारा निर्मित एक चल-चित्र 'बगदाद का चोर' है जिसमें भारतीय बाल-कलाकार साबू भी है। उस चलचित्र में इस्लाम-पूर्व इराक की झलक मिलती है। उसमें, बगदाद के एक मन्दिर में बुद्ध की एक विशाल-मूर्ति जिसके मस्तक पर अत्यन्त चमकदार हीरा जड़ा हुआ है, ध्यानावस्थित दिखायी गयी है। अन्य दृश्यों में एक बोलल में बन्द पिशाच शिष्टु दर्शाया गया है जो मुक्त किए जाने पर दैत्याकार में बदल जाता है—जिसके निर पर बाल वैसे ही दिखाए गये हैं जैसे हिन्दुओं के गुल्म-युक्त होते हैं; साथ ही अष्टभुजा देवी भी दर्शायी गयी है। यह प्रदर्शित करता है कि पश्चिम एशिया की प्राचीन संस्कृति के सम्बन्ध में खोज करने वाले पश्चिमी लिपिकार भी उन भूखण्डों में वैदिक जीवन-पद्धति के अतिरिक्त और कुछ प्राप्त करते ही नहीं।

कम-से-कम कुरान की एक आयत तो संजुर्वेद के एक मन्त्र का तर्जावत् अनुवाद है। इस बात को वेदों के महान् अन्वेषक-विद्वान् पारशी (सूरत) के पण्डित श्रीपाद दामोदर मातवलकर जी ने अपने एक लेख में उद्धृत किया है।

पिछले लगभग १३०० वर्षों से इस्लाम के फैले रहने के पश्चात् भी पश्चिम एशियाई देशों में अभी भी प्रचलित विभिन्न हिन्दू-रीतियों का आकलन करना अब संभव होगा। मैं उन हिन्दू-परम्पराओं का वर्णन करना चाहता हूँ जो अब इस्लामी-जीवन का अविभाज्य अंग बन चुकी हैं। हिन्दुओं के ३३ देवतागण हैं। इस्लाम का विस्तार होने से पूर्व एशिया-मध्य के लोग भी ३३ देवताओं की पूजा किया करते थे। इस्लाम चन्द्र-पंचांग से ही सर्वदैव परिचालित रहा है। मुस्लिमों का 'सफर' का महीना, जिसका अर्थ 'फाल्गु' है।



महीना होता है, 'अधिक' का समानार्थी है जो हिन्दुओं के पंचांग में 'अधिक मास' कहलाता है।

वृत्तिसप्त मास 'रबी' सूर्य के शीतक रवि का अपभ्रंश रूप है, क्योंकि संस्कृत का 'व' प्राकृत के 'ब' में परिवर्तित हो जाता है। रबी मास में आने वाला "मिलादुल्ल रबी" त्योहार ईश्वर से पुनर्मिलन का शीतक है। इसी महीने में आने वाला दूसरा त्योहार "ग्यारहवीं शरीफ" है जिसका अर्थ पवित्र ग्यारहवाँ दिन है। हिन्दू परम्परा में एकादशी अथवा ग्यारहवाँ दिन बड़े पवित्र समझा गया है। वास्तविक विषुव मनाने की हिन्दू-परम्परा बड़े पवित्र समझा गया है। वास्तविक विषुव मनाने की हिन्दू-परम्परा ईश्वर से पुनर्मिलन की शक्ति ही है। यही बात मुस्लिमों द्वारा मिलादुल्ल रबी मनाने में निहित है। इस मास के ग्यारहवें दिन विशेष मानवत संस्कार उत्पन्न माना जाता था। वही वह पद्धति है जो मुस्लिमों की ग्यारहवीं शरीफ पद्धति में स्मरण की जाती है।

हिन्दुओं के पंचांग में पहिले छः मास देवताओं के दिन और पिछले छः मास उनकी रात्रि कहलाती है। यह क्रम उन दिनों का शीतक है जब हिन्दू लोग उनकी छुट्टी में जा बसे थे। वर्ष के अन्तिम छः महीनों में हिन्दू लोग अपने पुत्रों की पूजा करते हैं। वह पञ्चवादा, जिसमें यह स्मरण कार्य सम्पन्न किया जाता है, पितृ-पञ्च कहलाता है। यह समारोह पितृ-श्राद्ध कहलाता है। मुस्लिम शब्दावली 'फ़ितर' पुरातन संस्कृत शब्द 'पितृ' का अपभ्रंश रूप है।

मन्त्रों द्वारा मरने वालों का पूजन करने के लिए चौदहवाँ दिन निश्चित है। यह दिन "शायत चतुर्दशी" कहलाता है। इसी प्रकार मुस्लिमों द्वारा "बान्ह-बफ़ान" भी मनाया जाता है। संस्कृत में मृत्यु सूचक शब्द 'फ़िक्रित' का अपभ्रंश रूप ही 'बफ़ान' है। उनका 'शबोबरात' उत्सव भी ग्यारहवें दिन अर्थात् मास के द्वापदक्ष की एकादशी को ही होता है।

यह स्मरणार्थ है कि अधिकांश मुस्लिम त्योहार चन्द्रपक्ष की एकादशी को ही मनाए जाते हैं। यह एकादशी के पुरातन वैदिक महत्त्व के अनुरूप ही है। कुछ मुस्लिम त्योहार चन्द्र-दर्शन पर निर्भर हैं। मुअव्वर समारोह सम्पन्न करने में पूर्व चन्द्रोदय देखने की इस्लामी-पद्धति का मूल हिन्दू-रीति

के अनुसार संकष्टी तथा विनायकी चतुर्थी पर चन्द्रोदय देख लेने के पञ्चात् ही व्रत तोड़ने की परम्परा में है।

पुरातनपन्थी हिन्दुओं द्वारा प्रतिदिन कही जाने वाली 'संख्या' प्रार्थना में वे विगत रात्रि को कर्म अथवा वचन द्वारा किए गये पाप के लिए क्षमा-याचना करते हैं (यद् रात्र्या पापम् अकर्मम् मनसा वाचा)। इसी प्रकार अथर्व-शीर्ष में, रात्रि के पापों को दिन में और दिन के पापों को रात्रि में सुधरे व्यवहार द्वारा शुद्ध करने की सामर्थ्य प्रदान करने के लिए ईश्वर-अनुकम्पा की याचना की जाती है।

वर्ष के दुष्कर्मों के प्रायश्चित्त स्वरूप तपस्या के रूप में मुहर्रम-मास मनाने की मुस्लिम-पद्धति ऊपर कही गयी वैदिक पद्धति का चालू रहना ही है। वर्ष के अतिरिक्त दिनों को नक्षत्रीय सामंजस्य में लाने के लिए 'अधिक मास' अर्थात् फ़ालतू महीना मनाने की पद्धति का दूसरा रूप ही उनका सफ़र का महीना है। अतिरिक्त का शीतक 'सफ़र' शब्द संस्कृत के 'अधिक' शब्द का पर्यायवाची है।

बकरी-ईद की इस्लामी-रीति गो-मेध और अश्वमेध अथवा वैदिक-कालीन बलि से उद्भूत है। संस्कृत में 'ईद' का अर्थ पूजन है। पूजन के शीतक आनन्दोत्सवों के दिनों का सूचक इस्लामी-शब्द 'ईद' इस प्रकार विगुह संस्कृत शब्द है। हिन्दू-राशियों में 'मेघ' शब्द मेमने (भेड़) का शीतक है। चूँकि प्राचीन युग में मेघ राशि में सूर्य का प्रवेश होने पर वर्ष का आरम्भ हुआ करता था, अतः इस अवसर पर मांस-भोजन से प्रसन्नता व्यक्त की जाती थी। "बकरी-ईद" उत्सव का उद्गम इस प्रकार है।

चूँकि ईद का अर्थ पूजन है और गृह का अर्थ घर है, इस्लामिक-शब्द ईदगाह 'पूजनगृह' का शीतक है जो शब्द का यथार्थ संस्कृत-विश्लेषण है। इसी प्रकार 'नमाज' शब्द भी संस्कृत की दो धातुओं 'नम्' और 'यज्' से व्युत्पन्न है, जिनके अर्थ झुकना और पूजन हैं।

चन्द्र, विभिन्न नाक्षत्रिक राशि समूह तथा विश्व-सृष्टि के वैदिक वर्णन वेदों से कुरान में भाग-१ अध्याय-२ के पद्य ११३, ११४, ११५, ११८ और ११९ में, अध्याय ६ के पद्य-३७ तथा अध्याय-१० के पद्य क्रमांक ४ से ७ में संग्रहीत हैं।







एवं सुन्दर हो तथा मानसिक रूप में अति कर्तव्यनिष्ठ, समन्वयवादी, स्नेही, दयालु, वीर एवं आत्म-बलिदानी हो।

उन्होंने विचार किया कि इसकी उपलब्धि तभी सम्भव है जब मन, वचन, और कर्म में पूर्ण सामंजस्य हो। इस आदर्श से प्रेरित होकर उन्होंने संस्कृत भाषा का विकास किया। स्वयं 'संस्कृत' शब्द का अर्थ सुविचारित, वैज्ञानिक भाषा है। अतः जैसा इसका उच्चारण किया जाता है, वह वैसी ही निखी जाती है। विश्व की अन्य किसी भी भाषा में यह गुण नहीं है।

इस आदर्श को उन्होंने अपने सुप्रसिद्ध नीति-वाक्य "कृणवन्तो विश्व-मायम्" में सँजो दिया। इसका अर्थ यह हुआ कि वे समस्त विश्व को, सभी मानवों को आर्य अर्थात् अतिमानव बनाना चाहते थे। 'आर्य' शब्द का अशुद्ध अर्थ लगाकर बहुत भ्रामक धारणा बनायी गयी है। आर्य लोग कोई जाति-विशेष न थे। वह शब्द तो आदर्श अतिमानव का द्योतक था। यह ऐसी आदर्श अवस्था थी जिसके लिए नित्य व्यवहार द्वारा प्रत्येक व्यक्ति आकांक्षा कर सकता था और यत्नशील रहता था। यही कारण है कि पत्नी भी अपने पति को 'आर्य' ही सम्बोधित करती थी।

अपने विचारों और अपनी आकांक्षाओं के अनुरूप ही प्राचीनकाल के हिन्दुओं ने लगभग समस्त विश्व में ही अपने धर्मोपदेशक, प्रचारक तथा पथ-प्रदर्शक भेजने में उत्तेजनीय पुरुषार्थ और ऊर्जा का प्रदर्शन किया था। उन्होंने विश्व को अपने आश्रमों अथवा प्रशिक्षण-केन्द्रों से भर दिया था। इन्हीं केन्द्रों को अनेक बार विहार कहा करते थे। गोलक अथवा विश्व के लिए उनका शब्द 'भारतवर्ष' था। चूँकि पृथ्वी को सूर्य की परिक्रमा पूर्ण करने में जो समय लगता है वह वर्ष है, अतः यह दीर्घवृत्त अथवा अण्डाकार वस्तु का द्योतक है। उस महान् दीर्घवृत्त अर्थात् भारतवर्ष का एक अंश भरतखण्ड अर्थात् महान् एशिया—यूरोप भूखण्ड अथवा प्रायद्वीप था। अतः प्राचीन भारतीय शब्दावली में एशिया-यूरोप एक प्रायद्वीप ही समझा जाता था।

आज जब हम आधुनिक विश्व के चहुँ ओर अपनी दृष्टि घुमाकर देखते हैं, तो बीसियों शताब्दियों के बीत जाने पर भी हम उस सर्वव्यापक हिन्दु

भयंकर भूल : क्रमांक—१६

“हम भूल गये कि भारतीयों का शासन बाली से बाल्टिक समुद्र पर्यन्त तथा कोरिया से कावा तक था”

जिंदगी की विदम्बना ही कहा जाय कि इस प्राचीनतम सभ्यता के स्वीकृत तथा उपदेशक महान् आदर्शवादी थे। स्पष्ट विचारक होने के कारण उन्होंने यही उचित समझा कि जिस प्रकार हम मानव लोग वायु का उन्मुख संज्ञक करते हैं, उसी प्रकार हमें कृत्रिम सीमाएँ बांधकर रखने का कोई कोर्कब नहीं है। उनका अन्य परम मिडान्त यह रहा है कि चूँकि सभी मानव सामान्य स्वभाव, इच्छाएँ, अनुभूतियाँ, मनस्ताप तथा मुखकृति रखते हैं, अतः कोई कारण नहीं है कि एक समुदाय दूसरे समुदाय में श्रेष्ठ समझा जाय। अतः वे लोग इस पद्धति पर विचार करते रहे कि सभी मानव एक परिवार के सदस्य हैं तथा सर्व पृथ्वी उनका घर है।

आदर्शवादी होने के कारण उनका अन्य विश्वास यह था कि चूँकि मनुष्य देवांग है, उसका जीवन ऐसी प्रणाली में पड़ना चाहिये कि वह देव में ही बाध-समा जाय। अतः वे ऐसी प्रणाली खोज निकालने में लगे रहे जिससे किसी एक कच्ची धातु से परिष्कृत सुन्दर प्रतिमा की भाँति प्रत्येक मनुष्य की मूल-वर्तुति और इच्छाओं को निरन्तर शिक्षा, प्रशिक्षण तथा उच्च प्रेरणाओं से व्यावहारिक जीवन व्यतीत कराकर इस प्रकार अति-मानव में देवत्व अर्थात् मोक्ष की उपलब्धि करा दी जाय।

उन्होंने जो परिदृश्यना की वह यह थी कि प्रत्येक मानव का परिपालन इस प्रकार हो कि वह शारीरिक रूप में सामर्थ्यवान्, दृष्ट-पुष्ट, दीर्घजीवी



वर्षात् वैदिक संस्कृति के असंख्य लक्षण आज भी देख सकते हैं जिसने समस्त विश्व को व्याप्त कर रखा था।

वे चित्त अनेक प्रकार के हैं। इनमें वास्तविक ऐतिहासिक स्वभाव, कुछ देशों की भाषाओं में संस्कृत व्याकरण तथा वाक्य-विन्यास का अस्तित्व, पुरातन वैदिक वाङ्मय में उपलब्ध दूरस्थ क्षेत्रों के संस्कृत शब्दों की बहु-विधता, रीति-रिवाज, निष्ठाचार, पौराणिकता, वर्णन सम्बन्धी तथा भौगोलिक लक्षण सम्मिलित हैं।

आइये, हम 'इण्डिया' शब्द लें। इस शब्द की पूर्वस्मृतियों से परिपूर्ण हमें सब दिग्गजों में इण्डियाना, इण्डियानापोलिस, रैंड इण्डियन्स, वेस्ट इण्डोज, ईस्ट इण्डोज, दि इण्डियन ओशन (हिन्द महासागर), इण्डोनेशिया, इण्डो-चाइना नाम मिलते हैं।

आइये, अब हम जगह या भूखण्ड का अर्थ-स्रोतक "स्थान" शब्द लें। भारतीय प्रायद्वीप के पश्चिम की ओर हमें उन देशों के विस्तृत नामों की विज्ञान भूखण्ड मिलती है जिनके नामों में 'स्थान' शब्द प्रत्यय रूप में विद्यमान है। इनमें बनूचिस्थान, अफगानिस्थान, कुदिस्थान, सिबिस्थान, अथेन्स्थान, तुर्गेस्थान [आधुनिक टर्की (तुर्की)], और चीनी तुर्गेस्थान सम्मिलित हैं।

पूर्व-दिशा में हमें यव-द्वीप (आधुनिक जावा), सुमात्रा, बाली, ब्रह्मदेश (आधुनिक बर्मा), सिंगापुर, सैगाँव, कम्बोडिया, लव (लाओस) तथा ऐसे ही अन्य संस्कृत नाम मिलते हैं।

अपनी उत्तर-दिशा में अब पाकिस्थान कहलाने वाले उत्तरी पहाड़ी क्षेत्र में हम स्वयं और चित्राल राज्य पाते हैं। हिन्दू-ज्योतिष-शास्त्र के २७ नक्षत्रों में से स्वाति और चित्रा दो नक्षत्र हैं। यद्यपि यताब्दियों से इन दोनों राज्यों पर शासन मुस्लिम आक्रमणकारियों का रहा है, तथापि उनके साथ उसका संस्कृत-प्राकृत अर्थात् भी चल रहा है।

हमारे पश्चिम के स्थित देशों में हमने ईरान और इराक का नाम छोड़ दिया है, वह भी स्थान में आया होगा। उनका पृथक् से वर्णन करने के लिए ही ऐसा किया गया है। ईरानम् संस्कृत शब्द है जिसका अर्थ नवणयुक्त अथवा नवरा क्षेत्र है। हमारा 'रण' शब्द भी उसी श्रेणी से सम्बन्ध रखता

है यथा 'कच्छ का रण' में। इराक शब्द भी उसी धातु से व्युत्पन्न है—'इर्' से जिसका अर्थ पानी है।

अब हम एक-एक देश को लेकर उन विशिष्ट लक्षणों का पर्यवेक्षण करेंगे जिनसे सिद्ध होता है कि वे भारतीय शासन तथा भारतीय संस्कृति के अधीन रहे थे। दूसरे शब्दों में, उन क्षेत्रों पर हिन्दुत्व के प्रभुत्व के लक्षणों को खोज निकालने का यत्न करेंगे।

## अफगानिस्थान

ईसा की दसवीं शताब्दी तक अफगानिस्थान पर हिन्दू सम्राट् राज्य करते थे। उसके पश्चात् भी कुछ वर्षों तक अफगानिस्थान के अनेक भागों पर हिन्दू राजाओं का राज बना रहा। और रीति यह थी कि यद्यपि काबुल हिन्दुओं के हाथों से निकल चुका था, तथापि हिन्दू-राजाओं को अनुमति थी कि वे अपना राजसिंहासनारूढ़ होने का समारोह काबुल में ही सम्पन्न कर सकते थे। इसका उल्लेख डॉ० एडवर्ड डी० सशाऊ द्वारा संकलित तथा सम्पादित "अलबरूनी का भारत" पुस्तक में है। वह सिद्ध करता है कि अफगानिस्थान में सभी प्राचीन राजमहल हिन्दुओं द्वारा बनवाए गये थे, और यहाँ की सभी जनता हिन्दू थी।

अफगानिस्थान की भाषा 'पश्तो' संस्कृत-शब्दों से भरी पड़ी है। और, पश्तो के विद्वान् बनने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को संस्कृत का अध्ययन अनिवार्य रूप में करना ही होता है।

काबुल नगर और काबुल नदी, दोनों के ही नाम संस्कृत की एक धातु 'कुम्' से व्युत्पन्न हैं। काबुल में आज भी महादेव तथा अन्य भारतीय मत-मतान्तरों के मन्दिर विद्यमान हैं। जैसेकि हमें भारत में अजन्ता, एलोरा, करला, भज तथा नासिक में मूर्तियाँ मिलती हैं, उसी प्रकार अफगानिस्थान की बामियान-घाटी में पर्वत-पार्श्व तथा अनेक चट्टानों को काटकर बनाए गये मन्दिरों में खुदाई कर भगवान् बुद्ध की अनेक विशालकाय चमत्कारपूर्ण मूर्तियाँ बनायी हुई थी। स्वयं अफगानिस्थान नाम भी संस्कृत का है। जलालाबाद नाम उस नगर को दे दिया गया है जो पहले 'नगर हर' अर्थात् भगवान् शिव का नगर पुकारा जाता था। इसका निष्कर्ष यह है कि अफ-



राजस्थान में ईसा की नवीं शताब्दी तक के सभी दुर्ग, राजमहल, मस्जिदें तथा भवन हिन्दू निर्माणकला की वस्तुएँ हैं। वे विभिन्न वस्तुएँ भी, जो उस विधि तक की नहीं मालूम पड़ती, वास्तव में पूर्वकालीन भवनों के विकल्प हैं। पूर्वनिर्मित भवनादि तो आक्रमणों तथा युद्धादि में नष्ट हो गये।

इसी प्रकार बलूचिस्थान भी संस्कृत नाम है। बवेदा से कुछ मील की दूरी पर 'काण' नामक छोटा-सा नगर है। इस नगर के उत्तर-पश्चिम में ४० मील की दूरी पर एक पहाड़ी है जो हिन्दू-तीर्थस्थल रहा है क्योंकि यही तो वह स्थान है जहाँ ने नुहका कर प्राण ले लेने की आज्ञा भारतीय पुराणों में वर्णित अपने पुत्र ब्रह्मा के लिए हिरण्यकश्यप ने दी थी। भारत से विलग पकिस्तान बनने से पूर्व पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त में रहने वाले हिन्दू नृसिंह जयन्ती दिवस पर उस पर्वतीय देवालय की यात्रा किया करते थे। चूँकि अब कुछ समय से कोई भी हिन्दू वहाँ को यात्रा नहीं कर रहा प्रतीत होता है, पकिस्तान-नियत भारतीय राजदूत का यह कर्तव्य होना चाहिये कि वह इस यात्रा स्थान की विधिधर्म तथा सुरक्षा का पूर्ण प्रबन्ध करा सके।

फाज जो कराची कहलाता है, वह प्रसिद्ध नगर देवल अथवा देवालय का जो अत्युच्च शिखर वाले देवालय के नाम पर बा। विशाल प्राचीरों के अन्दर में अवस्थित इस पवित्र स्थान पर मुहम्मद कासिम के समय में बार-बार आक्रमण किए गये थे। जब मुहम्मद कासिम ने भारत पर आक्रमण प्रारम्भ किया, उस समय इस क्षेत्र पर राजा दाहिर का राज्य था। राजा दाहिर का सामनादिक नाम ज्ञान नहीं है।

मुहम्मद कासिम के काल के अरब विधिवत्कारों के अनुसार मरुस्थल होने की बात तो दूर है, सिन्ध तो ओझों और जंगलों तथा सिंचित खेतों और उद्यानों के अग्रभूत था। सिन्ध, बलूचिस्थान और अफगानिस्थान तो केवल तब ही मरुस्थलों में परिवर्तित हुए जब आक्रमणों का युग प्रारम्भ हुआ और वे विशाल जल भण्डार तथा उर्वर खेतादि लुण्ठनकारी राक्षसी कबूतों द्वारा बार-बार निरुपयोगी बना दिये गये। यही बात इराक, ईरान और अरेबिया के विषय में कही जा सकती है। हम ज्ञानकोशों में उल्लेख पाते हैं कि अभी ईसा की छठी शताब्दी तक अरेबिया भी अति जल-पूरित तथा जल-वर्षितवा वाला हरा-भरा प्रदेश था। किन्तु लगभग १३०० वर्ष

पूर्व मध्य-पश्चिमी देशों के लोगों में एक नयी दार्शनिकता का प्रस्फुरण हुआ, एक नया जीवन-दृष्टिकोण उन्होंने अंगीकार किया जिसके अनुसार उन्होंने स्वयं को लुटेरों की टोलियों में संगठित किया और अन्य लोगों के परिश्रम से पैदा की हुई धन-सामग्री पर अपना जीवन-यापन करने के लिए पड़ोसी देशों पर आक्रमण करना प्रारम्भ कर दिया।

जिस स्थान पर अकबर का जन्म हुआ, वह उमरकोट कहलाता है। यह सिन्ध में स्थित है। जब अकबर का जन्म हुआ, तब उसके पिता हुमायूँ ने उमरकोट पर राज्य करने वाले एक हिन्दू राजपूत सरदार का आतिथ्य स्वीकार किया था। ये उदाहरण इस बात के प्रमाण हैं कि सिन्ध, बलूचिस्थान तथा अफगानिस्थान वे क्षेत्र थे जहाँ १००० से १२०० वर्ष पूर्व तक भारतीय क्षत्रियों का राज्य था, और वहाँ के सभी लोग हिन्दू ही थे।

## ईरान

हम इस देश को ईरान कहें चाहे परशिया (फारस), सभी संस्कृत नाम हैं। ईरान 'ईरानम्' से व्युत्पन्न है और परशिया 'परसिका' से। ईरान का शाही परिवार-पहलवी हिन्दू, क्षत्रिय, भारतीय परिवार है। पहलवी नाम सर्व प्रथम रामायण में वशिष्ठ जी की कामधेनु का विश्वामित्र द्वारा अपहरण किए जाने के यत्न वाले प्रसंग में आता है। कामधेनु द्वारा अपनी रक्षा के निमित्त उत्पन्न किए गये योद्धा वर्गों में पहलवी एक है। विक्रमादित्य के समय में हमें फिर यह नाम मिलता है। पल्लव लोग पहलवियों की एक उप-शाखा है।

'शाह' शीर्षक भी भारतीय उपाधि है। नेपाल का हिन्दू-साम्राट् भी 'शाह' की उपाधि से विभूषित है। 'शाह' एक सामान्य हिन्दू कुलनाम भी है। भारत की प्रतिरक्षा के लिए महाराणा प्रताप के चरणों में अपनी समस्त धन-सम्पत्ति अर्पित करने वाला धनिक राष्ट्रभक्त भामाशाह कहलाता था। मुस्लिमों द्वारा सिंहासन-च्युत ग्वालियर का क्षत्रिय राजा रामशाह था। अतः ईरानी बादशाहों द्वारा धारण की गयी 'शाह' की उपाधि पहलवी परिवार का भारतीय क्षत्रिय-मूल होने का स्मरणकारी ही है। सुप्रसिद्ध



भारतीय क्षत्रिय परिवारों की ही भाँति २५०० वर्ष प्राचीन ईरानी राजवंश अपना उद्गम कुँसे से ही मानता है।

इतिहासी ने यह लिखित है कि पारसी नाम नोशेरवाँ अनुश्रवण का संक्षिप्त रूप है। अनुश्रवण विशुद्ध संस्कृत शब्द है।

ईरान के विच्छेद इस्लामी आक्रमणों का ताँता प्रारम्भ होने के समय सामान्य जनता का एक बड़ा भाग भारत आ गया था। वे लोग पारसी कहलाते हैं। इतिहास में यह भी उल्लेख है कि ईरान का राजपरिवार भी ईरान को छोड़ देने और भारत में आकर शरण लेने का विचार कर रहा था। इससे न्यूटन की भाँति मौलिक विचार करने की प्रेरणा मिलनी ही चाहिए। जिन प्रकार न्यूटन ने सेव को पृथ्वी की ओर गिरते हुए (न कि आकाश की ओर जाते हुए) देखकर यह निष्कर्ष निकाला था कि यह तो पृथ्वी का गुरुत्वाकर्षण ही था जिसके बशीभूत होकर फल पृथ्वी की ओर ही जाता था, उसी प्रकार इतिहासकारों को भी यह विचार करना चाहिये कि ऐसा कौन-सा कारण था जिसके बशीभूत हो ईरानी राज-परिवार तथा ईरानी-जनता, दोनों ने ही विश्व के अन्य समस्त देश छोड़कर भारत में आने का विचार किया। प्रसंगपर, हमें एक आधुनिक उदाहरण भी उपलब्ध है। जब भारत का एक भाग, पाकिस्तान के नाम से, भारत से काटकर अलग कर दिया गया, तब कौन लोग थे जिन्होंने भारत में शरण ली? वे हिन्दू ही थे। अतः, यही तथ्य कि इस्लामी आक्रमणों का प्रारम्भ होते ही ईरानी राज-परिवार तथा ईरानी सामान्य जनता भारत आने का विचार कर रहे थे, सिद्ध करना है कि वे सब हिन्दू ही थे।

हमारा निष्कर्ष कुछ अन्य प्रमाणों से भी पुष्ट होता है। ईरानी भाषा स्वयं ही संस्कृत का एक अपभ्रंश रूप है। भाषाओं के तथाकथित भारोपीय परिवार में संस्कृत को सदाभागी मानना भयंकर भूल है। ऋग्वेद अत्यन्त प्राचीन तथा प्राचीनतम लिखित बाह्म्य होने के कारण इसकी भाषा संस्कृत को सभी ज्ञात भाषाओं की पहचानी है। अतः पारसी भाषा तो संस्कृत की एक परबनी बानी भाषा है। संस्कृत भाषा ईरानी लोगों की बोलचाल की भाषा थी। यही कारण है कि पारसी हमें आज भी उतनी ही संस्कृतमय मिलती है जितनी भारत की प्राकृत भाषाएँ।

ईरान के अनेक नगरों के नाम संस्कृत में ही हैं। नामी फारसी शायर उमर खैयाम का जन्मस्थान निशापुर विशुद्ध संस्कृत-नाम है।

प्रथम और द्वितीय विश्व-महायुद्ध के समय पश्चिम एशिया में स्थित भारतीय सैनिक टुकड़ियों ने प्रतिवेदन दिया है कि उन्होंने ईरान, अफगानिस्तान और अन्य देशों के दूरस्थ निर्जन प्रदेशों में गणेश और शंकर जैसे भारतीय देवताओं के मन्दिरों के भग्नावशेष देखे हैं।

ईरानी पौराणिकता का प्राचीन भारतीय पाण्डित्य से संबंध है। उनकी कथाओं में हनुमान जी (नामक वानर) का भी समावेश है। ईरान से प्राप्त इनका एक चित्र हैदराबाद के सालारजंग अद्भुतागार (म्यूजियम) में टंगा हुआ देखा जा सकता है। अपने पिछले पैरों पर खड़े हुए और अपने सिर से ऊपर दोनों हाथों पर एक बड़ी चट्टान उठाये हुए यह एक बड़े रुखे बालों वाला वानर दिखाया गया है। भारतीय (हिन्दू) पावन बाह्म्य से उनका सम्बन्ध शताब्दियों से अज्ञानक टूट जाने के कारण ईरानी पौराणिक साहित्य में इन वानर देव को एक जिन्न या शैतान के रूप में जीवित रखा हुआ है।

इस्लाम में धर्म-परिवर्तित कर लिए जाने से भयभीत होकर पारसियों ने भारत में आने का विचार इस कारण किया क्योंकि वे प्रमुख रूप में वैदिक अग्नि पूजक थे। वे भी यज्ञोपवीत पहिनते हैं, और किशोरों का यज्ञोपवीत-संस्कार कराते हैं। अग्नि में आहुति देने के लिए वे चन्दन सम्मिलित करते हैं। हिन्दुओं की ही भाँति वे अपने मकानों के प्रवेश द्वारों के सम्मुख सफेद चूने में ज्यामितीय आकार रेखांकित करते हैं। उनके आर्देगिर (अर्धगिर) अर्थात् 'अपना मस्तक सदैव ऊँचा रखने वाला' तथा 'अनुश्रवण' का अर्थ-द्योतक 'नोशेरवाँ' संस्कृत-मूलक हैं। यह प्रदर्शित करता है कि ईरान तथा अन्य देशों पर इस्लाम का बलात् आधिपत्य होने से पूर्व उन क्षेत्रों के निवासीगण वैदिक जीवन-पद्धति के अनुयायी थे।

## इराक़

ईरान की भाँति ही 'इराक़' पुकारा जाने वाला देश-नाम भी संस्कृत की 'इर्' धातु से व्युत्पन्न है। "अलबरूनी का भारत" पुस्तक के आमुख में ३१वें पृष्ठ पर डाक्टर एडवर्ड डी० सशाऊ का कहना है कि बत्त में वर्तमान



गोबिन्द-विहार 'नव-विहार' अर्थात् 'नवीन सांस्कृतिक केन्द्र अथवा आश्रम' से व्युत्पन्न संज्ञा है। इस केन्द्र का प्रधानाचार्य, जो स्पष्ट रूप में भारतीय था, परमक कहलाता था। वह मुस्लिम बन जाने के लिए बाध्य किया गया। वह परिवार स्वयं को परमक ही कहता रहा। समय व्यतीत होते-होते वह नाम परमक के रूप में अनुद्ध उच्चारण होने लगा और अभी पिछले १० वर्ष पूर्व ही, यह भारतीय परिवार परमक ही था जो इराक़ पर शासन करता था।

बल्क नाम से पुकारे जाने वाले क्षेत्र का नाम भी भारतीय महाकाव्यों में उल्लेखित 'वाल्ह्वीक' से व्युत्पन्न है। संस्कृत का 'व' बहुधा 'ब' बन जाता है। इसा वचन—वचन और वासुदेव—वासुदेव। अतः 'वाल्ह्वीक' क्षेत्र बल्क नाम से पुकारा जाने लगा। यही वह क्षेत्र है जहाँ 'नव विहार' स्थित है।

हॉ० सलाह हमें यह भी जानकारी देते हैं कि परमक मुस्लिम हो जाने के बहुत समय पश्चात् तक भारत से अपना सम्बन्ध बनाये रहे। परमक शासक अपने लोगों को प्रशिक्षण के लिए भारत भेजते रहे। वहाँ के शासक ने पाठशाला, कार्यालय, चिकित्सालय, सेत तथा अन्य संस्थानों को चलाने के लिए सभी उच्च अधिकारी भारत से मंगाये हुए थे।

इराक़ का एक भाग कुदिस्थान कुदी से बसा हुआ है। वे अभी भी अपने अनेक हिन्दु रीति-रिवाज और नामों को धारण किये हुए हैं। उनकी भाषा में भी अनेक संस्कृत शब्द हैं। इराक़ की राजधानी बग़दाद में अभी भी एक अति प्राचीन अग्नि-मन्दिर है। वह भवन ता तुलनात्मक रूप में आधुनिक काल का हो सकता है, किन्तु वह स्थल तो निश्चय ही इस्लाम-पूर्व स्मारकालीन युग का है। जिस प्रकार सोमनाथ बार-बार ध्वस्त हुआ और फिर-फिर बनाया गया, उसी प्रकार यह अग्नि-मन्दिर है। अभी भी विद्यमान वह अनेक मन्दिर हमें उन अन्य सहस्रों की याद दिलाता है जो नाम-शेष कर विध्वंसित हो, जिसका आज कोई निशान भी नहीं मिलता अथवा जो मस्जिदों में परिवर्तित कर दिये गये।

## पारसी

इस्लामी और अरबी-परम्पराओं के वैदिक मूलों को कुछ विशद रूप में वर्णित करने के पश्चात् अब हम पारसी-परम्पराओं को वैदिक-मूल का सिद्ध करने का प्रयास करेंगे।

यह पहले ही पर्यवेक्षण किया जा चुका है कि किस प्रकार 'परशिया' और 'ईरान' शब्द मूलरूप में संस्कृत भाषा के हैं। उस क्षेत्र में शासन करने वाले संस्कृत लोगों द्वारा ही उनको संस्कृत नाम दिये गये। ये वही संस्कृत-भाषी लोग हैं जिन्होंने पश्चिम-एशिया में अग्नि-पूजा तथा अन्य वैदिक धार्मिक कृत्यों का प्रचलन प्रारम्भ किया। ऐसी परिस्थितियों में यह स्वाभाविक ही था कि पारसी देवी-देवताओं, महीनों आदि के नाम वैसे ही हों जैसे हिन्दुओं के देवी-देवताओं, महीनों आदि के हैं, और यह बात है भी।

पारसियों के भी हिन्दुओं की ही भाँति ३३ देवतागण हैं। जिस प्रकार 'सिन्धु' 'हिन्दू' बन गया, उसी प्रकार इन नामों में संस्कृत भाषा का 'स' बहुधा 'ह' में परिवर्तित मिलता है। देवताओं के हिन्दू तथा पारसी नामों की एक तुलनात्मक तालिका नीचे दी जा रही है—

पारसी	हिन्दू	पारसी	हिन्दू
आन्द्र	इन्द्र	अहुर	असुर
ओग्नि	अग्नि	श्रुत	वृत्
वेरेथ्र	वृत्र	हुक्तुः	शुक्तुः
प्रपैप	...	वृथाघ्न	वृत्ताघ्न
होओम	सोम	भाग	भाग
अथाव्य	आप्त	वदरय	वज्र
विवशान्ता	विवस्वत	मैथ्र	मित्र

पारसी नव रोज बिल्कुल वही है जो वैदिक नव संवत्सरारम्भ अर्थात् नव-वर्ष-दिवस है।

पारसी दिनों और महीनों के संस्कृत-मूलक होने की जाँच-पड़ताल निम्नलिखित तालिका से की जा सकती है—

पारसी	हिन्दू	पारसी	हिन्दू
अवन माह	अवन मास	मोदेन माह	मदेन मास



अनामक	अनामक	करचनदिर-बाह	प्रवधिनि मास
अर्कता	अमृत-तत्व	अग्रमैत्र्यु	अग्रमनु
बाताहम	बात	पवनमित्रो	पवनमित्र
होरागत	होर तत्व	बाहर	बासर
ज्योतिमद	ज्योतिमद	ओष्ठवद	ओष्ठवत
आतंमहिष्य	आतंमहिष्य	अहूनवद	असुरवत
बाहुनग	बाहुनग		

इसी प्रकार की और जानकारी "डोरस्ट्राइन ज्योलोजी" पुस्तक से मजह की जा सकती है।

अब हम यूरोपीय देशों की समीक्षा यह देखने के लिए करेंगे कि क्या उन देशों में भी प्राचीन वैदिक संस्कृति के कुछ लक्षण हमें मिलते हैं या नहीं।

### इंग्लैण्ड

द्वितीय विश्व-युद्ध की समाप्ति के पश्चात् लंदन के युद्ध-विध्वस्त थेलों के पुनर्निर्माण के समय सूर्य के अर्धद्योतक भारतीय देवता मिक्स की एक प्रतिमा एक बड़े मकान की नींव में दबी हुई मिली थी। कहा यह गया था कि ब्रिटेन में अपने शासनकाल में रोमन लोगों ने अग्निपूजा प्रचलित की थी। यह प्रमाणित करता है कि ग्रीस और रोम के मार्ग में कम से-कम इंग्लैंड तक तो प्राचीन हिन्दू संस्कृति भी पहुंच गयी थी। किन्तु यह भी हो सकता है कि इंग्लैंड तक हिन्दू-संस्कृति स्वयं वैदिक भारतीयों द्वारा ले जायी गयी हो। हमें कुछ प्रमाण इस बात के भी मिलते हैं कि उत्तरी-ध्रुव-वृत्त के क्षेत्र में भी वैदिक-संस्कृति व्याप्त थी। यदि यह स्वीकार कर लिया जाता है, तो फिर ऐसा कोई रास्ता नहीं है जो उन्हीं वैदिक लोगों को नागर का छोटा-सा टुकड़ा पार कर ब्रिटेन में प्रविष्ट होने से रोक पाती।

यह विचार अंग्रेजी भाषा में पाई जाने वाली अनेक संस्कृत-धातुओं और शब्दों से सम्पूर्ण होता है। इस प्रकार पैर के द्योतक संस्कृत-शब्द 'पद' से 'पादर' (दिगद), 'पैत्रिपाटिक' (वागशील विद्या), 'ओर्थोपैडिक' (मिथ्य-बोधन), 'पैडस्टन' (लम्बपाद) जैसे शब्दों की पूरी श्रृंखला

निर्मित होती है। 'पैडस्ट्रियन' संस्कृत का पदचर है। अंग्रेजी व्युत्पन्न शब्दों के लिए व्यापक रूप में प्रयुक्त होने वाली संस्कृत की एक धातु 'दन्त' है जो दांत की अर्धद्योतक है और जिससे हमें डैन्टिस्ट (दन्तचिकित्सक), डैन्टिस्ट्री (दन्तचिकित्सा), डैन्टल (दन्त, दन्तक) आदि शब्द मिलते हैं। मौत की सूचक संस्कृत धातु 'मृत्यु' है जिससे हमें मोरचुअरि (मृतकगृह, मृत्यु-संबंधी) मोर्ग (वह स्थान जहाँ पहचानने के लिए शव रखे जाते हैं), मोर्टल (मर्त्य), ईम्मीटल (अमर्त्य) आदि अंग्रेजी शब्द मिलते हैं। अंग्रेजी शब्द मैन मस्तिष्क के अर्धद्योतक संस्कृत शब्द 'मनस' से व्युत्पन्न है और इसी-लिए इसका अर्थ मननशील जीव है। 'डोर' द्वार है। प्रकाश, प्रवृत्ति में प्रयुक्त संस्कृत उपसर्ग 'प्र' अंग्रेजी में व्यापक रूप में प्रयोग में आता है; वचा प्रोफर (प्रदान करना), प्रोक्रियेट (प्रजनन, प्रसव)।

कहा जाता है कि संस्कृत का यह प्रभाव अंग्रेजी में लैटिन के माध्यम से पैठ पाया। फारसी भाषा के समान ही लैटिन भी संस्कृत से भरी पड़ी है। इस प्रकार हमें पेटर, मेटर, फादर, मदर संस्कृत के पितृ और मातृ शब्दों से प्राप्त होते हैं। पैट्रसाइड (पितृहत्या), मैट्रसाइड (मातृ हत्या), स्वसाइड (आत्महत्या) सभी संस्कृत शब्द हैं, क्योंकि साइड (छिद्) का अर्थ 'काटना' है और पितृ, मातृ, स्व क्रमशः पिता (फादर), मातृ (मदर) और आत्म (वन सैल्फ) के द्योतक हैं।

अंग्रेजी में अपना अस्तित्व बनाये चल रहा संस्कृत शब्दों का पूरा असंदिग्ध समूह उसी प्रकार इस बात का संशक्त साक्ष्य है कि भारतीयों का यूरोप पर कभी प्रभुत्व रहा है, जिस प्रकार टिकट, रेल, नागालैंड तथा स्टेशन आदि शब्दों का भारत में प्रचलन इस बात का प्रमाण है कि भारत पर किसी समय ब्रिटिश-शासन रहा है। इनमें से कुछ शब्द और धातुएँ निम्न प्रकार हैं—

अंग्रेजी	संस्कृत	अंग्रेजी	संस्कृत
ग्रीच	प्रचार	एट	अष्ट
अडोर	आदर	नाइन	नव
पाथ	पथ	डैसीमल	दशमलव
मेटर डीई	मातृदेवी	डीकेड	दशक



कू	कुबम्	ओक्टेगन	अष्टकोण
खी	वजम्	पेन्टेगॉन	पंचकोण
हो	मः	क्रिस्मस	क्राइस्ट-मास
ली	सा	अन (निगेटिव)	अन (नकारात्मक)
खो	गम्	बैस्टर	बस्त्र
कम	आगम	हैड	हस्त
अनदुष	अनूत	काऊ	गऊ
ट	डि	चि	त्रि
छोर	चत्वार	फाइव	पंच
सेबल	सप्स	सिक्स	षड्
सेन्द	शत	इन्टरनस	आन्तरिक
ईरो	घरा	माइंड	मन
नाइट	नक्तम्		

### ग्रोस (यूनान)

यूनानी लोग भी किसी समय वैदिक जीवन पद्धति के अनुयायी थे। इसी कारण उनके तथा प्राचीन भारत के देवताओं, महाकाव्यों, नामों तथा रीति-रिवाजों में इतनी अधिक समानता है। 'थिओडोर' शब्द विशुद्ध संस्कृत मूल का है क्योंकि 'थिओस' 'देवम्' अथवा ईश्वर है और 'डोर' द्वार है—अर्थात् थिओडोर का अर्थ देव-द्वार अर्थात् मन्दिर का द्वार है।

अबम नक्षत्र के लिए वैदिक नाम श्रोणा (यूनानी में) 'सोरोना' हो जाता है क्योंकि 'स' ध्वनि के लिए यूनानी में 'सो' है। निम्नलिखित तालिका से तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है—

हिन्दू	यूनानी	हिन्दू	यूनानी
कार्मणोम	कैस्मोपोमा	सन्तर	सैन्टारस
प्योहादि	प्योआदिस	अर्कंतर	आर्कंतुरस

कुछ यूनानी नाम जो मूल भारतीय धारणाओं के शाब्दिक अनुवाद ही हैं। क्या उभयार्थ का अर्थ होता है बूटस है। 'ओफिउकस' जिसका अर्थ सर्प धारण करने वाला है, भारतीय शब्द 'कणिधर' का शाब्दिक अनुवाद है।

### फ्रांस

फ्रांस की भाषा फ्रेंच सन्धि अथवा व्यंजन ध्वनियों का परस्पर मिलना संस्कृत भाषा के अनुसार ही करती है। इसका 'लाटेबल' लाटबला के रूप में उच्चरित होता है। रोई, रेने का अर्थ राजा, रानी है। डुआ का अर्थ देव; नागा का अर्थ सर्प, और जानु का अर्थ घुटने है। ये सभी संस्कृत शब्द हैं।

### जर्मनी

संज्ञाओं के कारकों का रूपान्तर जर्मन भाषा में पूर्णरूप से संस्कृत का अनुयायी है। उनका शब्द 'नक्त', जो नौक्त के रूप में उच्चरित होता है, संस्कृत का 'नक्तम्' शब्द है जिसका अर्थ रात्रि है। अंग्रेजी शब्द 'नाइट' की बतनी भी इसीसे स्पष्ट होती है।

सूक्ष्मतर अध्ययन से यह प्रकट हो सकता है कि विश्व की और अधिक भाषाएँ अपना अस्तित्व संस्कृत भाषा के कारण ही बनाये हुए हैं। अभी तक यह बात बहुत ही कम रूप में स्वीकार की जाती है।

### उत्तरी ध्रुव क्षेत्र

हम महाभारत ग्रन्थ में इस बात का एक वर्णन पाते हैं कि हिन्दू किस प्रकार उत्तर-ध्रुवीय क्षेत्र की ओर गये, उसका पूर्ण अनुसंधान किया एवं उसको अपना उपनिवेश बनाया। यहाँ मैं एक लेख से कुछ विशद उद्धरण देना चाहता हूँ। इस लेख का शीर्षक था "उत्तरी-ध्रुव-ज्योति नारायण के प्रादुर्भाव के रूप में प्राचीन पुरुषों को ज्ञात थी।" श्री अनिकचन्द्र का यह लेख "नवीन भारतीय पुरातत्त्वान्वेषी" पत्रिका के ७वें भाग के अंक ३ व ४ में जून, जुलाई १९४४ में छपा था। लेखक का कहना है कि श्री एम० एन० रत्न द्वारा महाभारत के अंग्रेजी-अनुवाद में शान्तिपर्व में पृष्ठ ५३५-५३६, ५३८-५४०, ५४२, ५४८-५४९ और ५६६-६८ पर उत्तरी ध्रुव की ओर गये प्राचीन भारतीयों के दो अन्वेषक-दलों का वर्णन मिलता है। एक अन्वेषक-दल का नेतृत्व एकत, द्वित और तृत नामक अन्वेषकों ने किया था और दूसरे का नेतृत्व ऋषि नारद जी ने किया था। उनका उद्देश्य उत्तरी



ध्रुव-ज्योति का, जिसे वे सूर्य के अर्धद्योतक नारायण नाम से पुकारते हैं, अध्ययन करना था।

ऋषि नारद उत्तर दिशा के अन्तिम छोर पर गये। प्रथम तीन ऋषि कहते हैं कि उन्होंने दीर्घकालीन अन्वेषण किये। वे (अनेक अवसरों पर) एक पैर पर ही खड़े रहे, मानो लकड़ी के खम्भे गड़े हुए हों। वह देश मेरु पर्वत (अटलाई) के उत्तर में तथा दुग्ध सागर (श्वेत समुद्र) के किनारे बसा हुआ है। पुरातन और अटलाई (मेरु) पर्वतों के बीच की मरुभूमि प्राचीन इतिहास में बहुत लम्बे समय तक वैदिक संस्कृति की केन्द्रस्थली रही है, ऐसा कहा जाता है। श्वेत समुद्र का अर्धद्योतक 'क्षीर सागर' अभी भी विद्यमान है। एक द्वीप जिसको उन्होंने 'श्वेत द्वीप' कहकर पुकारा था—जिनका अर्ध हिमाच्छादित सफेद टापू था—अभी भी अपने प्राचीन नाम से पुकारा जाता है। अन्वेषक-दल उस स्थान पर उस समय पहुँचे जब पूर्वा का दक्षिणी ध्रुव सूर्य की ओर झुका हुआ था। अतः वे अपनी इच्छानुसार पर्यवेक्षण न कर सके। वे लोग हमारे पास उस क्षेत्र के निवासियों के वर्णन ऐसे लोगों के रूप में छोड़ गये हैं कि जिनका रूप हिम के समान श्वेत था और जिनके शरीर से सधुर सुगन्ध आती थी। जब सूर्य उस क्षेत्र में वापस चोटा, तब वे लोग उस सूर्य देव को एक दीर्घ तथा कठिन समय तक खजने के पश्चात् ही देख सके, इसने उनको इस योग्य भी बना दिया कि वे लोग उस स्थान के निवासियों को और अधिक अच्छी तरह से जान-पहचान सके।

प्राचीन हिन्दू धर्म-ग्रन्थों में पाए जाने वाले वर्णन जल-व्याघ्रों, अमरीका के प्रकीर्ण प्रदेशों के बैलों, समुद्री घोड़ों तथा कदाचित् श्वेत भालुओं की ओर वर्णन निर्देश करते हैं। वे ग्रन्थ उस स्थान के प्राणी समूह का वर्णन करने के लिए जिन विशेषणों का उपयोग करते हैं, वे हैं: "सर्वोत्तम सुगन्ध निकल रही है, अपक्व मंड है, कोई बाह्य अवयव नहीं है, आगे वाले दोनों पैर हमेशा झुकते रहते हैं, मानो प्रार्थना में लगे हों, गोल किरीटधारी शिर है, ६० दाँत हैं, उनमें ८ अत्यन्त छोटे हैं, पंजे चर्म के साथ जुड़े हुए हैं, चर्म पर अनेक रेखाएँ हैं।" अन्वेषकों की शिकायत है कि उन प्राणियों में

से किसी ने उन अन्वेषकों के स्वागत में सिर तक नहीं हिलाया। यह सिद्ध करता है कि जिन निवासियों की ओर वे लोग इंगित कर रहे थे वे पशु थे। ऋषि नारद ने अन्वेषण-अभियान पर जाते समय नर और नारायण नामक दो अन्य ऋषियों को बताया है, कि "वेदों का सामोपांग अध्ययन कर लेने के कारण मैं तो अभियान के लिए पूर्ण रूप में सिद्ध हो चुका हूँ।" कहा जाता है कि अकस्मात् नारद जी श्वेतद्वीप की उड़ान के लिए आकाश में उड़ गये, जो स्पष्ट रूप में प्रदर्शित करता है कि उनको उन दिनों भी वायु-यात्रा भली-भाँति ज्ञात थी।

श्वेतद्वीप और मेरु पर्वत के मध्य का अन्तर प्राचीन धर्मग्रन्थों में ३२०० योजन कहा जाता है। एक योजन आठ मील का विश्वास किया जाता है। किन्तु चूँकि प्राचीन यूनानी और भारतीय मापों में बहुत अधिक समानता है, इसलिए प्रतीत होता है कि एक स्टेडिआ का भारतीय समानक ही एक योजन है। तदनुसार अटलाई पर्वतों अक्षांश ४८ उ० व नोवाइया जेमिला या केप चेलुस्किन अक्षांश ७५ उ० के मध्य का अन्तर ठीक ३५,००० स्टेडिया है।

अन्वेषक गण उस परम आश्चर्यकारी नयनाभिराम दृश्य का वर्णन करते हैं जो उनको उत्तर-पश्चिम की दिशा की ओर अपनी आँखें फेरने पर दिखायी दिया। सूर्य का मुख चारों दिशाओं की ओर होने के कारण (चूँकि उत्तरी ध्रुव पर ऐसा प्रतीत होता है कि सूर्य क्षितिज के साथ-साथ एक वृत्त में घूम रहा है) ऐसा प्रतीत होता था मानो अनेक जिह्वाओं से चाटा जा रहा हो। वे कहते हैं कि वहाँ सूर्य सोम (चन्द्र) को गरम नहीं करता अर्थात् चन्द्र उस समय उदित नहीं हुआ था जब नारद ने सूर्य को देखा था।

उत्तरी ध्रुव-ज्योति के सम्बन्ध में ऋषि नारद का कहना है कि नारायण के दर्शनों के इच्छुक होने के कारण वे वहीं रुके रहे। दिव्य नारायण ने (एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक समस्त क्षितिज को व्याप्त कर) समस्त ब्रह्माण्ड को अपने आकार का बना दिया था। उसका आकार चन्द्र के आकार से कुछ अधिक ही शुद्ध-विशुद्ध था। वह प्रज्वलित अग्नि के समान लग रहा था। वह तोते के पंखों के समान लगा और कुछ अंशों तक विशुद्ध स्फटिकों के समूह के समान प्रतीत हुआ। कुछ विघाओं में वह काजल के



हैर जैसा और कुछ है विबुध स्वर्ण की मात्रा-समान दोलता था। उदय होने पर उसका रूपाकार प्रथम जैसा मालूम हुआ, और कुछ-कुछ श्वेत भी था। उस रूपाकार में स्वर्ण का, नीलम का और इन्द्रनील का रंग था। इन विभिन्न आभाओं को धारण किए हुए—मयूर की घीवा और मणियों की लड़ी की छटा लिये हुए—अनादि अनन्त देव की मूर्ति ऋषि नारद के सम्मुख साक्षात् प्रकट हुई।

उस देव ने 'ओ३म्' उच्चारण किया और 'गायत्री' का गान किया। यह अनेक केवल मनगड़बड़ नहीं है, क्योंकि यह कहा जाता है कि उत्तरी ध्रुवक्षेत्रों के प्रकरण के समय, सिल्क की मर्मर ध्वनि के समान एक मधुर-ध्वनि ने वह क्षेत्र अभी भी व्याप्त रहता है। सागर की मर्मर ध्वनि, वायु की सीटी-सी बजाती ध्वनि अथवा रेलगाड़ी की संगीतमय गति-ध्वनि जैसी आर्कटिक ध्वनियों को संगीत में आवद्ध कर देना कोई असाधारण बात नहीं है।

दोनों ही अन्वेषक-दल अपने सम्मुख उपस्थित कठिनाइयों के समान-से विवरण ही प्रस्तुत करते हैं। वे उल्लेख करते हैं कि यद्यपि हम चिन्ताओं से बाधुन वे तथा धीम-दुर्बल हो चुके थे, फिर भी दिल को पत्थर करके हमें निरन्तर उत्तर की ओर आगे-ही-आगे जाना पड़ा था। एक शिखर की ओर जाते हुए, उन्होंने सोड़ा-सा विभ्राम किया। फिर नारद अपने सुरक्षित लोट जाने का उल्लेख करते हैं। यह ध्यान रखना चाहिये कि इन प्रारम्भिक वैश्व अन्वेषकों द्वारा दिए गये नामों का अभी भी वही अर्थ चला आ रहा है। इस प्रकार मेरु का अर्थ स्वर्ण का पर्वत है। यूराल-अलटाय की भाषा में भी अलटाय का वही अर्थ है। सुमेरियन लोग वास्तव में वे व्यक्ति हैं जो सुमेर क्षेत्र से देशान्तरगमन कर गये थे। इसलिए यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि उत्तरी-ध्रुव प्रदेश की बोलचाल की भाषा संस्कृत थी।

यह निष्कर्ष इस तथ्य से और भी सशक्त सम्पुष्ट होता है कि यूरोप के कैटोवियन क्षेत्र में बोली जाने वाली भाषा में पाणिनि के संस्कृत-ध्याकरण नियम ही लागू होते हैं। कैटोविया के लोग परम्परागत रूप में विश्वास करते हैं कि उनके पूर्वज भारत से ही आए थे। जैसा कि ऋग्वेद में है, उनकी राजधानी आन है।

यही वैदिक सम्बन्धता स्कैंडिनेविया में भी फैली थी। यही बात जिरोधार्य कर 'अमेरिकन सोसायटी फार स्कैंडिनेवियन एण्ड ईस्टर्न स्टडीज' के प्रेसिडेंट डाक्टर एम. जे. फ्लैगमायर ने अपने ६ दिसम्बर, १९६५ के पत्र में लेखक को लिखा था : "हम भारत और स्कैंडिनेविया के पारस्परिक सम्बन्धों के प्रति सजग हैं। पूर्व और स्कैंडिनेविया के सम्बन्ध में समस्त सामग्री के सुप्रसिद्ध विद्वान् स्वर्गीय डाक्टर केशवदेव शास्त्री की एक रचना हमारे महत्वपूर्ण उपलब्ध ग्रन्थों में से है। इस अन्वेषण-प्रबन्ध में डॉक्टर शास्त्री का निष्कर्ष है कि स्कैंडिनेविया और हिन्दू पुराण-विद्या, रीति-रिवाज तथा नियमों में समानता इस बात का पूर्ण पुष्ट प्रमाण है कि हिन्दू ही स्कैंडिनेविया के वास्तविक संस्थापक थे। उदाहरण के लिए उन्होंने ३६वें पृष्ठ पर लिखा है कि स्वयं स्कैंडिनेविया शब्द ही संस्कृत का 'स्कन्ध-नाभि' है जिसका अर्थ योद्धाओं का घर है।"

समाचार-पत्रों में अनेक बार ऐसे समाचार छपे हैं जिनसे ज्ञात होता है कि उत्तरी ध्रुवीय सागर की जमी हुई बर्फ की गहराइयों से हिन्दू-प्रतिमाओं युक्त पाली के जहाजों को निकाला गया है। सुप्रसिद्ध भारतीय विद्वान् राष्ट्रभक्त लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने भी अपनी प्रसिद्ध शोध-पुस्तिका 'वेदों में उत्तरी-ध्रुवीय घर' (आर्कटिक होम इन दि वेदाज) में कुछ प्रमाण खोजे हैं।

## रूस

सोवियत रूस नाम स्वेत रूस से व्युत्पन्न है। कैस्पियन सागर का मूल नाम ऋषि कश्यप के नाम पर है। ये ऋषि वैदिक अन्वेषक थे जिन्होंने इस क्षेत्र को अपना उपनिवेश बनाया था। उनके वंशज दैत्य और काश्यप कहलाते थे। यूनानी इतिहासकारों द्वारा उल्लेखित हिरकेनिया की प्राचीन राजधानी कैस्पियन क्षेत्र में बसी हुई थी। हिरकेनिया पर शासन करने वाले एक काश्यप का नाम भारतीय पुराणों में 'हिरण्य कश्यप' के रूप में आया है। हम पहले ही प्रेक्षण कर चुके हैं कि उसने अपने पुत्र प्रह्लाद को भारतीय उप-महाद्वीप के पश्चिमी सीमान्त क्षेत्रों में स्थित पर्वत-पार्श्व से नीचे गिराकर मार डालने की आज्ञा दी थी। इससे हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि हिरकेनिया साम्राज्य कैस्पियन सागर से लेकर, कम-से-कम, भारतीय उप-महाद्वीप की उत्तर-पश्चिमी सीमा तक तो विस्तृत था ही।



सन् १७६२ में जापान में नियुक्त एक रूसी वाणिज्य-आयुक्त का नाम बक्षर्य था, जो रामायण से लिया गया सामान्य हिन्दू नाम है। धूर्वा और भाग के अर्धशोक 'धूम' और 'अग्नि' रूसी भाषा में अपने मूल संस्कृत-रूपों को बनाए हुए हैं क्योंकि समस्त भरतखण्ड अर्थात् एशिया-यूरोप महाद्वीप में वैदिक अग्निपूजा प्रचलित थी। उन हजारों अग्निपूजक-व-सांस्कृतिक केन्द्रों में से एक कोइ बाकु में अभी भी है। इन अग्निमन्दिरों की एक शृंखला भारत के राजा राज्यान्तमंत ज्वालामुखी मन्दिर, बाकु के अग्निमन्दिर, अगस्त से लेकर नवम्बर तक के अग्निमन्दिरों में लक्षित की जा सकती है। मक्का तो संस्कृत का 'मका' है जिसका अर्थ यज्ञाग्नि है। उस पावन अग्नि-वेदी के चारों ओर मान परिक्रमाणें करने की पद्धति कावा देवालय में अभी भी निरन्तर व्यवहार की वस्तु है। कावा देवालय अग्नि-पूजा एवं ३६० हिन्दू प्रतिमाओं का पुजा-कक्ष रहा है।

बाकु के अग्निमन्दिर में अति सूक्ष्म अभिलेख हैं। मन्दिर की देखभाल के लिए स्थानीय भारतीय व्यापारी चन्दा जमा करते हैं। कई बार एक बीत-राम हिन्दू बाधु मन्दिर में भस्मी के ढेर में निवास करता है। भारत में मुस्लिम शासन के अन्तिम दिनों में पंजाब के कुछ धर्म-प्रेमियों ने भी इस अग्निमन्दिर की दीवारों पर गुरुमुखी में अभिलेख उत्कीर्ण कर दिये हैं। यद्यपि मन्दिर का वर्तमान ढाँचा तुलनात्मक रूप में आधुनिक समय का ही सकता है, तथापि वह स्थल स्मरणातीत गुणों प्राचीन होने के कारण अत्यन्त महत्वपूर्ण साक्ष्य प्रस्तुत कर सकता है, यदि उसकी भली-भाँति छान-बीन की जाय। रूसी भाषा में स्त्रीवाचक नाम 'स्वेतालना' भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसका संस्कृत कर्मलोक 'स्वेतालना' है जिसका अर्थ शुभ्रमुख है। समरकन्द का अर्थ समर खण्ड है। उस नगर में आज जिसे तैमूरलंग की समाधि कहते हैं, उसमें एक स्थापत्यकला का निक्षेपण है जिसमें उदित होते हुए सूर्य के ऊपर छत्रांग साक्षात् हुआ एक पौर दिखाया गया है। यह सूर-सादृश कह-जाता है। यह दर्शाता करता है कि आज जिसे मुस्लिम समाधि समझा जाता है वह वास्तव ही संस्कृत-भाषी भारतीयों का प्राचीन राजमहल रहा होगा, क्योंकि सूर संस्कृत में सूर्य—सूरज और सादृश—सादृश अर्थात् सिंह है।

मंगोलियन मध्य का एक भाग साइबेरिया, जो स्थानीय लोगों द्वारा 'शार्जर' उपासक किया जाता है, विगुद्ध-संस्कृत शब्द है जो एक निवेश

का द्योतक है। यह नाम उन अस्थायी आवासों से व्युत्पन्न है जो भारतीय प्रचारकों ने वैदिक संस्कृति के प्रचार के लिए उस अनुदार क्षेत्र में लगाए थे।



(मंगोलियन पाण्डुलिपि से उद्धृत 'कालचक्र' नामक एक तान्त्रिक देवता का चित्र।)



(अठारहवीं शताब्दी की मंगोलियन पाण्डुलिपि से उद्धृत 'वज्रसत्त्व' नामक एक तान्त्रिक देवता का चित्र।)





(सिकियांग प्रान्त के खाम-क्षेत्र में उपलब्ध पाण्डुलिपि से उद्धृत महान् भारतीय दार्शनिक नागार्जुन का चित्र। यह पर्यटनशील दार्शनिक भारत के उन सहस्रों व्यक्तियों में से एक था, जो प्राचीन युगों में चीन और जापान जैसे सुदूरस्थित देशों में भारतीय-संस्कृति के प्रचार-प्रसार हेतु गए थे।)

मंगोलिया में सप्ताह के दिन संस्कृत धातुओं को अभी भी धारण किए हुए हैं, यथा कादित्य (आदित्य-सूर्य), सोमिय, अंगरख, बुधिय, शुकर और शनिचर।

आज भी सम्पूर्ण मंगोलिया में प्रचलित परम्परागत औषधीय-पद्धति भारतीय आयुर्वेद की ही है।

व्योक्ति की भारतीय प्रणाली ही मंगोलिया में अभ्यास में आती है। व्योक्ति, औषधि, छन्द-शास्त्र तथा व्याकरण पर प्राचीन भारतीय समालोचनात्मक दृष्टि, जो भारत में अत्यन्त दुर्लभ है, मंगोलिया में अभी भी संग्रहीत



(यह खाम-क्षेत्र में कोष्ठोत्कीर्ण भारतीय दार्शनिक आर्यदेव का चित्र है। इस चित्र में उनकी मुद्रा वाद-विवाद के समय किसी अतिसूक्ष्म तत्त्व पर अपना मत व्यक्त करने की है।)

हैं तथा सिखाए जाते हैं। मंगोलियन लोग भी भारतीयों की भाँति ही गंगा-जल को संग्रह करने तथा पूजन के लिए प्रयोग में लाने की सदैव उत्कण्ठ अभिलाषा रखते हैं।

भारतीय सम्पत्ति-पक्षी ही मंगोलियन राजधानी यूलान बाटोर का संरक्षक देवता है।

मंगोलियन लोग राजा भोज तथा भगवान् कृष्ण से सम्बन्धित ज्ञान तथा हितोपदेश का अध्ययन करते हैं। भारतीयों की ही भाँति वे भी अपना इतिहास मनु से ही प्रारम्भ करते हैं।



## मैक्सिको

श्री कमलानन्द इन्हें 'हिन्दु अमरीका' पुस्तक में मय सभ्यता तथा भारतीय सभ्यता की पारस्परिक निकटस्थ समानताएँ वर्णित हैं। स्वयं 'मय' सभ्यता ही भारतीय है। मैक्सिको में श्री गणेश जी तथा सूर्यदेव की प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं। मैक्सिको वासियों के पारम्परिक गीतों में अपनी नव-विवाहिता का नाम 'मय' के घर-पक्ष के घर भेजते समय माँ द्वारा प्रकट किए गये उद्गार भारतीय विचारों के अत्यधिक समरूप हैं। मुष्ठाकृति की दृष्टि से प्राचीन मैक्सिको के लोग उसी जाति के प्रतीत होते हैं जिस जाति के भारत के उत्तर-पूर्वी क्षेत्र के निवासी हैं। प्राचीन भारतीय शब्दावली में, अमरीकी महाद्वीपों वाला पश्चिमी गोलार्ध पातान कहलाता था। यह हो सकता है कि बाली को पातान क्षेत्र की ओर खदेड़ने का सन्दर्भ ऐतिहासिक रूप में उसकी पराजय तथा बाली द्वीप पर बने द्वीपस्थ दुर्ग से हटकर सुदूर मैक्सिको में जा बसने का संकेत हो।

भारत के पश्चिम में स्थित देशों का इस प्रकार सर्वेक्षण करने और उन पर भारतीय संस्कृति तथा राजनीतिक प्रभावों की छानबीन कर लेने के पश्चात् अब हम पूर्व की ओर ध्यान देंगे।

## बर्मा

बर्मा ब्रह्मदेव अथवा भगवान् ब्रह्मा के क्षेत्र का संक्षिप्त रूप है। यह (ब्रह्मा की पुत्री) ब्रह्मपुत्रा के तट पर बसा हुआ है। इसकी नदियाँ इरावदी तथा चिन्दविन संस्कृत नाम हैं। संस्कृत में इरावदी का अर्थ जल से आपूरित है, तथा चिन्दविन का नाम चिन्तवन अर्थात् चिन्तन के लिए उपयोग में आने वाले वन में से प्रवाहित होने वाली जलधारा से व्युत्पन्न है। सालवीन उस नदी का संस्कृत नाम है जो सालवान-वन में बहती है। भारतीय वाङ्मय में उल्लेखित देवराज इन्द्र का बाहन पावन स्वस्थ शरीर गंजराज ऐरावत नाम की इरावती द्वारा सिंचित प्रदेश के नाम पर पड़ा है। अन्य क्षेत्रों में चिन्तुल चिन्त, स्वल्प-शरीर हाथी केवल इरावती के चहुँ ओर के प्रदेश में ही पाए जाते हैं। बर्मी भाषा में संस्कृत का 'त' 'द' से बदल जाता है। राजवाड्या के लिए बर्मी लोग 'अधि-पति' शब्द का प्रयोग करते हैं जो

मूल रूप में संस्कृत का 'अधिपति' शब्द है। उनके राजाओं के संस्कृत नाम थे, और उनके परम्परागत राजपारोहण समारोह प्राचीन वैदिक-यज्ञति के अनुसार ही होते थे। निस्संकोच भाव से सभी लोगों पर रंग-बिरंगा जल फेंकने वाला भारतीय पर्व 'होली' बर्मा में अभी भी पूरे जोर-शोर से भारत की ही भाँति मनाया जाता है।

उत्तर-पूर्वी बर्मा के शान-प्रदेश नामक पहाड़ी क्षेत्र के भाग में ग्रामीण लोगों का अपने सिर पर लम्बी पगड़ियाँ बाँधने का भारतीय रिवाज अभी ज्यों-का-त्यों प्रचलित है। प्रत्येक ग्राम में वहाँ के संरक्षक देवता का एक मन्दिर है जिसके उच्च शिखर पर ध्वजा फहराती रहती है। ग्राम के बृद्ध लोग वहाँ के सम्प्रान्त निवासियों को साथ लेकर सम्माननीय अतिथियों का गाँव की सीमा पर ही स्वागत करते हैं। गाँव का पंचायतघर ही अतिथिघर के रूप में उपयोग में आता है, सम्प्रदाय के नेता के घर की महिलाएँ अपने घरों से सुसज्जित काष्ठ-पात्रों में लाया हुआ भोजन स्वयं ही अतिथि को परोसती हैं। यह सब-कुछ उस सुदूर क्षेत्र में फैली प्राचीन भारतीय संस्कृति का स्मरण दिलाने वाला है। भारतीय मान्यता "अतिथि देवो भव" की भावना के अनुरूप ही प्रत्येक गृह-स्वामी का कर्तव्य अतिथि को देवता रूप ही मानना होता है। भ्रमणशील अपरिचित व्यक्ति भी यदि किसी घर पर जा पहुँचते हैं, तो उनका स्वागत भी ताड़-गुड़ एवं उबली हुई चाय के साथ किया जाता है। प्रत्येक घर में एक पूजा-स्थल भी होता है, जहाँ किसी देवता की प्रतिमा होती है।

## स्याम

स्याम देश के जीवन पर वैदिक संस्कृति का प्रभाव अत्यधिक मात्रा में स्पष्ट दिखायी पड़ता है। उनके सभी व्यक्तिवाचक तथा भौगोलिक नाम विजुड संस्कृत भाषा से उद्भूत हैं। वहाँ पर अयोध्या, चोलपुरी, राजपुरी, पंतहपुरी नाम से पुकारे जाने वाली नगरियाँ हैं। स्याम की राजधानी बैकाक का विश्वविद्यालय 'बूडालंकरण' नाम से जाना जाता है। स्याम के मन्दिरों के नाम भी संस्कृत नामों पर हैं; यथा बट-देव, श्री इन्द्र और बट-अरुण। संस्कृत भाषा में बट-बृक्ष बरगद का पेड़ है। पुरातन काल से पवित्र



बट-बूझों की धार्मिक-स्थानों, देवालयों के निकट प्रायः अवश्य ही लगाया करने से—छाया व विश्राम-स्थल प्रदान करने के उद्देश्य से तथा औषधीय गुण के कारण भी। फोटोग्राफों तथा भोजनालयों के लिए भी उनके व्यापारिक संस्थाओं के नाम 'छाया चिट्ठकन' तथा 'शुद्ध भोजन', 'विश्रामालय' जैसे संस्कृत नाम हैं। राजवंश (जिसका उच्चारण राछवंश कहते हैं) और बल-कपि के अर्थात् बल-कपि जैसे संस्कृत नाम उनके भागों तथा स्थानों के हैं। भारतीय पुराणों के पुष्प-पात्र सम्पाति ही स्वाम के राष्ट्रीय चिह्न हैं। इनका नाम भी वही 'गुरु' है यद्यपि उच्चारण 'गुरु' किया जाता है। स्वामी भाषा का विद्वान् होने के लिए संस्कृत भाषा में पारंगत होना अनिवार्य है। स्वाम में अनेक राजा-नग हुए जिनके 'राम' नाम थे। राजा का राज्यारोहण-स्मारोह प्राचीन वैदिक पद्धति पर ही सम्पन्न होता है। स्वाम में हुई खुदाईयाँ हिन्दू-प्रतिमाएँ और अभिलेख प्रस्तुत करती हैं। बंकाक के मध्य में सरकत-मणि युक्त बुद्ध के राजवंशी मन्दिर की चार-दीवारी के कोनरी और रामायण से अनेक चित्र उपयुक्त शीर्षकों सहित संगमरमर पर चित्रित हैं। स्वामी नृत्य, संगीत तथा वेष्ट-भूषा सभी भारतीय-मूल की हैं।

भारतियों की ही भाँति स्वाम का एक उत्सव है जिसमें बहुती जलधारा से प्रक्षालित दीप प्रकाहित किये जाते हैं। 'मा स्नाकोंग' नामक उत्सव का नाम भी माँ गंगा वर्षातु माता गंगा के नाम से व्युत्पन्न है।

### मलाया और सिंगापुर

दक्षिण भारत में मैक्सिको अर्थात् पाताल-लोक तथा प्रशान्त-द्वीपों की पुनर्जन-कार्मणि भारतीय जलमार्गों पर सिंगापुर एक महत्त्वपूर्ण बन्दरगाह थी। इसका संस्कृत नाम 'सिंह-पुर' का स्रोतक है। १५वीं शताब्दी के अन्त में सिंगापुर में उतरने वाले अंग्रेज-अन्वेषक ने अपने संस्मरणों में लिखा है कि वेने वरमेण्डर नामक राजा की कन्याया हुआ एक दुर्ग दक्षिण समुद्र पार के निकट अथ स्ट्रेमकोसे द्वारा बँगी गयी भूमि पर देखा था।

सिंगापुर के उत्तर में सर्कीण सुरग के पार मलाया-यवन्त-श्रेणियाँ हैं। मलाया मागान्ध सरकत नाम है। मलाया के सभी नगर संस्कृत नामों से

विभूषित हैं। इस प्रकार हमें सीरामवन मिलता है जो संस्कृत का शुद्ध श्रीराम वन है। सुंगई-पट्टनि शृंग-पट्टन है।

मलाया के देशी राज्यों के शासक तथा राजवंशी-परिवार के सदस्य संस्कृत उपाधियों से श्री विभूषित हैं, यद्यपि पिछली अनेक शताब्दियों में वे इस्लाम को अपना धर्म घोषित करते रहे हैं। राजकन्याएँ पुत्री, महादेवी, विद्याधरी कहलाती हैं। शासकमण राम और लक्ष्मण की उपाधियाँ धारण करते हैं। उनके राजमहल अस्थान कहलाते हैं, जो स्वयं संस्कृत शब्द हैं। दो पीढ़ियों पूर्व 'जोहोर-बाहुरु' नामक स्थान का शासक महाराजा के नाम से पुकारा जाता था। उक्त पद उनके पटल-वस्त्रों पर अभी भी कड़ा हुआ अथवा मोहर लगाया मिलता है।

मलाया की खुदाई में हिन्दू-प्रतिमाओं और मन्दिरों के अतिरिक्त और कुछ नहीं मिलता। अभी कुछ वर्ष पूर्व ही सुंगई-पट्टनि में हुई खुदाई में एक जिव-मन्दिर मिला था।

'इपोह' नाम से पुकारे जाने वाले नगर से कुछ मील पर गरम पानी का झरना है। प्राचीन संस्कृत पुण्डरीक स्तोत्र वहाँ प्राप्त हुआ था। उस स्थल पर लगे हुए स्तम्भ में संगमरमर के जड़े हुए फलक में उसी प्राचीन-ग्रन्थ के कुछ अवतरण खुदे हुए हैं।

ब्रह्मचारी कैलासम उपनाम स्वामी सत्यानन्द नाम के एक भारतीय संन्यासी मलाया में बस गये थे। वे वहाँ तथा सिंगापुर में अनेक सामाजिक संस्थाओं का संचालन करते रहे। उन्होंने 'मलाया के इतिहास की झलकें' नामक एक पुस्तक लिखी तथा प्रकाशित की है। उन्होंने उस पुस्तक में, सविस्तार, भारतीय इतिहास तथा पुरातत्त्व की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण उन स्थानों का वर्णन किया है जो पूर्व एशियायी क्षेत्र में मलाया से कोरिया तक मिले हैं।

### इण्डोनेशिया

इण्डोनेशिया की सम्पूर्ण संस्कृति हिन्दू, वैदिक संस्कृति है, यद्यपि पिछली अनेक शताब्दियों से इण्डोनेशिया वाले इस्लाम में आस्था रखने लगे हैं। इसके तीन प्रमुख द्वीप : जावा, सुमात्रा तथा बाली सभी संस्कृत नाम हैं। इण्डो-



मेजिशा के सभी प्राचीन देवस्थान भारतीय देवताओं की स्मृति में ही हैं। उनको प्राचीन तथा शारों आदि में भारतीय महाकाव्य से लेकर ही दुबय चित्रित किये गये हैं। इन्होंने जिशावी नृत्य तथा संगीत भारतीय मूल के हैं। इनके सभी प्राचीन नगर, ग्राम तथा उपनगर संस्कृत नामों की धारण किये हुए हैं। इन्होंने जिशा में व्यक्तिवाचक नाम अधिकांशतः संस्कृत में ही हैं। जावा (जव) जब का ही अपभ्रंश है। जाली-दीप के निवासी प्राचीन वैदिक धर्म को ही मानते हैं। वे सभी भी समाज की ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा अन्य वैदिक-व्यवस्थाओं का पालन करते हैं।

### इण्डो-चाइना (हिन्द-चीन)

उत्तरी और दक्षिणी विषयनाम, कम्बोडिया तथा लाओस को मिलाकर उनसे जाली हिन्द-चीन पर्वतमाला कभी कबितकाली भारतीय साम्राज्य का गढ़ था। गंगाव कन्दरगाह एक प्राचीन भारतीय संस्कृत नाम है। गाँव उप-नगर का द्योतक है तथा अनेकानेक उपनगरों के लिए, भारत में उपसर्ग के रूप में व्यवहार में आता है।

माता गंगा अर्थात् माँ गंगा से ही मेकांग नदी का नाम पड़ा है। भगवान् राम के पुत्र लव का स्मारक लाओस देश स्थानीय लोगों द्वारा लव नाम से भी पुकारा जाता है। शासनकर्ता फार्सी लोगों ने उस नाम की बर्तनी 'लाओस' इन प्रकार कर ली कि उनको लव बोल सकने में सुविधा होने लगी। लव-देश की राजधानी वेन-चोन है। यह बर्तनी भी भ्रामक है। भारतीय लोग अपनी राजधानी का नामोन्वारण 'वन-चन' के रूप में करते हैं जो लव संस्कृत लव वन-चन्दन का अर्थ मोलवारण है। इसका अर्थ चन्दन के पत्तों वाला जतन है।

वैदिक प्राचीन भारतीय लोग चन्दन की लकड़ियों को धार्मिक-कृत्यों में अतिरिक्त उपयोग में आने के, उनका महत्त्व समझते थे, इसलिए स्पष्टतः उन्होंने लव-देश में चन्दनोत्पादन की प्रोत्साहन दिया और उस देश के प्रमुख-राज्य, जहाँ की राजधानी को वन-चन्दन के नाम से पुकारा। लव-देश के निवासी अभी भी अपने धार्मिक-कृत्यों में चन्दन की लकड़ियों का इस्तेमाल करते हैं।

समीपस्थ कम्बोज में 'अंगकोर वाट' नाम से पुकारी जाने वाली एक प्राचीन भारतीय राजधानी को इसके पुरातत्त्वीय-गौरव के साथ अभी भी देखा जा सकता है। चारों ओर का क्षेत्र अभी भी 'अरण्य प्रदेश' कहलाता है। यहाँ भी 'वाट' का अर्थ बरगद-वृक्ष है। अंगकोर इसके अंकुर का द्योतक है। सम्भव है कि विचारार्थीन राजधानी के लिए भू-खण्ड का निर्माण करने के लिए बरगद के वृक्ष का एक पीछा लगा दिया हो। किसी समय समृद्ध इस राजधानी के खण्डहर १०० किलोमीटर के क्षेत्र में बिखरे पड़े हैं। उनके बीच में एक परिधीय-प्राचीर है जो हिन्दुओं के देवालय की विमूर्ति—ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश की विशाल प्रतिमाओं से सुशोभित है। एक विशाल प्रस्तर पर शिल्प कला का अद्भुत उदाहरण भी द्रष्टव्य है, जिसमें देवताओं और राक्षसों द्वारा वासुकि नाग को रस्सी तथा मन्दराचल पर्वत को मथानी बनाकर समुद्र-मन्थन का पौराणिक आख्यान चित्रित किया गया है। रस्साकशी की भाँति, दोनों ओर एक के पीछे एक विशालकाय देवों और असुरों की विराट् मूर्तियों को देखकर दाँतों-तले अँगुली दबाकर रह जाना पड़ता है।

उन भव्य खण्डहरों में खड़े होने वाले प्रत्येक व्यक्ति को चारों ओर खुले प्रांगण, मन्दिरों के कलश, राजप्रासादों के शृंग, सौन्दर्यपूर्ण उत्कीर्ण गवाक्ष, विशाल देवालय तथा भव्य ऐश्वर्यशाली राजमहल दिखायी पड़ेंगे।

इन्हीं खण्डहरों में हिन्दू-देवताओं की अनेक प्रतिमाएँ तथा ऐसे अभिलेख मिले हैं जिनमें उस क्षेत्र तथा वहाँ की जनता पर शासन करने वाले भारतीय राजाओं का नामोल्लेख है।

उन राजाओं में से कुछ के नाम जयवर्मा और सूर्यवर्मा थे। स्वयं कम्बोज नाम ही संस्कृत भाषा का है। शासक-परिवार का पूर्वज खम्बु होने के कारण उसकी सन्तान खम्बुज कहलाती थी। कम्बोज नाम का मूल यही था। इसकी राजधानी 'नोम पेह' के अद्भुतागार में हिन्दू-प्रतिमाओं और अभिलेखों के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं।

राज्यारोहण के समय हिन्दु-कृत्यों तथा परम्परा का पालन ही इण्डो-चाइना में अभी भी होता है। उनका पारस्परिक सांस्कृतिक मनोरंजन भारतीय महाकाव्यों की कथाओं पर आधारित नृत्य तथा संगीत में सम्पन्न होता है। वे भारतीय शैली में कर-बद्ध होकर अभिवादन करते हैं।



मनाया से कोरिया तक फैले विशाल क्षेत्र में भारतीय स्थापत्यकला तथा इतिहास की दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थानों के चित्र तथा पूर्ण विवरण बहुरंगी कैंसासम की पुस्तक में दिये हुए हैं।

### जापान

काहुरी विश्व जिसे जापान नाम से जानता है, उसी को उसके देशवासी 'निपत' नाम से पुकारते हैं। ईरान की भाँति २६०० वर्ष पुराना जापानी राजवंशी-परिवार भी अपने-आपको, भारतीय क्षत्रियों की ही भाँति, सूर्य-वंशी मानता है।

राष्ट्रीय आस्था के रूप में बुद्ध-धर्म की अंगीकार करने के पूर्व जापान जीवन की वैदिक-पद्धति अर्थात् 'शिन्टो' का अनुयायी था। बौद्ध-धर्म से भी अधिक प्राचीन यह संस्कृति जापानी-जीवन में अभी भी साथ-साथ फल-फूल रही है। शिन्टो मिन्धु का अपभ्रंश रूप है। मिन्धु नदी के तट पर निवास करने वाले लोगों की संस्कृति का ही चोटक यह 'शिन्टो' शब्द है। यही कारण है कि जापानी शिन्टो देवालयों में देवी लक्ष्मी, अर्धनारी नटेश्वर अर्थात् भगवान् महादेव और इसी प्रकार के अनेक हिन्दु-भारतीय देव सम्मान का स्थान पाये हुए हैं।

# इं

मन्त्रायण ८वीं-९वीं शताब्दी में जापान पहुँचे। तब से, जापान में भारत की सिद्धम-लिपि में मन्त्र लिखे गये हैं। सुप्रसिद्ध कोबोदैशी (७७४-८३५ ईसवी) की भाँति जापान की संस्कृति के विकास ने उनकी मुलेखनकला में पूर्णता के लिए 'वज्र' और मन्त्रों की समृद्ध-सम्पत्ति उत्तराधिकारमें सौंपी है।

पृष्ठ ३२८ पर जापानी निपुण-लेखक द्वारा लिखित सर्वोच्च मन्त्र ॐ का चित्र है।



तिब्बत में, इन्द्र को उसके विशेष शंख सहित दर्शाया जाता है। उपर्युक्त उदाहरण ल्हासा के काष्टोत्कीणित चित्रों में से है। ऐसे सैकड़ों भारतीय देवगण हैं जो प्रत्येक तिब्बती मन्दिर में चित्रित हैं।

आचार्य डॉक्टर रघुवीर द्वारा अन्वेषित चीन देश के लो-यांग जिले के



म्यान-बु धाम में १९०४ ई० में निमित्त एक अष्टकोणीय स्तम्भ पर संस्कृत-लिपि में संस्कृत-पाठ ऊपर से नीचे तथा दाएँ से बाएँ लिखा हुआ है।

अन्तिम पंक्तियों में मिला है : महामुदे स्वाहा !

जापान में मत्सु की, केवल संगोटी धारण कर, कुशती करने की शैली भारतीय-मूल की है। यही बात आत्म-रक्षा की कला 'जुजुत्सु' की है। यह एक संस्कृत शब्द है जो भगवद्-गीता के प्रथम श्लोक में आता है। संस्कृत में, शब्द है 'युजुत्सु'। यह युद्ध करने के इच्छुकों का श्रोतक है। संस्कृत भाषा का 'ज' प्राकृत में बहुधा 'ज' में बदल जाता है; यथा यशवन्त को जसवन्त कहते हैं और पृवान अर्थात् युवक को जवान। अंग्रेजी शब्द 'जुवनाइल' भी संस्कृत के युवान शब्द से व्युत्पन्न है।

सिन्धु-परम्परा में पितृ-पूजा इस बात का एक अन्य संकेत है कि यह परम्परा सिन्धु-संस्कृति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, क्योंकि पितरों को द्रौणिक अनुष्ठानों द्वारा स्मरण करना हिन्दुओं की मूलभूत पद्धतियों में से एक है।

जापानियों में शब्दाह-प्रणाली इस बात का स्पष्ट संकेतक है कि वे हिन्दु-आस्था के अनुयायी हैं। जापानी-भाषा में अनेक संस्कृत शब्द हैं। किसी व्यक्ति का नाम-सम्बन्ध करते समय वे संस्कृत 'नाम' शब्द को ज्यों-का-त्यों उपयोग में लाते हैं। अंग्रेजी शब्द भी संस्कृत के 'नाम' शब्द से ही व्युत्पन्न है। जापानी जीवन-पद्धति—मितव्ययी, साधारण जीवन-यापन तथा उच्च-विचार—भी उनकी प्राचीन हिन्दु जीवन-पद्धति से उद्भूत है। उनके प्रश्न-वाचक उपसर्ग 'का' का स्रोत संस्कृत के प्रश्नवाचक उपसर्ग 'किम्' से है। भारतीय वर्णों की ध्वनियों पर आधारित एक निषि का आंशिक उपयोग भी जापानी लोग करते हैं।

इस प्रकार, हमने पृथ्वी के प्रायः एक छोर से दूसरे छोर तक शीघ्रता से बिना संदेह सन्तरे सर्वज्ञान में भी इस बात के बहुत सारे प्रमाण देख लिए कि भारतीय वैदिक संस्कृति ने पृथ्वी के लगभग सभी भागों को परिव्याप्त कर रखा था। यह कैसे सम्भव हुआ—इस बात पर आश्चर्य हो सकता है। यह अत्यन्त ही प्रचार-प्रसार, इन अदृश्य उत्साह वाले हिन्दुओं की भावनाओं

के कारण सम्भव हो पाया था जिन्होंने एक अति प्रखर दार्शनिकता का विकास किया था, जिन्होंने प्रगतिशील संस्कृति को जन्म दिया था, जिन्होंने अपनी खोजों से चिर नवीन अभिजापार्ण उन्नत की थीं, एवं विश्व के अन्तिम छोर तक अपने ज्ञान का विस्तार मुक्त भाव से किया था।

इस लक्ष्य को दृष्टि में रखकर उनके सैनिकों ने सैनिक-चौकियाँ स्थापित कीं, वैज्ञानिकों ने अध्ययन-केन्द्र चालू किये, और प्रशासकों ने शान्तिपूर्ण, लोकतान्त्रिक समाजों को संगठित किया। इसके साथ-ही-साथ सभी लोगों को शान्ति, न्याय एवं स्वाधीनता सुलभ व सुनिश्चित करने के लिए सभी व्यवस्था को नैतिक सन्तोष व दार्शनिक रूप पुरोहिती आदेशों ने प्रदान किया।

बल्ख में नव-विहार की भाँति वे सांस्कृतिक केन्द्र विहार कहलाते थे। साइबेरिया और मंगोलिया जैसे विश्व के सुदूर भागों में ऐसे अनेक विहार उपलब्ध हो चुके हैं।

इनको बौद्ध-विहार विश्वास करना गलती होगी। बुद्ध ने कभी किसी पृथक् धर्म अथवा सम्प्रदाय की स्थापना नहीं की। सम्पूर्ण विश्व में स्मरणीयता युगों से हिन्दू अथवा वैदिक विहार स्थापित किये जा चुके थे। जब भारत में बुद्ध ख्यातिप्राप्त व्यक्ति हो गये तब बुद्ध के नाम पर सर्वत्र फैले असंख्य विहारों के माध्यम से, हिन्दू धर्म के वही युगों पुराने सिद्धान्तों की पुनः व्याख्या तथा उनका प्रचार किया गया—ठीक उसी प्रकार से, जिस प्रकार से हम अपने ही समय में देख रहे हैं कि परम्परागत मान्यताओं, धारणाओं, सिद्धान्तों के साथ श्री गांधी और श्री नेहरू का राम उन विचारों को नया बल तथा नया रूप देने के लिए जुड़ गया है। समय व्यतीत होते-होते जब हिन्दू राजधानियों का पतन हो गया और विश्व भर में बिखरे पड़े सांस्कृतिक केन्द्रों में धन और सुविज्ञ प्रचारकों की कमी हो गयी, तब भारत से सभी सम्बन्ध तथा सम्पर्क टूट गये। चूँकि बुद्ध का नाम उन विभिन्न भारतीय सांस्कृतिक केन्द्रों में प्रेरणा का नवीनतम स्रोत था, अतः उसकी छाप तो शेष रह गयी, किन्तु भारत में हुई राजनीतिक उथल-पुथल के कारण वैदिक-संस्कृति का स्रोत सूख गया।

अतः बुद्ध-विहार दीख पड़ने वाले, वास्तव में, विभुद्ध भारतीय



सांस्कृतिक केन्द्र ही है। हिन्दू-वैदिक सांस्कृतिक ज्वार जिसने विश्व भर को जलज्वारित किया था, समस्त विश्व में स्थापित भारतीय सांस्कृतिक केन्द्रों में बुढ़ की स्मृतियाँ सजग छोड़कर उतर गयीं। अतः यह विश्वास करना इतिहास की एक भयंकर भूल होगी कि बौद्धमत को इतनी विनिष्टता अथवा प्रसिद्धि प्राप्त हो गयी थी कि विश्व भर में उसके प्रचार-केन्द्र स्थापित किये गये। सत्य बात तो इसके बिल्कुल विपरीत है।

यह प्रगतिशील वैदिक दार्शनिकता, जिससे सैनिकों, वैज्ञानिकों, प्रशासकों, विद्वानों, पुरोहितों तथा प्रचारकों को विश्व के चारों कोनों में अपना ध्वज, ज्ञान, सेवा, और अन्वेषणों को ले जाकर अन्य लोगों को लाभ-ज्वित करने की प्रेरणा दी, संस्कृत के निम्नलिखित श्लोक में संग्रहीत है—

“अथतस् चतुरो वेदाः पृष्ठतस् सशरम् धनुः,

इदम् क्षात्रम् इदम् ब्रह्मः शापादपि शरादपि।”

जिसका अर्थ है कि, “हम चारों वेदों का ज्ञान लेकर चलते हैं, उनके पीछे निष्ठ-अनुव-बाण हैं। सत्य बात लोगों को बताने के लिए तथा, आवश्यक हो तो, शक्तिपूर्वक उसको व्यवहार में लाने के लिए—हम शाप से काम लेते हैं—शक्ति से भी। शाखतेज व ब्रह्मतेज, हम दोनों के पुजारी हैं।”

साधार ग्रन्थ-भूची

(१) न्यू इण्डियन एन्टीक्वेरी, भाग ७।

(२) ब्रह्मचारी कैलासम की लिखी “ग्लिम्पसिस ऑफ़ मलायन हिन्दी।”

(३) पतालिस, मलाया की दिव्य जीवन समाज द्वारा प्रकाशित ‘धर्म’ नामक त्रैमासिक पत्रिका के अंक।

(४) बिजू चमनजाल की लिखी ‘हिन्दू-अमरीका’ पुस्तक।

भयंकर भूल : क्रमांक—१७

## प्राचीन विश्व-भाषा के रूप में संस्कृत को भुला दिया गया

आज के ऐतिहासिक विचार-युग में प्रचलित अनेक भ्रान्त धारणाओं में से एक अत्यन्त प्रभावकारी धारणा विश्व-इतिहास में संस्कृत भाषा का स्थान विस्मरण करने से सम्बन्ध रखती है। आधुनिक मानव स्रष्टाः भूल गया प्रतीत होता है कि मानव-स्मरण शक्ति में कदाचित् संस्कृत ही इतने व्यापक रूप में व्यवहार में प्रयुक्त हुई है कि केवल इसी को विश्व-भाषा की संज्ञा से विभूषित किया जा सकता है, किन्तु विडम्बना यह है कि अनेक ऐसे ‘आधुनिक’ विद्वान् मिल जाएँगे जिनको सन्देह होता है कि विश्व-भाषा होना तो दूर, क्या संस्कृत बोल-चाल की भाषा के रूप में सर्व भारत में भी प्रयोग में सचमुच आयी थी।

भारत का सम्पूर्ण प्राचीन साहित्य केवल मात्र संस्कृत भाषा में ही होना इस बात का प्रबल प्रमाण है कि केवल मात्र संस्कृत भाषा ही एक ऐसी भाषा थी जो सम्पूर्ण भारत में सुबोध रूप में बोली व समझी जाती थी। साहित्य के अतिरिक्त सभी अनुदान, आदेश, निषेधाज्ञाएँ, अध्यादेश तथा वाद-विवाद, गोष्ठियाँ, प्रतियोगिताएँ एवं परिसंवाद भी संस्कृत में ही होते थे। पाठ्य-पुस्तकें संस्कृत में ही होने के कारण शिक्षा भी संस्कृत में ही थी। सभी धार्मिक प्रवचन, प्रार्थनाएँ, शपथें, तथा उपदेश संस्कृत में ही थे। विज्ञान अथवा कला का ऐसा कोई भी क्षेत्र न था जिसकी पुस्तकें संस्कृत में ही न हों। इस प्रकार हम देखते हैं कि सम्पूर्ण भारतीय ज्ञान व शिक्षा असंदिग्ध रूप में तथा एकमेव संस्कृत भाषा में ही थी, चाहे वह ज्योतिष, लग्नोत्त, औषध, आधिभौतिक, मनोविज्ञान, तर्क, नैतिक-दार्शनिकता, विधि, प्राणि-



शास्त्र, कोटशास्त्र, भौतिकी, इतिहास, भूगोल, चित्रकला, शिल्पकला, स्थापत्यकला, सांख्यिकी अथवा गणित किसी से भी सम्बन्ध रखती हो। नृत्य, गीति-नाट्य और संगीत—सभी प्रकार का मनोरंजन केवल संस्कृत भाषा के माध्यम से होता था। जन्म, मरण, अथवा गृह-प्रवेश—सभी धार्मिक-कृत्य संस्कृत और केवल संस्कृत भाषा में ही सम्पन्न होते थे। इससे भी अधिक उल्लेख योग्य बात यह है कि सभी साहित्य धारावाहिक संगीत-मय काल में ही है।

इस अकाट्य प्रबल प्रमाण के होते हुए भी कोई व्यक्ति किस प्रकार हठ करता हुआ कह सकता है कि संस्कृत भारत में बोलचाल की भाषा नहीं रही है। कथ्य यह है कि पिछले अनादि काल की अनेक शताब्दियों से संस्कृत भाषा का राष्ट्र-मुष्टिकारी गुण इतना प्रभावी रहा है कि आज एक राष्ट्र के रूप में हम इसके कारण सुबद्ध दिखायी देते हैं। यह हमारे रक्त में, हमारे नामों में, घरेलू रीति-नीतियों में, कृत्यों-अनुष्ठानों में, रूपों तथा परम्पराओं में व्याप्त है। वह स्थिति सदैव बनी रहनी सम्भव प्रतीत नहीं होती, क्योंकि आज वह स्नेह-तन्तु शिथिल, शिथिलतर तथा कमजोर पड़ता जा रहा है।

जब प्राचीन भारत में मानव के सभी कार्य-कलाप घर से श्मशान तक मुकुट से राजमहल तथा मन्दिर तक, न्यायालय से धर्मार्थ भवन तक, जन्म से मरण तक, सूर्योदय से सूर्यास्त तक, मनोरंजन से उपदेश तक, पाठशाला की शिक्षा से लेकर गति-संगत कार्यक्रमों तक तथा मनोविनोद से आधि-भौतिक बट-विवाद तक संस्कृत भाषा के अतिरिक्त अन्य किसी माध्यम से होते ही नहीं थे, जब यह सिद्ध करने के लिए और कौन-सा प्रमाण चाहिये कि पिछली शताब्दियों में भारत में जन-मानस के प्रयोग की भाषा, नित्य-व्यवहार की भाषा संस्कृत और केवल संस्कृत ही थी।

प्राचीन काल में नालन्दा और तक्षशिला जैसे विशाल शिक्षा केन्द्रों का होना, जहाँ विश्व भर के हजारों विद्यार्थी शिक्षा-ग्रहण करते थे और पर्यायवाची शब्दों के विज्ञान कोषों (उदाहरणार्थ अमर कोष), भारतीय विद्वान्त-सौम्यी जाति जैसे सन्त-सन्तों का सम्पादन होना प्राचीन भारत

की राष्ट्रीय भाषा तथा मातृभाषा के रूप में संस्कृत भाषा का अद्भुत साम्राज्य होने का प्रबल प्रमाण है।

इसी काल में संस्कृत विश्वभाषा भी थी—इस बात को स्वीकार करने के लिए हम आज के संसार पर अथवा कुछ समय पूर्व के संसार पर एक विहंगम-दृष्टिपात कर लें, तो लाभ होगा।

हम ब्रिटिश लोगों का उदाहरण लें। अठारहवीं-उन्नीसवीं तथा बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक काल में उनका साम्राज्य विश्व के एक बहुत बड़े भाग में फैला हुआ था। परिणामस्वरूप कनाडा, भारत, चीन, आस्ट्रेलिया, अफ्रीका तथा अन्य अनेक क्षेत्रों में अंग्रेजी भाषा व्यापक रूप में व्यवहार में आने लगी।

इसी प्रकार, डच, फ्रेंच तथा पुर्तगाली भाषाएँ भी वहाँ-वहाँ फैलीं जहाँ-जहाँ उन राष्ट्रों की विजय-दुन्दुभि गूँजती गयी। इस प्रकार, ध्यान देने की बात यह है कि भाषा के विस्तार की पूर्व-शत सैनिक विजय है। भारतीय महाकाव्य महाभारत तथा पुराणों में विश्व भर में भारतीय-विजयों (दिग्विजयों) के विपुल सन्दर्भ हैं। इनमें उल्लेख किये गये राष्ट्र व क्षेत्र आज भी पहचाने जा सकते हैं। उनकी सैनिक-विजय सभी प्रकार की उल्लेख योग्य बड़ी हुई तकनीकी जानकारी से युक्त, पूर्णतः शस्त्र-सुसज्जित उस चतुरंगिणी सेना की सहायता से सम्भव हुई थी जिसमें पदाति, पशु याहिनी (गज व अश्व सेना) और वह टुकड़ी सम्मिलित थी जो जल-चल में समान द्रुत-गति से नौकाओं तथा अन्य वाहनों पर जा सकती थी। वायु-यानों, निदिष्ट प्रक्षेपास्त्रों तथा वायुयानों से गिराए जाने वाली अन्य सामग्री से युक्त होती थी।

इस स्थल पर पाठक का ध्यान एक बहु-प्रचलित, किन्तु ऐतिहासिक भ्रामक धारणा की ओर आकृष्ट करना आवश्यक है। बहुधा, पूर्ण गंभीरता से यह मान लिया जाता है कि प्राचीन भारत ने किसी मोहिनी माया से एक झलक-भर विश्व को दिखायी और उसी माया से उसकी सीमाओं पर के देश उसको प्रेम से देखने लगे, उसकी भाषा संस्कृत का मान करने लगे तथा वह विश्व भर में प्रसिद्ध हो गयी। ऐसी कोई बात कभी होती नहीं। एक देश की भाषा दूसरे देश में सैनिक-विजय तथा फलस्वरूप प्रशासनिक



विद्वत्क के पश्चात् ही फैलती है। अतः यदि सैनिक-विजय के प्रामाणिक ज्ञान सञ्चय कृत भी हो सके ही, तो भी एक देश पर अन्य देश का भाषायी-प्रभाव उसके माताजीव-प्रभाव का निश्चित प्रमाण है। भारत की स्वतन्त्रता-प्रमाण उसी समृद्ध-प्राचीन संस्कृत की परम्परा के होते हुए भी आज प्रायः तथा उसी समृद्ध-प्राचीन संस्कृत की परम्परा के होते हुए भी आज भारत में अंग्रेजी भाषा से चिपके रहने के कारण यह निष्कर्ष स्वतः निकाला जा सकता है।

हो सकता है कि अपनी सैनिक-विजयों के पश्चात् भी भारत के प्रति स्नेह व आदर विश्व इसलिए प्रदान करता रहा है कि भारत ने विजेता व विजित के मध्य कभी कोई भेद नहीं किया। भारत की प्रत्येक मनुष्य को परिपूर्ण नागरिक मानने की सैनिक-दार्शनिकता के कारण ही विश्व ने उसकी सराहना की है। राष्ट्रीयता अथवा जाति के कारण भारत ने कभी भेद-भाव नहीं किया। इसका निर्णय इस तथ्य से भी किया जा सकता है कि कभी कुछ समय पूर्व तक यद्यपि प्रत्येक आधुनिक राष्ट्र में दास-प्रथा प्रचलित थी, तथापि भारत ने कभी उसे सहन नहीं किया और न ही कभी उसकी अनुमति दी।

प्राचीन काल में भारतीय शासन व संस्कृत भाषा के विश्व भर में फैलने का एक अन्य काल में समकालीन सहायक तत्त्व अंग्रेजी का "लैंड" शब्द है। विश्व के एक विशाल भू-खंड पर ब्रिटिश-राज्य की चकाचौंध के दिनों में अनेक स्थानों के नाम अंग्रेजी में पड़ गये; यथा आइसलैण्ड, ग्रीनलैण्ड, युक्राना-लैण्ड, सोमालीलैण्ड, ईस्टइंडीज, वेस्ट इंडीज, न्यूयार्क, न्यूजीलैण्ड आदि। इसका अर्थ यह है कि जो कोई विश्व (या इसके बड़े भू-भाग) पर राज्य करता है, उस विशाल भू-भागों को अपने नाम दे देता है। इस सिद्धान्त के प्रकाश में यदि हम सिद्ध कर पाएँ कि प्राचीन भूगोल में संस्कृत नाम प्रमुख रूप में प्रचलित थे, तो हम यह स्वतः सिद्ध कर चुके होंगे कि भारतीय राज्य-शासन बाहर भी था तथा संस्कृत विश्व के अनेक भागों में फैली हुई थी।

प्राचीन भूगोलीय-मानचित्र पर दृष्टि डालने से हमें बलुचिस्थान, लज्जानिस्थान, बर्बुलस्थान, बरीचिस्थान, कुदिस्थान, अबस्थान (आधुनिक अंग्रेजवा), तुरगस्थान (आधुनिक तुर्की), शिवस्थान तथा अनेक ऐसे ही नाम मिलते हैं। ऊपर दिये नामों में उपसर्ग "स्थान" अंग्रेजी शब्द "लैण्ड"

का समानक है। इरानम् (आधुनिक ईरान) और इराक पानी के द्योतक संस्कृत धातु "इरा" से व्युत्पन्न है। संस्कृत शब्दकोश में 'इरानम्' की परिभाषा "लवणयुक्त, निर्जल प्रदेश" है। वस्तु संस्कृत शब्द 'वाङ्मीक' का अपभ्रंश रूप है। कान्धार संस्कृत में मूलतः 'गान्धार' था।

यूनानी शब्द 'थेओडोरस' और 'थेओडोरो' देव-द्वार (देवता का दरवाजा अर्थात् मन्दिर का दरवाजा) का अपभ्रंश रूप है। मेडिटरेनियन संस्कृत शब्द है क्योंकि 'मेडि' संस्कृत का "मध्य" (केन्द्र या बीच) और 'टेरा', 'धरा' शब्द हैं। धरा के मध्य में होने के कारण ही कदाचित् मेडिटरेनियन नाम पड़ गया है।

अब 'नव-बहार' नाम से पुकारा जाने वाला प्राचीन बल्ख क्षेत्र में 'नव-विहार' तथा ईरान में निशापुर संस्कृत नाम हैं। आधुनिक परगिया का संस्कृत मूल 'पारसीक' शब्द है।

इस्लाम की धार्मिक-शब्दावली का अधिकांश संस्कृत-मूलक है। अल्लाह शब्द संस्कृत में देवी का पर्याय है। भारतीय उपनिषदों में से एक उपनिषद् "अल्लोपनिषद्" है। यहाँ तक कि स्वयं "या अल्लाह" शब्द ही पूर्णतः संस्कृत का है जैसा कि नीचे दी गई देवी सरस्वती-वन्दना से स्पष्ट है—

"या कुन्देन्दु तुषार हार धवला,

या शुभ्र वस्त्रावृता

या वीणा वरदण्डा मञ्जिताकरा

या ज्वेता पद्मासना"

लैटिन और फ़ारसी संस्कृत की बोलियाँ हैं। फ़्रेंच और अंग्रेजी संस्कृत शब्दों, धातुओं और भाषा-रूपों से भरी पड़ी हैं। "अमौरल" (अनैतिक-अर्थ-द्योतक अंग्रेजी शब्द) का नकारात्मक 'अ' उपसर्ग का प्रयोग स्पष्टतः संस्कृत-पद्धति ही है। अंग्रेजी शब्दान्त 'स्ट्री' यथा; 'डेन्टिस्ट्री, कैमिस्ट्री आदि में, संस्कृत शब्द 'शास्त्र' से व्युत्पन्न है, जिसका अर्थ विज्ञान या ज्ञान की शाखा है। 'डन्त' और 'मृत्यु' जैसी धातुओं से बनने वाले डेन्टल, डेन्टिस्ट्री तथा मोटेल, मोर्चुअरी मोग, पोस्ट मार्टम आदि शब्द संस्कृत ही हैं। परिधान के लिए वेस्चर (वेस्टर) शब्द संस्कृत का 'वस्त्र' ही है। डोर (डार), सेम (नाम) सामान्य शब्द संस्कृत के ही हैं। संख्या-अंक 'टु' (दो), थि (दोइका,



द्विपारदाइट, द्विपीट) संस्कृत शब्द 'वि' पर आधारित है। ओर (चत्वारः), फाइव (पञ्च संस्कृत में), हमें, पैंटागोन, पैंटोकोस्टल, सिक्स (संस्कृत में षट्), सेवन (सप्त), एट (अष्ट), नाइन (नव), टेन (दश) हमें डेसीमल, ट्विंटे जैसे शब्द प्रदान करता है। ग्रीन संस्कृत का कोण है। किस-मस बिबेड जैसे शब्द प्रदान करता है। महीने को संस्कृत में 'मास' वास्तव में क्वाड्रन्ट-मास क्वाड्रन्ट का महोत्सव है। महीने को संस्कृत में 'मास' कहते हैं। पैर का अर्थ द्योतक संस्कृत शब्द हमें बाइ-पद, सैंट्री-पद, पदैजिक्स तथा हाइपद जैसे शब्द उपलब्ध कराता है। पैंडेस्टियन शब्द लगभग बिशुद्ध संस्कृत शब्द है जिसकी व्याख्या संस्कृत में "पदैश चरति इति पदचरः" है, वजन की द्योतक 'भार' धातु लैटिन में 'बरस' शब्द में बदल जाती है और हमें उससे बैरोमीटर, बैरिस्फियर जैसे शब्द मिल जाते हैं। रालि के अर्थ द्योतक संस्कृत शब्द 'नाक्तम्' से अंग्रेजी नाइट, जर्मन नाक्त तथा नाक्तरमल शब्द बनते हैं। अंग्रेजी शब्द पैंडेस्टल प्रायः संस्कृत के मूल रूप 'पद-स्थल' में ही है। राजा, रानी, ईश्वर, घुटने तथा सर्प के अर्थ-द्योतक फ्रीच शब्द राय, रैनी, रेल, जनऊ नाम सभी संस्कृत शब्द हैं। नीला अर्थात् नील संस्कृत-शब्द का अपभ्रंश-रूप ही 'नाइल' नदी है। इसीलिए यह नीली नाल कहलाती है। ग्रीनलैंड में, रिजेंदार का द्योतक संस्कृत शब्द 'सम्बन्धी' अपने मूल रूप में प्रयुक्त होता है। अफ्रीका में शेर का द्योतक सिब शब्द संस्कृत का 'सिंह' है। नातवी भाषा पाणिनि के संस्कृत-व्याकरण पर आधारित है। उनकी राजधानी 'ऋग्' ही 'ऋग्वेद' शब्द की मूल धातु है। अफ़ग़ानिस्तान की भाषा पश्तो संस्कृत की बोली उसी प्रकार है जिस प्रकार जाईनेज़ की भाषा सिथामी संस्कृत की एक बोली है। जर्मन भाषा में नज़ाओं का कारण-कारण संस्कृत नमूने पर ही पूरी तरह आधारित है।

संस्कृत-भाषी भारतीयों द्वारा निर्धारित सोमवार से रविवार तक का साप्ताहिक क्रम ही विश्वभर में माना जाता है। पिछले विश्व में नया वर्ष मार्च-अप्रैल में ही प्रारम्भ होता था जैसाकि अभी भी भारत तथा फ़ारस में है। सितम्बर, अक्तूबर, नवम्बर, दिसम्बर मासों के नाम भी संस्कृत के सप्तम, अष्टम, नवम और दशम अर्थात् सातवें, आठवें, नवें, दसवें मासों पर निर्भर हैं। 'मित्रास' देवता, जो प्राचीन विश्व में पूजा जाता था, 'मित्र'

अर्थात् हिन्दुओं का सूर्य-देवता है। स्कण्डनेविया सोढ़ाओं का गृह 'स्कन्ध नाभि' है।

ऊपर कुछ उदाहरण मात्र हैं जो, हमें आशा है कि, पाठक को विश्व पर संस्कृत के व्यापक प्रचार-प्रसार की बात मान लेने के लिए पर्याप्त होंगे।

यह हमको पश्चिमी इतिहासकारों द्वारा प्रारम्भ की गई विश्व इतिहास की एक अन्य भ्रान्त धारणा पर ले आती है। वे मानते रहे हैं कि भारो-जर्मन भाषाएँ किसी अन्य जनक भाषा से व्युत्पन्न हैं। यदि ऐसा है, तो हमारा प्रश्न है कि वह भाषा कहाँ है? वह कौन-सी भाषा है? विश्व के किस भाग में वह बोली जाती है? इसका उनके पास कोई उत्तर नहीं है। उनकी धारणा है कि वह जनक भाषा समूल नष्ट हो गयी है। गलत आधार-भूत धारणाओं के कारण यह एक अयुक्तियुक्त निष्कर्ष है।

"इस जनक-भाषा को बोलने वाले कौन लोग थे?" पूछे जाने पर उनका उत्तर कदाचित् यह है कि वे लोग 'आर्य' थे। किन्तु हम पूर्व अध्याय में इस आर्य-जातिगत समस्या पर पहले ही विचार कर चुके हैं तथा इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि 'आर्य' कोई जाति न होकर केवल मात्र आदर्श ही था। इससे पाठकों को निश्चित हो जाना चाहिये कि किसी जनक-जाति तथा संस्कृत भाषा के अतिरिक्त अन्य जनक-भाषा का विचार करना भ्रामक धारणाएँ-मात्र हैं।

इसके अतिरिक्त, हम इससे पूर्व एक अध्याय में पहले ही सिद्ध कर चुके हैं कि वेद स्मरणातीत युगों, लाखों वर्ष पूर्व के हैं। चूँकि वेदों की भाषा संस्कृत है, और समस्त विश्व में व्यवहार किए जा रहे ये संस्कृत धातु-शब्द तथा रीति-रिवाज ही हैं, अतः यह तो स्पष्ट ही है कि इस विशाल प्राचीन विश्व-परम्परा का आदि जनक भारत ही है। जैसा पहले ही देखा जा चुका है, विश्व की चारों दिशाओं पर दृष्टिपात ही हमें दर्शाता है कि विश्व के अधिकांश भाग पर अंग्रेजी शब्द, नाम तथा रीति-रिवाज तभी तो फैले जबकि अंग्रेजों ने उस विशाल क्षेत्रों पर राज्य किया था। इस प्रकार, संस्कृत भाषा का विश्व-व्यापी प्रसार तबतक सम्भव न हुआ होता जबतक कि भारतीयों ने विश्व पर अपना साम्राज्य तथा प्रभुत्व स्थापित न किया होता। सैनिक-विजयों के माध्यम से ही किसी देश की भाषा-संस्कृति, रीति-नीति



## भारतीय इतिहास की भयंकर भूलें

२४०

का अन्य देश में प्रचार-प्रसार हो पाता है। ईसा मसीह और पैगम्बर मोहम्मद से शताब्दियों पूर्व भारतीयों ने विश्व के अनेकानेक भागों पर शासन किया था, यह तथ्य भी दिग्विजयों के प्राचीन भारतीय इतिहासों से स्पष्ट होता है। पहले ही एक अध्याय में हम इस बात का प्रमाण दे आए हैं कि अर्सेनिया पर विक्रमादित्य का राज्य-शासन रहा है। अन्य प्रमाण समनी साम्राज्य का अस्तित्व है। मुहम्मद कासिम, महमूद गजनवी और मुहम्मद गौरी के आक्रमणों की चर्चा करते हुए प्रारम्भिक अरब-तिथिवृत्त लेखकों ने भारतीयों को 'समनी' ही कहा है। यह एक अन्य प्रमाण है कि समनी-साम्राज्य भारतीय सत्रियों का साम्राज्य ही था। इस्लाम में बलात् धर्म परिवर्तित वे भारतीय शासक शताब्दियों व्यतीत हो जाने पर अब अन्य देशों की भाँति देखे जाते हैं।

"पश्चिमी एशिया पर भारतीय सत्रियों का शासन था"—यह तथ्य इराक के तत्कालीन शासक बरमकों तथा आधुनिक शासक पहलवियों की पैतृक-परम्परा को खोज लेने से सिद्ध किया जा सकता है। रामायण एवं महाभारत में पहलवियों का उल्लेख भारतीय-कुल के रूप में किया गया है। बरमक लोग (बल्लभ में नव-विहार के प्रमुख पुरोहित) परमक थे—एक संस्कृत शब्दावली जो चल पड़ी—और इराक के ऊपर राज्य करते रहे।

सभी भाषा में संस्कृत-शब्दों की विद्यमानता, असंख्य विहारों (अर्थात् सांस्कृतिक-ग्रामिक केंद्रों) का समस्त रुस और मंगोलिया में भी जाने वाली खुदाइयों में मिलकर प्रकाश में आना, तथा यूरोप और एशिया के विशाल क्षेत्र में संस्कृत अभिलेखों तथा अग्नि-मन्दिरों का मिलना इस बात का स्पष्ट संकेतक है कि विश्व के अनेक भागों में अनेक शताब्दियों तक भारतीय धार्मिक विचार तथा उसके फलस्वरूप प्रशासन भी हुआ है। इसके कारण ही विश्वभर में संस्कृत भाषा, रीति-रिवाज तथा संस्कृत का व्यापक विस्तार हुआ।

चूँकि संस्कृत के मुख वाङ्मय-ग्रन्थ वेद स्मरणातीत युग के हैं, और चूँकि वे तथा संस्कृत भाषा केवल मात्र भारत की परम्परा हैं, अतः पाठकों को स्पष्ट हो जाना चाहिये कि प्राचीनतम भाषा (संस्कृत) और (वैदिक) संस्कृति, जो आज ज्ञात है, भारतीय ही है। योरियन और अमोरियन जैसे

## भारतीय इतिहास की भयंकर भूलें

शब्द सुर और अमुर शब्दों से व्युत्पन्न हैं क्योंकि यूनानी भाषा में 'ई' 'उ' का कार्य करती है। "माली" और "सुमाली" शब्द जो अब दो अफ्रीकी राज्यों के नाम हैं, रामायण में मिलते हैं। प्राचीन विश्व का यह संक्षिप्त सर्वेक्षण पाठकों को विश्वास दिला सकने के लिए पर्याप्त होना चाहिये कि संस्कृत भाषा, न केवल समस्त भारत में, अपितु लगभग सारे विश्व में ही बोलचाल की भाषा रही है। यह विश्व की अधिकांश भाषाओं की आदि-स्रोत रही है तथा इसने अन्य भाषाओं को सम्पन्न तथा समृद्ध किया है।

२४८

## भारतीय इतिहास की भयंकर भूलें

में मिली गुफा के बाद इतिहासकारों और पुरातत्त्ववेत्ताओं को भारतीय इतिहास के विभिन्न युगों के पुनर्निर्धारण की नयी प्रेरणा मिलेगी।"

## आधार ग्रन्थ-सूची

(१) दि कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, वाइ ई० जे० रेप्सन। (२) दि आक्सफोर्ड स्टुडेंट्स हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, वाइ विन्सेंट ए० स्मिथ। (३) दि एज ऑफ बुद्ध मिलिंद एण्ड आस्तिक्योक एण्ड गुग पुराण, वाई कोटा वेंकटाचलम्। (४) इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, वाल्यूम-६। (५) गौतम दि बुद्ध, वाइ केनय सौण्डर्स, १९२२ का संस्करण। (६) अत्रिय क्लान्स इन इण्डिया, वाइ विमलाचरण लॉ। (७) कमेन्ट्री ऑन दि अमरकोष, वाइ भरत। (८) राजतरंगिणी, वाइ कल्हण। (९) ए रिकार्ड ऑफ बुद्धिस्टिक किराडम्स, वाइ फ्रायडान, ट्रान्सलेटेड वाइ जेम्स लेग। (१०) बुद्धिस्ट इण्डिया वाइ रीस डेविड्स। (११) लाइफ ऑफ गौतम, वाइ थिजप विगण्डेट। (१२) ऐसोटेरिक बुद्धिज्म, वाइ ए० पी० सिन्नेट, १९०३ का संस्करण। (१३) हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, वाइ मैक्समूलर। (१४) हिस्ट्री ऑफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर, वाइ म० कृष्णमाचार्य। (१५) डेट्स इन ऐन्थ्रोप हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, वाइ बी० सोमयाजुनु। (१६) इण्डियन आर्किटेक्चर, वाइ ए० व्ही० त्यागराज अय्यर।



भयंकर घुत : क्रमांक—१८

## पैगम्बर मोहम्मद का हिन्दू-मूल भूला दिया गया

पिछले अध्याय में सिद्ध कर लेने के पश्चात् कि 'अल्लाह' एक हिन्दू देवता है और काबा हिन्दू-मन्दिर, अब ऐसा साक्ष्य भी उपलब्ध है जो प्रमाणित करता है कि पैगम्बर मोहम्मद स्वयं ही हिन्दू-रूप में जन्मे थे, और जब उन्होंने अपने हिन्दू-परिवार की परम्परा और वंश से सम्बन्ध तोड़ना और स्वयं को पैगम्बर घोषित करना निश्चित किया, तब संयुक्त हिन्दू-परिवार क्षिप्त-चिन्तित हो गया और हिन्दू-धर्म की रक्षा हेतु हुए कुल-बंद में पैगम्बर मोहम्मद के स्वयं अपने चाचा को भी अपने प्राण गंवाने पड़े थे।

अतः, दूर तक फैले हुए हिन्दुत्व का सुदूर फैले अरेबिया में भी अपना कब्जा था। वहाँ स्वयं हजरत पैगम्बर मोहम्मद के चाचा उमर बिन-ए-हकान ने, जो एक कट्टर हिन्दू व हिन्दू-देवता भगवान् शिव के अनन्य भक्त थे, अपनी धार्मिक भावना की रक्षा हेतु बूढ़ करत हुए अपना जीवन समाप्त कर दिया था।

प्राचीन अरबी भाषा के इतिहास तथा अन्य साक्ष्य के सफल विध्वंस के कारण इतिहासकारों तथा विद्वानों में अज्ञात यह जानकारी 'सैअरुल ओकुल' नामक सुप्रसिद्ध प्राचीन अरबी काव्य-संग्रह में २३५वें पृष्ठ पर मौजूद है। उस पृष्ठ का सार तभी दिल्ली में रोडिंग रोड पर बने लक्ष्मी नारायण मन्दिर (जिसे बहुधा 'बिड़वा मन्दिर' कहते हैं) की वाटिका में यज्ञशाला के ज्ञान पत्थर के शिले पर काली स्थायी में दिया गया है। इच्छुक शहदुआव आकर देख सकते हैं।

उसी यज्ञशाला-सदृश के एक अन्य स्तम्भ पर दिये पृष्ठ-सार के अनु-

भारतीय इतिहास का भयंकर भूल

३४३

सार पैगम्बर मोहम्मद से सहस्रों वर्ष पूर्व हिन्दुत्व का एकाधिपत्य अरेबिया में था। इस पृष्ठ-सार का उल्लेख इसी अध्याय के अन्त में किया जाएगा। तथ्य रूप में पैगम्बर मोहम्मद के समय से स्मरणातीत-पूर्व युगों तक अरेबिया का सम्पूर्ण इतिहास हिन्दू-शासन तथा हिन्दू-पूजा का अक्षय प्रभुत्व रहा है जो सम्पूर्ण अरेबिया व उसके फलस्वरूप पश्चिमी एशिया के सम्पूर्ण क्षेत्रों में व्याप्त रहा। बुद्ध-वाद के उस क्षेत्रों में फैलने के अमम्बद्ध सन्दर्भ वास्तव में इतिहास की अशुद्ध समझ तथा उसकी अशुद्ध व्याख्या के परिणाम हैं। सुदूर फैले हुए क्षेत्रों से भारत के सम्बन्ध समाप्त होने से पूर्व चूंकि बुद्ध ही सर्वप्रसिद्ध हिन्दू होकर चुके थे, अतः बुद्ध की प्रतिमाएँ सर्वत्र लगी हुई दिखायी दी थीं। उसीसे यह भ्रान्त धारणा घर कर गयी कि इस्लाम और ईसाई-धर्मों के फैलने से पूर्व पश्चिमी एशिया तथा यूरोप के कुछ भागों में तो अवश्य ही बौद्ध-धर्म फैल गया था। किन्तु बुद्ध की प्रतिमाएँ केवल इसीलिए लगी थीं कि उनको एक महान् हिन्दू सुधारक समझा गया था, जैसेकि हमारे अपने ही समय में विश्व के विभिन्न भागों में महात्मा गांधी की प्रतिमाएँ स्थापित की गयी हैं।

सम्पूर्ण प्राचीन अरेबिया में हिन्दू-पूजा की विद्यमानता मख-मेदिनी के संस्कृत-नामों से और भी पृष्ठ होती है। आज इन्हें मक्का-मदीना के नाम से पुकारा जाता है। मख का अर्थ यज्ञाग्नि है, मेदिनी का अर्थ है भूमि। अतः, मख-मेदिनी (मक्का-मदीना) शब्द-समूह उस भूमि-खण्ड के द्योतक है जो वार्षिक तीर्थ-यात्रा के अवसर पर होने वाली यज्ञाग्नि का केन्द्र स्थान हुआ करता था। इस्लाम की हज-यात्रा अब एक पृथक् संज्ञा में उसी हिन्दू धार्मिक मेले का चलता रहना ही है।

'हज' शब्द स्वयं भी तीर्थयात्रा के द्योतक संस्कृत-शब्द 'वज' से व्युत्पन्न है। यही कारण है कि संसार का त्याग कर एक धार्मिक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते रहने वाले संन्यासियों को संस्कृत में 'परिव्राजक' कहा जाता है।

अतः यह स्पष्ट है कि काबा के 'भगवान् शिव तथा अन्य ३६० हिन्दू-देवताओं की पूजा के समय होने वाले वेदमन्त्रों, नगाड़ों, मजीरों, घड़ियालों तथा धण्डियों के सुमधुर तुमुल-नाद से मक्का-मदीना गूँजता रहता था।



हिन्दू-धर्म की बचाने के लिए लड़े गए मुंड ने मारे जाने वाले, हजरत मोहम्मद के बाबा का नाम उमर-बिन-ए-हश्शाम था। वे एक सुप्रसिद्ध कवि थे जिसकी भक्त्यात् शिव (महादेव) तथा हिन्दुस्थान की पवित्र भूमि सम्बन्धी सुप्रसिद्ध अरबी कविता मेअरुल-ओकुल काव्य-ग्रन्थ के २३१वें पृष्ठ पर अंकित है। गरी दिल्ली स्थित नरसीनारायण मन्दिर की यादिका में ताल पत्थर के स्तम्भ पर लिखी हुई वह कविता इस प्रकार है—

“कफ़ावितक तिकरा मिन उत्तुमिन तब प्रसेक।

कानुन समानातुल हवा व तजकक ॥ १ ॥

न तजखेरोहा उइन एतलबदए सिलबरा।

बतुकएने जातस्ताहे शीम तब प्रसेक ॥ २ ॥

व अहालोला अजह अरामीमत महादेव ओ।

मनोरोल इलमुहीने मीनहूम व मयत्तक ॥ ३ ॥

व सहबी के शास प्रीम कामिल हिन्दे योगन

व यकुनून न तातहजन फहन्नक तबज्जक ॥ ४ ॥

मध्यमदरे अल्लाकन हसनन कुल्लहूम।

नज्मुन अजा अत मुम्मा अबुल हिन्दू ॥ ५ ॥

इसका अर्थ निम्न प्रकार है—

(१) वह मनुष्य जिसने सारा जीवन पाप व अधर्म में बिताया हो; काम, लोभ में अपने जीवन को नष्ट किया हो।

(२) यदि अन्त में उसको पश्चात्ताप हो और भलाई की ओर लौटना चाहे, तो क्या उसका कल्याण हो सकता है?

(३) एक बार भी अच्छे हृदय से वह महादेव जी की पूजा करे तो धर्म-मार्ग से उच्च से उच्च पद को पा सकता है।

(४) हे प्रभु! मेरा सम्स्त जीवन लेकर केवल एक दिन भारत के निवास का दे दो क्योंकि वहाँ पहुँचकर मनुष्य जीवन-मृत हो जाता है।

(५) वहाँ की सजा से मारे गुनगुनों की प्राप्ति होती है, और आदर्श पुनर्जन्म का सम्भव मिलता है।

“मेअरुल-ओकुल” काव्य-ग्रन्थ में उद्धृत उमर-बिन-ए-हश्शाम की जीवनी तथा कविता से अनेक महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकलते हैं।

यह दर्शाता है कि हिन्दूधर्म और इस्लाम के मध्य प्रारम्भिक लड़ाईयों उसी क्षेत्र में लड़ी गयी थीं जिसे पूर्णरूपेण अस्तुता तथा इस्लाम का चलना कहा जाता है; साथ ही यह भी दर्शाता है कि समस्त अरब-जनता न केवल भगवान् महादेव जी, अपितु सम्पूर्ण हिन्दू देवी-देवताओं की अनन्य उपासक थी।

इसके पश्चात् हम देखेंगे कि अरब लोग भगवान् शिव के अनन्य भक्त ही नहीं थे, जोकि वे अभी भी हैं, क्योंकि वे बाबा में महादेव प्रतिमा को ही श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं, अपितु वे वेदों के उत्सुक गायक भी थे।

उमर-बिन-ए-हश्शाम की प्रशस्ति से हम एक अन्य निष्कर्ष यह निकालते हैं कि जबतक इस्लाम ने यात्रा करने की प्रक्रिया को विपरीत दिशा नहीं दी थी, तबतक सभी अरब-लोग प्रयाग, हरद्वार, वाराणसी, रामेश्वरम् के भारतीय मन्दिरों व अन्य देवस्थानों की यात्रा करने को अत्यन्त उत्सुक रहा करते थे। प्राचीन विश्व के अन्य लोगों की ही भाँति वे लोग भी भारतीय ऋषियों, सन्तों, वेदान्तियों तथा द्रष्टाओं को अपने उपदेशक तथा मार्गदर्शक माना करते थे। उन्हीं लोगों के चरणों में बैठकर अरब लोगों ने देवी-अनुकम्पा और आध्यात्मिक शिक्षा-दीक्षा प्राप्त करने के लिए साष्टांग आराधना करना सीखा।

उमर-बिन-ए-हश्शाम का इतना अधिक मान होता था कि उसके सम-कालीन व्यक्ति उसको अबुल हाकम अर्थात् ज्ञान का पिता कहकर पुकारते थे। इस पवित्र मनुष्य से ईर्ष्या करने वाले उसके सब लोगों ने आगे हुई अराजकता के दिनों में उसे अज्ञान का पिता—अबु जिहान—कहकर उसकी निन्दा की।

उसी प्राचीन अरबी ग्रन्थावली मेअरुल-ओकुल के २१७वें पृष्ठ पर एक अन्य महत्त्वपूर्ण कविता है। इसका रचयिता लबी बिन-ए-अक़तब बिन-ए-तुरफ़ा है। वह पैगम्बर मोहम्मद से २३०० वर्ष पूर्व हुआ था। इतने समय पूर्व भी अर्थात् लगभग १८०० ई० पूर्व भी लबी ने वेदों की अनन्य कात्थमय प्रशंसा की है तथा प्रत्येक वेद का अलग-अलग नामोच्चार किया है।

यह तथ्य, कि वेद ही एकमात्र धार्मिक-पुस्तकें थीं जिनके प्रति १८०० ई० पूर्व भी अरब-लोगों ने अपनी अनन्य निष्ठा व्यक्त की है, न केवल वेदों



की प्रति प्राचीनता सिद्ध करता है, अपितु यह भी सिद्ध करता है कि सिन्धु नदी ने प्रारम्भ कर मध्य सागर तक सभी क्षेत्रों पर भारतीय राज्य शासन का स्वतंत्र इतिहास का सत्य कथन है कि प्रशासनिक नियन्त्रण स्थापित होने पर ही धर्म फैलता है।

इस माध्य के प्रकाश में, पुनेम्को द्वारा प्रकाशित "मानवता का इतिहास" पुस्तक के प्रथम खण्ड, भाग दो में कहा गया यह विश्वास केवल पाठशाला के बच्चों के समान भयंकर भूल प्रतीत होता है कि ऋग्वेद १२०० ई० पूर्व में प्राचीन नहीं हो सकता।

जिन प्रकार, कवि का अपना नाम लबी जिन-ए अख्तर जिन-ए तुरफा बताया गया है, वह प्रकार भी किसी व्यक्ति का अपनी तीसरी पीढ़ी तक परिवार देने की संस्कृत-पद्धति का स्मरण कराने वाला है। इस प्रकार, भारतीय विवाहों तथा अन्य महत्वपूर्ण धार्मिक-कृत्यों में पूजा करने वाले व्यक्ति का नामोन्मेष अमुक का पुत्र व अमुक का पौत्र कहकर ही किया जाता है। भारतीय संस्कृत-परम्परा में पते हुए होने के कारण अरबों ने भी किसी व्यक्ति को उनके पिता व पितामह के मन्दर्भ में कहने की पद्धति को अपना लिया। 'जिन' "का बेटा" का संनिक है। इस प्रकार, लबी अख्तर का पुत्र था, दो स्वयं तुरफा का पुत्र था।

बेटों की प्रशंसा में कहीं कभी इसकी कविता अरबी में इस प्रकार है :

"अमा सुबारेकस अरज सुशये नोहा मिनार हिन्दे।

अ अमादकल्लाह मन्थोनज्जेस जिकरतुन ॥ १ ॥

बहलतबस्तोपतुन ऐनाने सहो अरवे अतुन जिकरा।

बराजैहो योनज्जेतुरमुल मिनस हिन्दतुन ॥ २ ॥

अकल्लुनल्लाहः या अहलस अरज अलमीन फुल्लहुम।

अल्लेबेह जिकरतुन वेर हुक्कुन मालम योनज्जेतुन ॥ ३ ॥

बहोबा अलमुल्नाम अल अदूरमिनल्लाहे तनजोलन।

का लोमा या अन्वीयो मुतवेपन शोबसोरोयोनजानुन ॥ ४ ॥

अदुतनेन हुमागिः अतर नासहीन का-अ-बुवानुन।

अ अमनाम अवाज्जदत व होवा मश-ए-रतुन ॥ ५ ॥

इस कविता का अर्थ मर्यादाबद्ध प्रकार है।

(१) "हे भारत की पुण्यभूमि ! तू धन्य है क्योंकि ईश्वर ने अपने ज्ञान के लिए तुझको चुना।

(२) वह ईश्वर का ज्ञान प्रकाश जो चार प्रकाश स्तम्भों में सद्गुण सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित करता है। यह भारतवर्ष में ऋषियों द्वारा चार रूप में प्रकट हुए।

(३) और परमात्मा समस्त संसार के मनुष्यों को आज्ञा देता है कि वेद, जो मेरे ज्ञान हैं, इनके अनुसार आचरण करो।

(४) वह ज्ञान के भण्डार साम और यजुर् हैं जो ईश्वर ने प्रदान किये। इसलिए, हे मेरे भाइयो ! इनको मानो क्योंकि ये हमें मोक्ष का मार्ग बताते हैं।

(५) और दो उनमें से रिक् अतर् (ऋग्वेद और अथर्ववेद) हैं जो हमको भ्रातृत्व की शिक्षा देते हैं, और जो इनकी शरण में आ गया, वह कभी अन्धकार को प्राप्त नहीं होता।

ऊपर दी गयी दोनों अरबी-कविताएँ इस्लाम पूर्व समय के अरेबिया में सर्वोत्तम पुरस्कार-विजेता तथा मूल्यवान थीं और काबा-देवालय के भीतर स्वर्णाक्षरों में उत्कीर्ण होकर टंगी हुई थीं। उस देवालय के चारों ओर वर्तमान विश्वविद्ध स्मारक मन्दिर था जिसमें ३६० हिन्दू-देवगणों की मूर्तियाँ थीं। इन कविताओं में स्पष्ट रूप में दर्शाया गया है कि अरब लोगों के हृदय में भारत, वेद तथा भगवान् महादेव (शिव) के प्रति और उसी के फल-स्वरूप संस्कृत भाषा तथा भारतीय-संस्कृति के प्रति अनन्य, अगाध धृष्टा इस्लाम-पूर्वकाल में विद्यमान थी।

नालन्दा और तक्षशिला जैसे प्राचीन भारतीय विश्वविद्यालय न केवल चीन देश से आए विद्यार्थियों को मनोरंजन तथा आहार प्रदान करते थे, अपितु अरेबिया तथा इसराइल और कदाचित् मिस्र तक के सुदूर देशों से आये विद्यार्थियों को शिक्षा प्रदान करते थे। लबी भी स्पष्ट रूप से उल्लेख करता है कि मानव-सौहार्द एवं एकात्म भ्रातृत्व के भारतीय सिद्धान्तों में अरब लोगों को प्रेरणा भी ऋग्वेद और अथर्ववेद के अध्ययन से ही मिली थी। एक सम्माननीय प्राचीन अरब-कवि का यह कथन भी सिद्ध करता है







१. भारत का इतिहास  
 २. भारत का भूगोल  
 ३. भारत का साहित्य  
 ४. भारत का कला  
 ५. भारत का धर्म  
 ६. भारत का समाज  
 ७. भारत का अर्थव्यवस्था  
 ८. भारत का विज्ञान  
 ९. भारत का खेल  
 १०. भारत का पर्यटन



५. वी. वेदव्यास १०७५- इन्द्रवज्र, कृष्ण मठ, तारागंगा, नई दिल्ली-५